

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

❊ जन्मदिवस 19–03–1971 ❊ मुनिदीक्षा–11–05–1989 ❊ आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

प्रतिक्रमण एक रहस्यमयी योगसाधना

शोधार्थी
डॉ. साध्वी सौम्यगुणाश्री

प्रकाशक
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूं (राजस्थान)

(परम्परानायक)



परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)



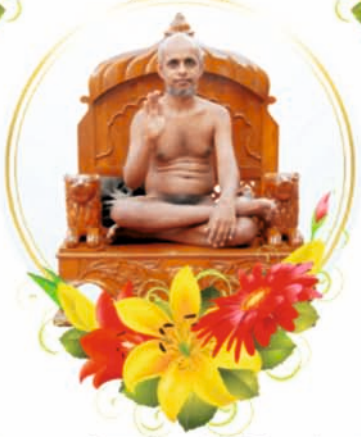
परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)



परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)



परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

प्रतिक्रमण-एक रहस्यमयी योग साधना



सम्बोधिका

पूज्या प्रवर्त्तिनी श्री सज्जन श्रीजी म.सा.
परम विदुषी शशिप्रभा श्रीजी म.सा.





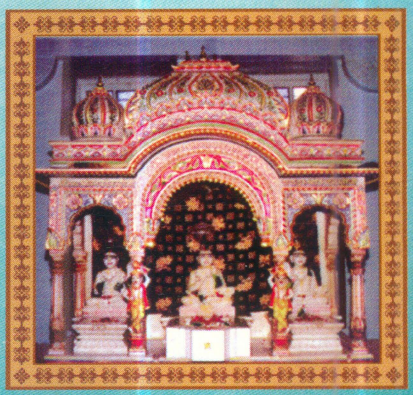
श्री जिनदत्तसूरि अजमेर दादाबाड़ी



श्री मणिधारी जिनचन्द्रसूरि दादाबाड़ी (दिल्ली)



श्री जिनकुशलसूरि मालपुरा दादाबाड़ी (जयपुर)



श्री जिनचन्द्रसूरि बिलाडा दादाबाड़ी (जोधपुर)

प्रतिक्रमण एक रहस्यमयी योग साधना

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर

(डी. लिट् उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)

खण्ड-12

2012-13

R.J. 241 / 2007



शोधार्थी
डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

निर्देशक
डॉ. सागरमल जैन

जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय
लाडनूं-341306 (राज.)

ACHARYA SHRI KAI
SRIMAHAVI

प्रतिक्रमण एक रहस्यमयी योग साधना

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर

(डी. लिट् उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध)

खण्ड-12



स्वप्न शिल्पी

आगम मर्मज्ञा प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.

संयम श्रेष्ठा पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

मूर्त्त शिल्पी

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

(विधि प्रभा)

शोध शिल्पी

डॉ. सागरमल जैन

प्रतिक्रमण एक रहस्यमयी योग साधना

कृपा दीप : पूज्य आचार्य श्री मज्जिन कैलाशसागर सूरीश्वरजी म.सा.

मंगल दीप : उपाध्याय प्रवर पूज्य गुरुदेव श्री मणिप्रभसागरजी म.सा.

आनन्द दीप : आगमज्योति प्रवर्तिनी महोदया पूज्या सज्जन श्रीजी म.सा.

प्रेरणा दीप : पूज्य गुरुवर्य्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

वात्सल्य दीप : गुर्वाज्ञा निमग्ना पूज्य प्रियदर्शना श्रीजी म.सा.

स्नेह दीप : पूज्य दिव्यदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य तत्वदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य सम्यक्दर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य शुभदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य मुदितप्रज्ञाश्रीजी म.सा., पूज्य शीलगुणाश्रीजी म.सा., सुयोग्या कनकप्रभा जी; सुयोग्या संयमप्रज्ञा जी आदि भगिनी मण्डल

शोधकर्त्री : साध्वी सौम्यगुणाश्री (विधिप्रभा)

ज्ञान वृष्टि : डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक : • प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड, शाजापुर-465001
email : sagarmal.jain@gmail.com
• सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड, पालीताणा-364270

प्रथम संस्करण : सन् 2014

प्रतियाँ : 1000

सहयोग राशि : ₹ 100.00

(पुनः प्रकाशनार्थ)

कम्पोज : विमल चन्द्र मिश्र, वाराणसी

कॅवर सेटिंग : शम्भू भट्टाचार्य, कोलकाता

मुद्रक : Antartica Press, Kolkata

ISBN : 978-81-910801-6-2 (XII)

© All rights reserved by Sajjan Mani Granthmala.

प्राप्ति स्थान

1. श्री सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड,
पो. पालीताणा-364270 (सौराष्ट्र)
फोन : 02848-253701

2. श्री कान्तिलालजी मुकीम
श्री जिनरंगसूरि पौशाल, आड़ी बांस
तल्ला गली, 31/A, पो. कोलकाता-7
मो. 98300-14736

3. श्री भाईसा साहित्य प्रकाशन
M.V. Building, Ist Floor
Hanuman Road, PO : VAPI
Dist. : Valsad-396191 (Gujrat)
मो. 98255-09596

4. पार्श्वनाथ विद्यापीठ
I.T.I. रोड, करौंदी वाराणसी-5 (यू.पी.)
मो. 09450546617

5. डॉ. सागरमलजी जैन
प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड
पो. शाजापुर-465001 (म.प्र.)
मो. 94248-76545
फोन : 07364-222218

6. श्री आदिनाथ जैन श्वेताम्बर
तीर्थ, कैवल्यधाम
पो. कुम्हारी-490042
जिला– दुर्ग (छ.ग.)
मो. 98271-44296
फोन : 07821-247225

7. श्री धर्मनाथ जैन मन्दिर
84, अमन कोविल स्ट्रीट
कोण्डी थोप, पो. चेन्नई-79 (T.N.)
फोन : 25207936,
044-25207875

8. श्री जिनकुशलसूरि जैन दादावाडी,
महावीर नगर, केम्प रोड
पो. मालेगाँव
जिला- नासिक (महा.)
मो. 9422270223

9. श्री सुनीलजी बोथरा
टूल्स एण्ड हार्डवेयर,
संजय गांधी चौक, स्टेशन रोड
पो. रायपुर (छ.ग.)
फोन : 94252-06183

10. श्री पदमचन्द चौधरी
शिवजीराम भवन, M.S.B. का रास्ता,
जौहरी बाजार
पो. जयपुर-302003
मो. 9414075821, 9887390000

11. श्री विजयराजजी डोसी
जिनकुशल सूरि दादाबाड़ी
89/90 गोविंदप्पा रोड
बसवनगुडी, पो. बैंगलोर (कर्ना.)
मो. 093437-31869

संपर्क सूत्र

श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत
9331032777
श्री रिखबचन्दजी झाड़चूर
9820022641
श्री नवीनजी झाड़चूर
9323105863
श्रीमती प्रीतिजी अजितजी पारख
8719950000
श्री जिनेन्द्र बैद
9835564040
श्री पन्नाचन्दजी दूगड़
9831105908

समर्पण

जिनका जीवन महोदधि के समान

अतुल, अगाध एवं अपार है।

जिनका आचार धर्म महापुरुषों के समान

अनुकरणीय, अनुमोदनीय एवं अभिवन्दनीय है।

जिनका दिव्य अनुभव देदीप्यमान सूर्य के समान

सत्य प्रकाशक, भ्रम विनाशक एवं संशय निवारक है।

जिनका अध्यात्म चिंतन मंगल प्रभात के समान

नव्य उन्मेषक, रहस्य अन्वेषक एवं तत्त्व विश्लेषक है।

ऐसे

महा मनस्वी, परम यशस्वी, जन जागृति के दिव्य दूत
पूज्य आचार्य प्रवर श्री राजयश सूरीश्वरजी म.सा. के

कर कमलों में श्रद्धापूरित भावों से

सविनय समर्पित

सज्जन अनुभूति के बोल

इस भौतिक दुनियाँ में

पग-पग पर स्वागत करता है, पाप का साम्राज्य

मानव मन में छा रहा है, राग-द्वेष का आधिपत्य

झूठ, माया और चोरी से, मिल रहा सिद्धि और साफल्य

तब

कैसे की जाए Anti-corruption की बात

कैसे होगी आत्म शुद्धि की शुरुआत

कैसे मिलेगा मुक्ति रमणी का साथ

इसीलिए परमात्मा ने दी एक छोटी सी सौगात

जो दिखाएगी समाज से बुराईयों को भगाने का मार्ग

पापों से पीछे हटकर हृदय को निर्मल करने का मार्ग

स्वयं को शुद्ध बनाकर जीवन महकाने का मार्ग

मैत्री भाव को अखिल जगत में फैलाने का मार्ग

उसी सन्मार्ग को प्रकाशित करने हेतु

यह सर्चलाईट....

हार्दिक अनुमोदन

बीकानेर हॉल कोलकाता निवासी

धर्मनिष्ठ श्रावकरत्न

पिता श्री ज्ञानचंदजी-मातु श्री लक्ष्मी देवी

की पुण्य स्मृति में



सुपुत्र

ललित-शीला, गुलाब-नीलम, निर्मल-रेणु,

किरन-अलका, राजकुमार-अर्पणा

सुपुत्री

चन्द्रा-सुनीलजी मुणोत

लाभार्थी कोठारी परिवार

श्रुत सौजन्य के सहभागी
श्री ज्ञानचन्दजी कोठारी परिवार

व्यक्ति का उन्नत आचार, श्रेष्ठ विचार और मृदु व्यवहार सभी दिलों पर अमिट छाप छोड़ देता है। व्यक्ति की यही प्रवृत्तियाँ उसे लोकप्रिय, सुखी एवं गुण समृद्ध भी बनाती है। कलकत्ता जैन समाज का ऐसा ही एक प्रभावी व्यक्तित्व था बीकानेर निवासी श्री ज्ञानचंदजी कोठारी का।

पूज्य गुरुवर्य्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. के सदुपदेशों से प्रभावित होकर आपके जीवन की धारा ही बदल गई थी। जीवन के अन्तिम पड़ाव में आपको मात्र गुरुवर्य्या श्री का ही ध्यान था। आपके परिवार वालों का मानना है कि हमारे परिवार में जो धर्म संस्कारों का पौधा दिखाई देता है उसका बीज तो ज्ञानचंदजी की मातु श्री लक्ष्मीबाई द्वारा डाला गया था परंतु उसमें खाद, पानी एवं रोशनी का कार्य पूज्य गुरुवर्य्या श्री ने किया।

सेवाभावी श्री निर्मलजी कोठारी ने अपने पिता के नक्शे-कदम पर चलकर परिवार की परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखा है। आपकी जन्म स्थली बीकानेर है परन्तु मुख्य कर्मभूमि कलकत्ता ही रही। मानव सेवा एवं समाज उत्थान में आपकी विशेष अभिरुचि है। J.I.T.O., जैन कल्याण संघ आदि संस्थाओं में आप नियमित रूप से सेवा प्रदान करते हैं। स्वाध्याय, प्रभु भक्ति, संत समागम आदि सद्प्रवृत्तियों में जुड़े रहने का सदा प्रयास रहता है। अध्ययन-अध्यापन, साधर्मिक सहयोग आदि कार्यों में आपका योगदान समाज में अनवरत रूप से रहा है। जीवन के सम-विषम मार्गों में निर्मलचन्दजी की अनन्य सहयोगिनी श्रीमती रेणुकाजी कोठारी संयमित एवं परिमित भाषी महिला है। जिनपूजा, सामायिक, स्वाध्याय आदि आराधनाओं का दृढ़ता के साथ पालन करती हैं। आपकी तीन पुत्रियों में भी आपके सद्गुणों का प्रतिबिम्ब स्पष्ट झलकता है।

निर्मलजी कोठारी अपने नाम के अनुसार छल एवं मल रहित जीवन के धारक हैं। संघ समाज में आपकी छवि एक ऐसे ईमानदार व्यक्ति के रूप में है जिसकी साख देने के लिए कोई भी मना नहीं करेगा। ज्ञानार्जन में आपकी विशेष

अभिरुचि है तथा उस क्षेत्र में सहयोग देने के लिए भी आप सदा अग्रणी रहते हैं। ज्ञान ही जीवन एवं राष्ट्र विकास का मुख्य आधार है तथा प्राच्य संस्कृति को चिरस्थायी रख सकता है। इसी सद्भावना के साथ D. Lit हेतु अध्ययनरत, प्रज्ञा संपन्न साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी म.सा. के अध्ययन में सहयोग करने की आपकी प्रबल भावना थी। जब गुरुवर्य्या श्री से अध्ययन सम्बन्धी विषयों की सूक्ष्मता एवं महत्ता को जाना तो आपने उन्हें जन सामान्य में लाने की भावना अभिव्यक्त की।

सज्जनमणि ग्रंथमाला यही हार्दिक कामना करती है कि दादी लक्ष्मीबाई द्वारा रोपा गया यह पौधा वटवृक्ष के रूप में समाज को उत्तम फल एवं छाया प्रदान करें। अन्त में कोठारी परिवार से यही कहेंगे–

नई चेतना, नई स्फूर्ति, नए कर्म का पथ अपनाओ,
अपने सरल आचरण द्वारा, स्वर्ग धरा पर ले आओ,
कोठारी परिवार की कुल गरिमा को, नभ आँगन में तुम पहुँचाओ,
ज्ञान भावों से कर जीवन निर्मल, 'सज्जन' पद को पा जाओ।

●

सम्पादकीय

श्रमणाचार की प्ररूपणा करते हुए जैन आगम ग्रन्थों में षडावश्यक को आवश्यक कर्त्तव्य की संज्ञा दी गई है। षडावश्यकों में चतुर्थ स्थान प्रतिक्रमण आवश्यक का है। आज यद्यपि षडावश्यक प्रतिक्रमण के नाम से ही रूढ़ हो गया है परंतु वस्तुतः प्रतिक्रमण आवश्यक का एक स्वतंत्र अंग है तथा आत्म शोधन एवं दोष विघटन का जीवंत साधन है।

जैन वाङ्मय के अनुसार संयम साधना में प्रमाद या विस्मृति वश किसी प्रकार की स्खलना हो जाए अथवा व्रत आदि का अतिक्रमण हो जाए तो उनकी निंदा एवं आलोचना करना प्रतिक्रमण कहलाता है। प्रतिक्रमण का मूलार्थ है वापस लौट जाना या पीछे हटना।

जैनाचार्यों के अनुसार विभाव दशा में गई हुई आत्मा का अपने स्वभाव में लौट आना ही वास्तविक प्रतिक्रमण है। गहराई से सोचा जाए तो प्रतिक्रमण केवल पाप प्रवृत्ति से पीछे लौटना भी नहीं है अपितु पुनः उस गलती को न दोहराने की संकल्पना भी है। प्रतिक्रमण करते समय प्रत्येक पापवृत्ति के साथ 'तस्स मिच्छामि दुक्कडम्' पद बोला जाता है। सामान्यतया इसका अर्थ होता है– मेरा दुष्कृत् मिथ्या हो'। यह एक तरह का माफीनामा है किन्तु मेरी दृष्टि में इसका वास्तविक अभिप्राय है गलती को गलती रूप में स्वीकार करना और उसकी पुनरावृत्ति न करना।

साधना की संसिद्धि के लिए अपने स्वभाव में लौटना आवश्यक है। इसी कारण प्रतिक्रमण सभी के लिए नितान्त आवश्यक माना गया है।

भगवान महावीर से पूर्व काल तक अपराध या गलती होने पर ही प्रतिक्रमण करने का विधान था परंतु दुषम काल के प्रभाव को देखते हुए प्रभु महावीर ने इस नियम को कठोर बनाया और कहा– अपराध न हो तो भी प्रत्येक साधक को उभय संध्याओं में प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए, क्योंकि साधकों के लिए यह अनिवार्य है। इसी मार्ग पर गमन करके आत्मशुद्धि की प्रक्रिया को पूर्णता की ओर अग्रसर किया जा सकता है।

आवश्यक निर्युक्ति में विविध अपेक्षाओं से प्रतिक्रमण के आठ पर्यायवाची बतलाए गए हैं- प्रतिक्रमण,प्रतिचरण, प्रतिहरण, वारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा एवं शुद्धि।

पूर्वकाल से अब तक यद्यपि प्रतिक्रमण के स्वरूप में बहुत से परिवर्तन आए फिर भी उसका मूल रूप यथावत है। शास्त्रकारों के अनुसार तीर्थ स्थापना होने के बाद सर्वप्रथम आवश्यकसूत्र की रचना होती है। छः आवश्यक रूप प्रतिक्रमण के मूल पाठ इसी सूत्र में गुम्फित है। इसी कारण इस सूत्र का नाम आवश्यक सूत्र है। उत्तराध्ययन सूत्र में षडावश्यक का मूल स्वरूप प्राप्त होता है। पंचवस्तुक में प्रतिक्रमण की मूल विधि का उल्लेख देखा जाता है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में प्रचलित वर्तमान प्रतिक्रमण विधि साधुविधिप्रकाश में प्राप्त होती है।

प्रतिक्रमण, यह पाप विमुक्ति की क्रिया है अतः अन्य धर्म सम्प्रदायों में भी किसी न किसी रूप में यह प्रक्रिया अवश्य विद्यमान होनी चाहिए क्योंकि आत्म विशुद्धि को हर धर्म में प्रमुखता दी गई है।

जैन धर्म की भाँति बौद्ध धर्म में प्रतिक्रमण शब्द का उल्लेख तो नहीं है परन्तु इसके स्थान पर प्रतिकर्म प्रवारणा और पाप देशना शब्द का प्रयोग मिलता है। बौद्ध संघाचार्य शान्तिदेव ने पाप देशना के रूप में दिन और रात्रि में तीन-तीन बार स्वयं के द्वारा कृत दुराचारों की आलोचना करने का निर्देश दिया है। प्रवारणा विधि के दौरान सर्व संघ के समक्ष अपने पापों का स्वीकार किया जाता है। उसकी तुलना जैन परम्परा के पाक्षिक या चातुर्मासिक प्रतिक्रमण से कर सकते हैं।

जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में प्रतिक्रमण के समय आचार नियमों का पाठ किया जाता है तथा नियम भंग या दो, आचरण का पश्चात्ताप भाव प्रकट किया जाता है।

वैदिक परम्परा में संध्या कर्म का विधान करते हुए प्रातःकाल और सायंकाल में आत्म शुद्धि एवं शरीर शुद्धि का ही उपक्रम किया जाता है। संध्या कर्म में मंत्रोच्चार करते हुए साधक संकल्प करता है कि मैं आचरित पापों के क्षय के लिए परमेश्वर की उपासना सम्पन्न करता हूँ। मन, वचन और काया से दुराचरण का विसर्जन करता हूँ। यह प्रतिक्रमण का ही रूप सुविदित होता है। ईसाई धर्म में पादरी के आगे कन्फेशन भी एक तरह का पाप स्वीकार ही है।

इस्लाम धर्म में भी पैगम्बर अबुक्कर ने अपने गुनाह का सौबा (पछानवा) करने हेतु छः आवश्यक चरण बताए हैं जो कि प्रतिक्रमण का ही एक स्वरूप है।

साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी ने जैन विधि-विधानों का परिशीलन करते हुए अनेक गूढ़ विषयों का प्रामाणिक एवं प्रासंगिक विश्लेषण किया है। यद्यपि प्रतिक्रमण पर विविध प्रकार का साहित्य उपलब्ध है परन्तु एक स्थान पर सभी परम्पराओं का तुलनात्मक विवेचन सर्वप्रथम ही जन सामान्य को उपलब्ध हो पाएगा। इसी के साथ प्रतिक्रमण सूत्रों के रहस्य, प्रयोजन, मुद्रा लाभ आदि का वर्णन प्रतिक्रमण क्रिया से त्रियोग पूर्ण जुड़ाव में सहयोगी बनेगा।

साध्वीजी एक गुढान्वेषी एवं कठिन परिश्रमी साधिका है। विनय एवं लघुता गुण के कारण गुरुजनों की कृपा पात्री भी हैं। वे अपनी लगन एवं जिज्ञासा वृत्ति को चिरंजीवी रखते हुए सदा काल श्रुत सेवा में संलग्न रहें तथा अपने अमूल्य अवदानों द्वारा जिनशासन के दीपक में घृत आपूरित करती रहें यह मनोकांक्षा है।

डॉ. सागरमल जैन
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

आशीर्वचन

भारतीय वांगमय ऋषि-महर्षियों द्वारा रचित लक्षाधिक ग्रन्थों से शोभायमान है। प्रत्येक ग्रन्थ अपने आप में अनेक नवीन विषय एवं नव्य उन्मेष लिए हुए हैं। हर ग्रन्थ अनेकशः प्राकृतिक, आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक रहस्यों से परिपूर्ण है। इन शास्त्रीय विषयों में एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है विधि-विधान। हमारे आचार-पक्ष को सुदृढ़ बनाने एवं उसे एक सम्यक दिशा देने का कार्य विधि-विधान ही करते हैं। विधि-विधान सांसारिक क्रिया-अनुष्ठानों को सम्पन्न करने का मार्ग दिग्दर्शित करते हैं।

जैन धर्म यद्यपि निवृत्तिमार्गी है जबकि विधि-विधान या क्रिया-अनुष्ठान प्रवृत्ति के सूचक हैं परंतु यथार्थतः जैन धर्म में विधि-विधानों का गुंफन निवृत्ति मार्ग पर अग्रसर होने के लिए ही हुआ है। आगम युग से ही इस विषयक चर्चा अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होती है। जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा वर्तमान विधि-विधानों का पृष्ठाधार है। साध्वी सौम्यगुणाजी ने इस ग्रंथ के अनेक रहस्यों को उद्घाटित किया है।

साध्वी सौम्याजी जैन संघ का जाज्वल्यमान सितारा है। उनकी ज्ञान आभा से मात्र जिनशासन ही नहीं अपितु समस्त आर्य परम्पराएँ शोभित हो रही हैं। सम्पूर्ण विश्व उनके द्वारा प्रकट किए गए ज्ञान दीप से प्रकाशित हो रहा है। इन्हें देखकर प्रवर्त्तिनी श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की सहज स्मृति आ जाती है। सौम्याजी उन्हीं के नक्शे कदम पर चलकर अनेक नए आयाम श्रुत संवर्धन हेतु प्रस्तुत कर रही है।

साध्वीजी ने विधि-विधानों पर बहुपक्षीय शोध करके उसके विविध आयामों को प्रस्तुत किया है। इस शोध कार्य को 23 पुस्तकों के रूप में प्रस्तुत कर उन्होंने जैन विधि-विधानों के समग्र पक्षों को जन सामान्य के लिए सहज ज्ञातव्य बनाया है।

जिज्ञासु वर्ग इसके माध्यम से मन में उद्वेलित विविध शंकाओं

का समाधान कर पाएगा।

साध्वीजी इसी प्रकार श्रुत रत्नाकर के अमूल्य मौतियों की खोज कर ज्ञान राशि को समृद्ध करती रहे एवं अपने ज्ञानालोक से सकल संघ को रोशन करें यही शुभाशंसा...

आचार्य कैलास सागर सूरि
नाकोडा तीर्थ

विदुषी साध्वी श्री सौम्यगुणाश्रीजी ने विधि विधान सम्बन्धी विषयों पर शोध-प्रबन्ध लिख कर डी.लिट् उपाधि प्राप्त करके एक कीर्तिमान स्थापित किया है।

सौम्याजी ने पूर्व में विधिमार्गप्रपा का हिन्दी अनुवाद करके एक गुरुत्तर कार्य संपादित किया था। उस क्षेत्र में हुए अपने विशिष्ट अनुभवों को आगे बढ़ाते हुए उसी विषय को अपने शोध कार्य हेतु स्वीकृत किया तथा दत्त-चित्त से पुरुषार्थ कर विधि-विषयक गहनता से परिपूर्ण ग्रन्थराज का जो आलेखन किया है, वह प्रशंसनीय है।

हर गच्छ की अपनी एक अनूठी विधि-प्रक्रिया है, जो मूलतः आगम, टीका और क्रमशः परम्परा से संचालित होती है। खरतरगच्छ के अपने विशिष्ट विधि विधान हैं... मर्यादाएँ हैं... क्रियाएँ हैं...। हर काल में जैनाचार्यों ने साध्वाचार की शुद्धता को अक्षुण्ण बनाये रखने का भगीरथ प्रयास किया है। विधिमार्गप्रपा, आचार दिनकर, समाचारी शतक, प्रश्नोत्तर चत्वारिंशत शतक, साधु विधि प्रकाश, जिनवल्लभसूरि समाचारी, जिनपतिसूरि समाचारी, षडावश्यक बालावबोध आदि अनेक ग्रन्थ उनके पुरुषार्थ को प्रकट कर रहे हैं।

साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी ने विधि विधान संबंधी बृहद् इतिहास की दिव्य झांकी के दर्शन कराते हुए गृहस्थ-श्रावक के सौलह संस्कार, व्रतग्रहण विधि, दीक्षा विधि, मुनि की दिनचर्या, आहार संहिता, योगोद्वहन विधि, पदारोहण विधि, आगम अध्ययन विधि, तप साधना विधि, प्रायश्चित्त विधि, पूजा विधि, प्रतिक्रमण विधि, प्रतिष्ठा विधि, मुद्रायोग आदि विभिन्न विषयों पर अपना चिंतन-विश्लेषण

प्रस्तुत कर इन सभी विधि विधानों की मौलिकता और सार्थकता को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उजागर करने का अनूठा प्रयास किया है।

विशेष रूप से मुद्रायोग की चिकित्सा के क्षेत्र में जैन, बौद्ध और हिन्दु परम्पराओं का विश्लेषण करके मुद्राओं की विशिष्टता को उजागर किया है।

निश्चित ही इनका यह अनूठा पुरुषार्थ अभिनंदनीय है। मैं कामना करता हूँ कि संशोधन-विश्लेषण के क्षेत्र में वे खूब आगे बढ़ें और अपने गच्छ एवं गुरु के नाम को रोशन करते हुए ऊँचाईयों के नये सोपानों का आरोहण करें।

उपाध्याय श्री मणिप्रभसागर

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि विदुषी साध्वी डॉ. सौम्यगुणा श्रीजी ने डॉ. श्री सागरमलजी जैन के निर्देशन में 'जैन विधि-विधानो का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' इस विषय पर 23 खण्डों में बृहदस्तरीय शोध कार्य (डी.लिट्) किया है। इस शोध प्रबन्ध में परंपरागत आचार आदि अनेक विषयों का प्रामाणिक परिचय देने का सुंदर प्रयास किया गया है।

जैन परम्परा में क्रिया-विधि आदि धार्मिक अनुष्ठान कर्म क्षय के हेतु से मोक्ष को लक्ष्य में रखकर किए जाते हैं।

साध्वीश्री ने योग मुद्राओं का मानसिक, शारीरिक, मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से क्या लाभ होता है? इसका उल्लेख भी बहुत अच्छी तरह से किया है।

साध्वी सौम्यगुणाजी ने निःसंदेह चिंतन की गहराई में जाकर इस शोध प्रबन्ध की रचना की है, जो अभिनंदन के योग्य है।

मुझे आशा है कि विद्वद गण इस शोध प्रबन्ध का सुंदर लाभ उठायेंगे।

मेरी साध्वीजी के प्रति शुभकामना है कि श्रुत साधना में और अभिवृद्धि प्राप्त करें।

आचार्य पद्मसागर सूरि

विनयाद्यनेक गुणगण गरीमायमाना विदुषी साध्वी श्री शशिप्रभा श्रीजी एवं सौम्यगुणा श्रीजी आदि सपरिवार सादर अनुवन्दना सुखशाता के साथ।

आप शाता में होंगे। आपकी संयम यात्रा के साथ ज्ञान यात्रा अविरत चल रही होगी।

आप जैन विधि विधानों के विषय में शोध प्रबंध लिख रहे हैं यह जानकर प्रसन्नता हुई।

ज्ञान का मार्ग अनंत है। इसमें ज्ञानियों के तात्पर्यार्थ के साथ प्रामाणिकता पूर्ण व्यवहार होना आवश्यक रहेगा।

आप इस कार्य में सुंदर कार्य करके ज्ञानोपासना द्वारा स्वश्रेय प्राप्त करें ऐसी शासन देव से प्रार्थना है।

आचार्य राजशेखर सूरि
भद्रावती तीर्थ

महत्तरा श्रमणीवर्या श्री शशिप्रभाश्री जी
योग अनुवंदना!

आपके द्वारा प्रेषित पत्र प्राप्त हुआ। इसी के साथ 'शोध प्रबन्ध सार' को देखकर ज्ञात हुआ कि आपकी शिष्या साध्वी सौम्यगुणा श्री द्वारा किया गया बृहदस्तरीय शोध कार्य जैन समाज एवं श्रमण-श्रमणी वर्ग हेतु उपयोगी जानकारी का कारण बनेगा।

आपका प्रयास सराहनीय है।

श्रुत भक्ति एवं ज्ञानाराधना स्वपर के आत्म कल्याण का कारण बने यही शुभाशीर्वाद।

आचार्य रत्नाकरसूरि

जो कर रहे स्व-पर उपकार
अन्तर्हृदय से उनको अमृत उद्गार

मानव जीवन का प्रासाद विविधता की बहुविध पृष्ठ भूमियों पर आधृत है। यह न तो सरल सीधा राजमार्ग (Straight like highway)

है न पर्वत का सीधा चढ़ाव (ascent) न घाटी का उतार (descent) है अपितु यह सागर की लहर (sea-wave) के समान गतिशील और उतार-चढ़ाव से युक्त है। उसके जीवन की गति सदैव एक जैसी नहीं रहती। कभी चढ़ाव (Ups) आते हैं तो कभी उतार (Downs) और कभी कोई अवरोध (Speed Breaker) आ जाता है तो कभी कोई (trun) भी आ जाता है। कुछ अवरोध और मोड़ तो इतने खतरनाक (sharp) और प्रबल होते हैं कि मानव की गति-प्रगति और सन्मति लड़खड़ा जाती है, रुक जाती है इन बदलती हुई परिस्थितियों के साथ अनुकूल समायोजन स्थापित करने के लिए जैन दर्शन के आप्त मनीषियों ने प्रमुखतः दो प्रकार के विधि-विधानों का उल्लेख किया है– 1. बाह्य विधि-विधान 2. आन्तरिक विधि-विधान।

बाह्य विधि-विधान के मुख्यतः चार भेद हैं– 1. जातीय विधि-विधान 2. सामाजिक विधि-विधान 3. वैधानिक विधि-विधान 4. धार्मिक विधि-विधान।

1. जातीय विधि-विधान– जाति की समुत्कर्षता के लिए अपनी-अपनी जाति में एक मुखिया या प्रमुख होता है जिसके आदेश को स्वीकार करना प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य है। मुखिया नैतिक जीवन के विकास हेतु उचित-अनुचित विधि-विधान निर्धारित करता है। उन विधि-विधानों का पालन करना ही नैतिक चेतना का मानदण्ड माना जाता है।

2. सामाजिक विधि-विधान– नैतिक जीवन को जीवंत बनाए रखने के लिए समाज अनेकानेक आचार-संहिता का निर्धारण करता है। समाज द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों की आचार-संहिता को ज्यों का त्यों चुपचाप स्वीकार कर लेना ही नैतिक प्रतिमान है। समाज में पीढ़ियों से चले आने वाले सज्जन पुरुषों का अच्छा आचरण या व्यवहार समाज का विधि-विधान कहलाता है। जो इन विधि-विधानों का आचरण करता है, वह पुरुष सत्पुरुष बनने की पात्रता का विकास करता है।

3. वैधानिक विधि-विधान– अनैतिकता-अनाचार जैसी हीन प्रवृत्तियों से मुक्त करवाने हेतु राज सत्ता के द्वारा अनेकविध विधि-विधान बनाए

जाते हैं। इन विधि-विधानों के अन्तर्गत 'यह करना उचित है' अथवा 'यह करना चाहिए' आदि तथ्यों का निरूपण रहता है। राज सत्ता द्वारा आदेशित विधि-विधान का पालन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इन नियमों का पालन करने से चेतना अशुभ प्रवृत्तियों से अलग रहती है।

4. धार्मिक विधि-विधान– इसमें आप्त पुरुषों के आदेश-निर्देश, विधि-निषेध, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य निर्धारित रहते हैं। जैन दर्शन में "आणाए धम्मो" कहकर इसे स्पष्ट किया गया है। जैनागमों में साधक के लिए जो विधि-विधान या आचार निश्चित किए गये हैं, यदि उनका पालन नहीं किया जाता है तो आप्त के अनुसार यह कर्म अनैतिकता की कोटि में आता है। धार्मिक विधि-विधान जो अर्हत् आदेशानुसार है उसका धर्माचरण करता हुआ वीर साधक अकुतोभय हो जाता है अर्थात वह किसी भी प्राणी को भय उत्पन्न हो, वैसा व्यवहार नहीं करता। यही सद्व्यवहार धर्म है तथा यही हमारे कर्मों के नैतिक मूल्यांकन की कसौटी है। तीर्थंकरोपदिष्ट विधि-निषेध मूलक विधानों को नैतिकता एवं अनैतिकता का मानदण्ड माना गया है।

लौकिक एषणाओं से विमुक्त, अरहन्त प्रवाह में विलीन, अप्रमत्त स्वाध्याय रसिका साध्वी रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन वाङ्मय की अनमोल कृति खरतरगच्छाचार्य श्री जिनप्रभसूरि द्वारा विरचित **विधिमार्गप्रपा** में गुम्फित जाज्वल्यमान विषयों पर अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा से जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन को मुख्यतः चार भाग (23 खण्डों) में वर्गीकृत करने का अतुलनीय कार्य किया है। शोध ग्रन्थ के अनुशीलन से यह स्पष्टतः हो जाता है कि साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी ने चेतना के ऊर्ध्वीकरण हेतु प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में जिन आज्ञा का निरूपण किसी परम्परा के दायरे से नहीं प्रज्ञा की कसौटी पर कस कर किया है। प्रस्तुत कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि हर पंक्ति प्रज्ञा के आलोक से जगमगा रही है। बुद्धिवाद के इस युग में विधि-विधान को एक नव्य-भव्य स्वरूप प्रदान करने का सुन्दर, समीचीन, समुचित प्रयास किया गया है। आत्म

पिपासुओं के लिए एवं अनुसन्धित्सुओं के लिए यह श्रुत निधि आत्म सम्मानार्जन, भाव परिष्कार और आन्तरिक औज्ज्वल्य की निष्पत्ति में सहायक सिद्ध होगी।

अल्प समयावधि में साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी ने जिस प्रमाणिकता एवं दार्शनिकता से जिन वचनों को परम्परा के आग्रह से रिक्त तथा साम्प्रदायिक मान्यताओं के दुराग्रह से मुक्त रखकर सर्वग्राही श्रुत का निष्पादन जैन वाङ्मय के क्षितिज पर नव्य नक्षत्र के रूप में किया है। आप श्रुत साभिरुचि में निरन्तर प्रवहमान बनकर अपने निर्णय, विशुद्ध विचार एवं निर्मल प्रज्ञा के द्वारा सदैव सरल, सरस और सुगम अभिनव ज्ञान रश्मियों को प्रकाशित करती रहें। यही अन्तःकरण आशीर्वाद सह अनेकशः अनुमोदना... अभिनंदन।

जिनमहोदय सागर सूरि चरणरज
मुनि पीयूष सागर

जैन विधि की अनमोल निधि

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता है कि साध्वी डॉ. सौम्यगुणा श्रीजी म.सा. द्वारा "जैन-विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन" इस विषय पर सुविस्तृत शोध प्रबन्ध सम्पादित किया गया है। वस्तुतः किसी भी कार्य या व्यवस्था के सफल निष्पादन में विधि (Procedure) का अप्रतिम महत्त्व है। प्राचीन कालीन संस्कृतियाँ चाहे वह वैदिक हो या श्रमण, इससे अछूती नहीं रही। श्रमण संस्कृति में अग्रगण्य है– जैन संस्कृति। इसमें विहित विविध विधि-विधान वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं अध्यात्मिक जीवन के विकास में अपनी महती भूमिका अदा करते हैं। इसी तथ्य को प्रतिपादित करता है प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध।

इस शोध प्रबन्ध की प्रकाशन वेला में हम साध्वीश्री के कठिन प्रयत्न की आत्मिक अनुमोदना करते हैं। निःसंदेह, जैन विधि की इस अनमोल निधि से श्रावक-श्राविका, श्रमण-श्रमणी, विद्वान-विचारक सभी लाभान्वित होंगे। यह विश्वास करते हैं कि वर्तमान युवा पीढ़ी के लिए

भी यह कृति अति प्रासंगिक होगी, क्योंकि इसके माध्यम से उन्हें आचार-पद्धति यानि विधि-विधानों का वैज्ञानिक पक्ष भी ज्ञात होगा और वह अधिक आचार निष्ठ बन सकेंगी।

साध्वीश्री इसी प्रकार जिनशासन की सेवा में समर्पित रहकर स्व-पर विकास में उपयोगी बनें, यही मंगलकामना।

मुनि महेन्द्रसागर
1.2.13 भद्रावती

विदुषी आर्या रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन विधि विधानों पर विविध पक्षीय बृहद शोध कार्य संपन्न किया है। चार भागों में विभाजित एवं 23 खण्डों में वर्गीकृत यह विशाल कार्य निःसंदेह अनुमोदनीय, प्रशंसनीय एवं अभिनंदनीय है।

शासन देव से प्रार्थना है कि उनकी बौद्धिक क्षमता में दिन दूगुनी रात चौगुनी वृद्धि हो। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम ज्ञान गुण की वृद्धि के साथ आत्म ज्ञान प्राप्ति में सहायक बनें।

यह शोध ग्रन्थ ज्ञान पिपासुओं की पिपासा को शान्त करे, यही मनोहर अभिलाषा।

महत्तरा मनोहर श्री चरणरज
प्रवर्त्तिनी कीर्तिप्रभा श्रीजी

दूध को दही में परिवर्तित
करना सरल है। जामन डालिए
और दही तैयार हो जाता है।
किन्तु, दही से मक्खन निकालना
कठिन है। इसके लिए दही को
मथना पड़ता है। तब कहीं
जाकर मक्खन प्राप्त होता है।
इसी प्रकार अध्ययन एक
अपेक्षा से सरल है, किन्तु

तुलनात्मक अध्ययन कठिन है।
इसके लिए कई शास्त्रों को
मथना पड़ता है।
साध्वी सौम्यगुणा श्री ने जैन
विधि-विधानों पर रचित साहित्य
का मंथन करके एक सुंदर चिंतन
प्रस्तुत करने का जो प्रयास किया है
वह अत्यंत अनुमोदनीय एवं
प्रशंसनीय है।
शुभकामना व्यक्त
करती हूँ कि यह
शास्त्रमंथन अनेक साधकों
के कर्मबंधन तोड़ने में
सहायक बने।

साध्वी संवेगनिधि

सुश्रावक श्री कान्तिलालजी मुकीम द्वारा शोध प्रबंध सार संप्राप्त हुआ। विदुषी साध्वी श्री सौम्यगुणाजी के शोधसार ग्रन्थ को देखकर ही कल्पना होने लगी कि शोध ग्रन्थ कितना विराट्काय होगा। वर्षों के अथक परिश्रम एवं सतत रुचि पूर्वक किए गए कार्य का यह सुफल है।

वैदुष्य सह विशालता इस शोध ग्रन्थ की विशेषता है।

हमारी हार्दिक शुभकामना है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनका बहुमुखी विकास हो! जिनशासन के गगन में उनकी प्रतिभा, पवित्रता एवं पुण्य का दिव्यनाद हो। किं बहुना!

साध्वी मणिप्रभा श्री
भद्रावती तीर्थ

हर्षनाद

जैन साधना में प्रतिक्रमण आराधना का महत्त्व प्रत्येक तीर्थंकर के समय में विद्यमान रहा है। कभी यह नित्य कल्प रहा तो कभी ऐच्छिक जो कि आत्म परिणामों के आधार पर निश्चित किया जाता था। मुनि एवं गृहस्थ जीवन की यह एक नित्य दैनिक क्रिया है, जो साबुन की भाँति मलिन आत्मा के शुद्धिकरण का कार्य करती है। भौतिक चकाचौंध युक्त इस कलिकाल में प्रतिक्रमण अलकनंदा भागीरथी के समान आत्मा का विशुद्धिकरण कर उसे पाप मुक्त निर्मल बनाती है तथा पश्चात्ताप रूपी अग्नि में तपाकर आत्मा को सौ टंच सोना बनाती है। इसलिए हमारे यहाँ प्रतिक्रमण की क्रिया को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हुए आवश्यक की संज्ञा दी गई है।

पूर्वधर आचार्यों ने प्रतिक्रमण विधि-रहस्यों के बारे में बहुत कुछ लिखा है और आज भी इस सम्बन्ध में लिखा जा रहा है किन्तु साध्वी सौम्यगुणाजी ने पाश्चात्य संस्कारों से प्रभावित आबाल-युवा वर्ग के मनोगत संशयों एवं प्रश्नों का सचोट निवारण करते हुए इसे नवीनता एवं समग्रता प्रदान की है।

साध्वीजी ने इस शोध कृति में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर की वर्तमान प्रचलित प्रतिक्रमण विधियों को भी उल्लेखित किया है और उनमें छिपे तथ्यों का स्पष्टीकरण, प्रत्येक सूत्र के भावार्थ, उनके अभिप्राय, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि आदि को भी स्पष्ट किया है। इसी के साथ वर्तमान जीवन शैली में इस क्रिया की उपादेयता, प्रबंधन आदि के क्षेत्र में उपयोगिता तथा वैयक्तिक एवं वैश्विक स्तर की समस्याओं के समाधान में इसकी सार्थकता ऐसे विराट् रूप में प्रमाणिक कार्य कर इस ग्रन्थ को विद्वद्जन और सामान्य वर्ग के लिए रुचिकर बनाया है।

साध्वीजी की सृजनशील बुद्धि, अद्भुत कार्य क्षमता, श्रुत भक्ति के प्रति सजगता एवं पूर्ण निष्ठा का ही परिणाम है कि इन्होंने साधु जीवन एवं सामाजिक कर्त्तव्यों का वहन करते हुए भी बहुत अल्प समय में इस वृहद् कार्य को सम्पन्न किया है। मैं परमात्मा से प्रार्थना करती हूँ कि सौम्याजी इसी भाँति श्रुत साहित्य को समृद्ध कर गुरुवर्य्या श्री की कीर्ति जग गुंजित करें।

आर्य्या शशिप्रभा श्री

दीक्षा गुरु प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा. एक परिचय

रजताभ रजकणों से रंजित राजस्थान असंख्य कीर्ति गाथाओं का वह रश्मि पुंज है जिसने अपनी आभा के द्वारा संपूर्ण धरा को देदीप्यमान किया है। इतिहास के पन्नों में जिसकी पावन पाण्डुलिपियाँ अंकित है ऐसे रंगीले राजस्थान का विश्रुत नगर है जयपुर। इस जौहरियों की नगरी ने अनेक दिव्य रत्न इस वसुधा को अर्पित किए। उन्हीं में से कोहिनूर बनकर जैन संघ की आभा को दीप्त करने वाला नाम है– पूज्या प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.।

आपश्री इस कलियुग में सतयुग का बोध कराने वाली सहज साधिका थी। चतुर्थ आरे का दिव्य अवतार थी। जयपुर की पुण्य धरा से आपका विशेष सम्बन्ध रहा है। आपके जीवन की अधिकांश महत्त्वपूर्ण घटनाएँ जैसे– जन्म, विवाह, दीक्षा, देह विलय आदि इसी वसुधा की साक्षी में घटित हुए।

आपका जीवन प्राकृतिक संयोगों का अनुपम उदाहरण था। जैन परम्परा के तेरापंथी आम्नाय में आपका जन्म, स्थानकवासी परम्परा में विवाह एवं मन्दिरमार्गी खरतर परम्परा में प्रव्रज्या सम्पन्न हुई। आपके जीवन का यही त्रिवेणी संगम रत्नत्रय की साधना के रूप में जीवन्त हुआ।

आपका जन्म वैशाखी बुद्ध पूर्णिमा के पर्व दिवस के दिन हुआ। आप उन्हीं के समान तत्त्ववेत्ता, अध्यात्म योगी, प्रज्ञाशील साधक थी। सज्जनता, मधुरता, सरलता, सहजता, संवेदनशीलता, परदुःखकातरता आदि गुण तो आप में जन्मतः परिलक्षित होते थे। इसी कारण आपका नाम सज्जन रखा गया और यही नाम दीक्षा के बाद भी प्रवर्त्तित रहा।

संयम ग्रहण हेतु दीर्घ संघर्ष करने के बावजूद भी आपने विनय, मृदुता, साहस एवं मनोबल डिगने नहीं दिया। अन्ततः 35 वर्ष की आयु में पूज्या प्रवर्त्तिनी ज्ञान श्रीजी म.सा. के चरणों में भागवती दीक्षा अंगीकार की।

दीवान परिवार के राजशाही ठाठ में रहने के बाद भी संयमी जीवन का हर छोटा-बड़ा कार्य आप अत्यंत सहजता पूर्वक करती थी। छोटे-बड़े सभी की

सेवा हेतु सदैव तत्पर रहती थी। आपका जीवन सद्गुणों से युक्त विद्वत्ता की दिव्य माला था। आप में विद्यमान गुण शास्त्र की निम्न पंक्तियों को चरितार्थ करते थे–

शीलं परहितासक्ति, रनुत्सेकः क्षमा धृतिः।
अलोभश्चेति विद्यायाः, परिपाकोज्ज्वलं फलः ।।

अर्थात शील, परोपकार, विनय, क्षमा, धैर्य, निर्लोभता आदि विद्या की पूर्णता के उज्ज्वल फल हैं।

अहिंसा, तप साधना, सत्यनिष्ठा, गम्भीरता, विनम्रता एवं विद्वानों के प्रति असीम श्रद्धा उनकी विद्वत्ता की परिधि में शामिल थे। वे केवल पुस्तकें पढ़कर नहीं अपितु उन्हें आचरण में उतार कर महान बनी थी। आपको शब्द और स्वर की साधना का गुण भी सहज उपलब्ध था।

दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात आप 20 वर्षों तक गुरु एवं गुरु भगिनियों की सेवा में जयपुर रही। तदनन्तर कल्याणक भूमियों की स्पर्शना हेतु पूर्वी एवं उत्तरी भारत की पदयात्रा की। आपश्री ने 65 वर्ष की आयु और उसमें भी ज्येष्ठ महीने की भयंकर गर्मी में सिद्धाचल तीर्थ की नव्वाणु यात्रा कर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया।

राजस्थान, गुजरात, उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार आदि क्षेत्रों में धर्म की सरिता प्रवाहित करते हुए भी आप सदैव ज्ञानदान एवं ज्ञानपान में संलग्न रहती थी। इसी कारण लोक परिचय, लोकैषणा, लोकाशंसा आदि से अत्यंत दूर रही।

आपश्री प्रखर वक्ता, श्रेष्ठ साहित्य सर्जिका, तत्त्व चिंतिका, आशु कवयित्री एवं बहुभाषाविद थी। विद्वदवर्ग में आप सर्वोत्तम स्थान रखती थी। हिन्दी, गुजराती, मारवाड़ी, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी आदि अनेक भाषाओं पर आपका सर्वाधिकार था। जैन दर्शन के प्रत्येक विषय का आपको मर्मस्पर्शी ज्ञान था। आप ज्योतिष, व्याकरण, अलंकार, साहित्य, इतिहास, शकुन शास्त्र, योग आदि विषयों की भी परम वेत्ता थी।

उपलब्ध सहस्त्र रचनाएँ तथा अनुवादित सम्पादित एवं लिखित साहित्य आपकी कवित्व शक्ति और विलक्षण प्रज्ञा को प्रकट करते हैं।

प्रभु दर्शन में तन्मयता, प्रतिपल आत्म रमणता, स्वाध्याय मग्नता, अध्यात्म लीनता, निस्पृहता, अप्रमत्तता, पूज्यों के प्रति लघुता एवं छोटों के

प्रति मृदुता आदि गुण आपश्री में बेजोड़ थे। हठवाद, आग्रह, तर्क-वितर्क, अहंकार, स्वार्थ भावना का आप में लवलेश भी नहीं था। सभी के प्रति समान स्नेह एवं मृदु व्यवहार, निरपेक्षता एवं अंतरंग विरक्तता के कारण आप सर्वजन प्रिय और आदरणीय थी।

आपकी गुण गरिमा से प्रभावित होकर गुरुजनों एवं विद्वानों द्वारा आपको आगम ज्योति, शास्त्र मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, अध्यात्म योगिनी आदि सार्थक पदों से अलंकृत किया गया। वहीं सकल श्री संघ द्वारा आपको साध्वी समुदाय में सर्वोच्च प्रवर्त्तिनी पद से भी विभूषित किया गया।

आपश्री के उदात्त व्यक्तित्व एवं कर्मशील कर्तृत्व से प्रभावित हजारों श्रद्धालुओं की आस्था को 'श्रमणी' अभिनन्दन ग्रन्थ के रूप में लोकार्पित किया गया। खरतरगच्छ परम्परा में अब तक आप ही एक मात्र ऐसी साध्वी हैं जिन पर अभिनन्दन ग्रन्थ लिखा गया है।

आप में समस्त गुण चरम सीमा पर परिलक्षित होते थे। कोई सद्गुण ऐसा नहीं था जिसके दर्शन आप में नहीं होते हो। जिसने आपको देखा वह आपका ही होकर रह गया।

आपके निरपेक्ष, निस्पृह एवं निरासक्त जीवन की पूर्णता जैन एवं जैनेतर दोनों परम्पराओं में मान्य, शाश्वत आराधना तिथि **'मौन एकादशी'** पर्व के दिन हुई। इस पावन तिथि के दिन आपने देह का त्याग कर सदा के लिए मौन धारण कर लिया। आपके इस समाधिमरण को श्रेष्ठ मरण के रूप में सिद्ध करते हुए उपाध्याय मणिप्रभ सागरजी म.सा. ने लिखा है–

महिमा तेरी क्या गाये हम, दिन कैसा स्वीकार किया।
मौन ग्यारस माला जपते, मौन सर्वथा धार लिया
गुरुवर्य्या तुम अमर रहोगी, साधक कभी न मरते हैं।।

आज परम पूज्या संघरत्ना शशिप्रभा श्रीजी म.सा. आपके मंडल का सम्यक संचालन कर रही हैं। यद्यपि आपका विचरण क्षेत्र अल्प रहा परंतु आज आपका नाम दिग्दिगन्त व्याप्त है। आपके नाम स्मरण मात्र से ही हर प्रकार की Tension एवं विपदाएँ दूर हो जाती है।

●

शिक्षा गुरु पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. एक परिचय

'धोरों की धरती' के नाम से विख्यात राजस्थान अगणित यशोगाथाओं का उद्‌भव स्थल है। इस बहुरत्ना वसुंधरा पर अनेकश: वीर योद्धाओं, परमात्म भक्तों एवं ऋषि-महर्षियों का जन्म हुआ है। इसी रंग-रंगीले राजस्थान की परम पुण्यवंती साधना भूमि है श्री फलौदी। नयन रम्य जिनालय, दादाबाड़ियों एवं स्वाध्याय गुंज से शोभायमान उपाश्रय इसकी ऐतिहासिक धर्म समृद्धि एवं शासन समर्पण के प्रबल प्रतीक हैं। इस मातृभूमि ने अपने उर्वरा से कई अमूल्य रत्न जिनशासन की सेवा में अर्पित किए हैं। चाहे फिर वह साधु-साध्वी के रूप में हो या श्रावक-श्राविका के रूप में। वि.सं. 2001 की भाद्रकृष्णा अमावस्या को धर्मनिष्ठ दानवीर ताराचंदजी एवं सरल स्वभावी बालादेवी गोलेछा के गृहांगण में एक बालिका की किलकारियां गूंज रही थी। अमावस्या के दिन उदित हुई यह किरण भविष्य में जिनशासन की अनुपम किरण बनकर चमकेगी यह कौन जानता था? कहते हैं सज्जनों के सम्पर्क में आने से दुर्जन भी सज्जन बन जाते हैं तब सम्यकदृष्टि जीव तो नि:सन्देह सज्जन का संग मिलने पर स्वयमेव ही महानता को प्राप्त कर लेते हैं।

किरण में तप त्याग और वैराग्य के भाव जन्मजात थे। इधर पारिवारिक संस्कारों ने उसे अधिक उफान दिया। पूर्वोपार्जित सत्संस्कारों का जागरण हुआ और वह भुआ महाराज उपयोग श्रीजी के पथ पर अग्रसर हुई। अपने बाल मन एवं कोमल तन को गुरु चरणों में समर्पित कर 14 वर्ष की अल्पायु में ही किरण एक तेजस्वी सूर्य रश्मि से शीतल शशि के रूप में प्रवर्त्तित हो गई। आचार्य श्री कवीन्द्र सागर सूरीश्वरजी म.सा. की निश्रा में मरूधर ज्योति मणिप्रभा श्रीजी एवं आपकी बड़ी दीक्षा एक साथ सम्पन्न हुई।

इसे पुण्य संयोग कहें या गुरु कृपा की फलश्रुति? आपने 32 वर्ष के गुरु सान्निध्य काल में मात्र एक चातुर्मास गुरुवर्य्याश्री से अलग किया और वह भी पूज्या प्रवर्त्तिनी विचक्षण श्रीजी म.सा. की आज्ञा से। 32 वर्ष की सान्निध्यता में आप कुल 32 महीने भी गुरु सेवा से वंचित नहीं रही। आपके जीवन की यह

विशेषता पूज्यवरों के प्रति सर्वात्मना समर्पण, अगाध सेवा भाव एवं गुरुकुल वास के महत्त्व को इंगित करती है।

आपश्री सरलता, सहजता, सहनशीलता, सहृदयता, विनम्रता, सहिष्णुता, दीर्घदर्शिता आदि अनेक दिव्य गुणों की पुंज हैं। संयम पालन के प्रति आपकी निष्ठा एवं मनोबल की दृढ़ता यह आपके जिन शासन समर्पण की सूचक है। आपका निश्छल, निष्कपट, निर्दम्भ व्यक्तित्व जनमानस में आपकी छवि को चिरस्थापित करता है। आपश्री का बाह्य आचार जितना अनुमोदनीय है, आंतरिक भावों की निर्मलता भी उतनी ही अनुशंसनीय है। आपकी इसी गुणवत्ता ने कई पथ भ्रष्टों को भी धर्माभिमुख किया है। आपका व्यवहार हर वर्ग के एवं हर उम्र के व्यक्तियों के साथ एक समान रहता है। इसी कारण आप आबाल वृद्ध सभी में समादृत हैं। हर कोई बिना किसी संकोच या हिचक के आपके समक्ष अपने मनोभाव अभिव्यक्त कर सकता है।

शास्त्रों में कहा गया है 'सन्त हृदय नवनीत समाना'– आपका हृदय दूसरों के लिए मक्खन के समान कोमल और सहिष्णु है। वहीं इसके विपरीत आप स्वयं के लिए वज्र से भी अधिक कठोर हैं। आपश्री अपने नियमों के प्रति अत्यन्त दृढ़ एवं अतुल मनोबली हैं। आज जीवन के लगभग सत्तर बसंत पार करने के बाद भी आप युवाओं के समान अप्रमत्त, स्फुर्तिमान एवं उत्साही रहती हैं। विहार में आपश्री की गति समस्त साध्वी मंडल से अधिक होती है।

आहार आदि शारीरिक आवश्यकताओं को आपने अल्पायु से ही सीमित एवं नियंत्रित कर रखा है। नित्य एकाशना, पुरिमड्ढ प्रत्याख्यान आदि के प्रति आप अत्यंत चुस्त हैं। जिस प्रकार सिंह अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने हेतु पूर्णत: सचेत एवं तत्पर रहता है वैसे ही आपश्री विषय-कषाय रूपी शत्रुओं का दमन करने में सतत जागरूक रहती हैं। विषय वर्धक अधिकांश विगय जैसे– मिठाई, कढ़ाई, दही आदि का आपके सर्वथा त्याग है।

आपश्री आगम, धर्म दर्शन, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती आदि विविध विषयों की ज्ञाता एवं उनकी अधिकारिणी है। व्यावहारिक स्तर पर भी आपने एम.ए. के समकक्ष दर्शनाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की है। अध्ययन के संस्कार आपको गुरु परम्परा से वंशानुगत रूप में प्राप्त हुए हैं। आपकी निश्रागत गुरु भगिनियों एवं शिष्याओं के अध्ययन, संयम पालन तथा आत्मोकर्ष के प्रति

आप सदैव सचेष्ट रहती हैं। आपश्री एक सफल अनुशास्ता हैं यही वजह है कि आपकी देखरेख में सज्जन मण्डल की फुलवारी उन्नति एवं उत्कर्ष को प्राप्त कर रही हैं।

तप और जप आपके जीवन का अभिन्न अंग है। 'ॐ ह्रीं अर्हं' पद की रटना प्रतिपल आपके रोम-रोम में गुंजायमान रहती है। जीवन की कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी आप तदनुकूल मन:स्थिति बना लेती हैं। आप हमेशा कहती हैं कि

जो-जो देखा वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे।।

आपकी परमात्म भक्ति एवं गुरुदेव के प्रति प्रवर्धमान श्रद्धा दर्शनीय है। आपका आगमानुरूप वर्तन आपको निसन्देह महान पुरुषों की कोटी में उपस्थित करता है। आपश्री एक जन प्रभावी वक्ता एवं सफल शासन सेविका हैं।

आपश्री की प्रेरणा से जिनशासन की शाश्वत परम्परा को अक्षुण्ण रखने में सहयोगी अनेकश: जिनमंदिरों का निर्माण एवं जीर्णोद्धार हुआ है। श्रुत साहित्य के संवर्धन में आपश्री के साथ आपकी निश्रारत साध्वी मंडल का भी विशिष्ट योगदान रहा है। अब तक 25-30 पुस्तकों का लेखन-संपादन आपकी प्रेरणा से साध्वी मंडल द्वारा हो चुका है एवं अनेक विषयों पर कार्य अभी भी गतिमान है।

भारत के विविध क्षेत्रों का पद भ्रमण करते हुए आपने अनेक क्षेत्रों में धर्म एवं ज्ञान की ज्योति जागृत की है। राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, छ.ग., यू.पी., बिहार, बंगाल, तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र, झारखंड, आन्ध्रप्रदेश आदि अनेक प्रान्तों की यात्रा कर आपने उन्हें अपनी पदरज से पवित्र किया है। इन क्षेत्रों में हुए आपके ऐतिहासिक चातुर्मासों की चिरस्मृति सभी के मानस पटल पर सदैव अंकित रहेगी। अन्त में यही कहूँगी-

चिन्तन में जिसके हो क्षमता, वाणी में सहज मधुरता हो।
आचरण में संयम झलके, वह श्रद्धास्पद बन जाता है।
जो अन्तर में ही रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।
जो भीतर में ही भ्रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।।

ऐसी विरल साधिका आर्यारत्न पूज्याश्री के चरण सरोजों में मेरा जीवन सदा भ्रमरवत् गुंजन करता रहे, यही अन्तरकामना।

कैसे पाई सौम्याजी ने अपनी मंजिल

साध्वी प्रियदर्शनाश्री

आज सौम्यगुणाजी को सफलता के इस उत्तुंग शिखर पर देखकर ऐसा लग रहा है मानो चिर रात्रि के बाद अब यह मनभावन अरुणिम वेला उदित हुई हो। आज इस सफलता के पीछे रहा उनका अथक परिश्रम, अनेकशः बाधाएँ, विषय की दुरूहता एवं दीर्घ प्रयास के विषय में सोचकर ही मन अभिभूत हो जाता है। जिस प्रकार किसान बीज बोने से लेकर फल प्राप्ति तक अनेक प्रकार से स्वयं को तपाता एवं खपाता है और तब जाकर उसे फल की प्राप्ति होती है या फिर जब कोई माता नौ महीने तक गर्भ में बालक को धारण करती है तब उसे मातृत्व सुख की प्राप्ति होती है ठीक उसी प्रकार सौम्यगुणाजी ने भी इस कार्य की सिद्धि हेतु मात्र एक या दो वर्ष नहीं अपितु सत्रह वर्ष तक निरन्तर कठिन साधना की है। इसी साधना की आँच में तपकर आज 23 Volumes के बृहद् रूप में इनका स्वर्णिम कार्य जन ग्राह्य बन रहा है।

आज भी एक-एक घटना मेरे मानस पटल पर फिल्म के रूप में उभर रही है। ऐसा लगता है मानो अभी की ही बात हो, सौम्याजी को हमारे साथ रहते हुए 28 वर्ष होने जा रहे हैं और इन वर्षों में इन्हें एक सुन्दर सलोनी गुड़िया से एक विदुषी शासन प्रभाविका, गूढ़ान्वेषी साधिका बनते देखा है। एक पाँचवीं पढ़ी हुई लड़की आज D.LIt की पदवी से विभूषित होने वाली है। वह भी कोई सामान्य D.Lit. नहीं, 22-23 भागों में किया गया एक बृहद् कार्य और जिसका एक-एक भाग एक शोध प्रबन्ध (Thesis) के समान है। अब तक शायद ही किसी भी शोधार्थी ने डी.लिट् कार्य इतने अधिक Volumes में सम्पन्न किया होगा। लाडनूं विश्वविद्यालय की प्रथम डी.लिट्. शोधार्थी सौम्याजी के इस कार्य ने विश्वविद्यालय के ऐतिहासिक कार्यों में स्वर्णिम पृष्ठ जोड़ते हुए श्रेष्ठतम उदाहरण प्रस्तुत किया है।

सत्रह वर्ष पहले हम लोग पूज्या गुरुवर्य्याश्री के साथ पूर्वी क्षेत्र की स्पर्शना

कर रहे थे। बनारस में डॉ. सागरमलजी द्वारा आगम ग्रन्थों के गूढ़ रहस्यों को जानने का यह एक स्वर्णिम अवसर था अत: सन् 1995 में गुर्वाज्ञा से मैं, सौम्याजी एवं नूतन दीक्षित साध्वीजी ने भगवान पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी की ओर अपने कदम बढ़ाए। शिखरजी आदि तीर्थों की यात्रा करते हुए हम लोग धर्म नगरी काशी पहुँचे।

वाराणसी स्थित पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वहाँ के मन्दिरों एवं पंडितों के मंत्रनाद से दूर नीरव वातावरण में अद्भुत शांति का अनुभव करवा रहा था। अध्ययन हेतु मनोज्ञ एवं अनुकूल स्थान था। संयोगवश मरूधर ज्योति पूज्या मणिप्रभा श्रीजी म.सा. की निश्रावर्ती, मेरी बचपन की सखी पूज्या विद्युतप्रभा श्रीजी आदि भी अध्ययनार्थ वहाँ पधारी थी।

डॉ. सागरमलजी से विचार विमर्श करने के पश्चात आचार्य जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा पर शोध करने का निर्णय लिया गया। सन् 1973 में पूज्य गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. बंगाल की भूमि पर पधारी थी। स्वाध्याय रसिक आगमज्ञ श्री अगरचन्दजी नाहटा, श्री भँवलालजी नाहटा से पूज्याश्री की पारस्परिक स्वाध्याय चर्चा चलती रहती थी। एकदा पूज्याश्री ने कहा कि मेरी हार्दिक इच्छा है जिनप्रभसूरिकृत विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों का अनुवाद हो। पूज्याश्री योग-संयोग वश उसका अनुवाद नहीं कर पाई। विषय का चयन करते समय मुझे गुरुवर्य्या श्री की वही इच्छा याद आई या फिर यह कहूं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सौम्याजी की योग्यता देखते हुए शायद पूज्याश्री ने ही मुझे इसकी अन्तस् प्रेरणा दी।

यद्यपि यह ग्रंथ विधि-विधान के क्षेत्र में बहु उपयोगी था परन्तु प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में आबद्ध होने के कारण उसका हिन्दी अनुवाद करना आवश्यक हो गया। सौम्याजी के शोध की कठिन परीक्षाएँ यहीं से प्रारम्भ हो गई। उन्होंने सर्वप्रथम प्राकृत व्याकरण का ज्ञान किया। तत्पश्चात दिन-रात एक कर पाँच महीनों में ही इस कठिन ग्रंथ का अनुवाद अपनी क्षमता अनुसार कर डाला। लेकिन यहीं पर समस्याएँ समाप्त नहीं हुई। सौम्यगुणाजी जो कि राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर से दर्शनाचार्य (एम.ए.) थीं, बनारस में पी-एच.डी. हेतु आवेदन नहीं कर सकती थी। जिस लक्ष्य को लेकर आए थे वह कार्य पूर्ण नहीं होने से मन थोड़ा विचलित हुआ परन्तु विश्वविद्यालय के नियमों के कारण हम

कुछ भी करने में असमर्थ थे अत: पूज्य गुरुवर्य्याश्री के चरणों में पहुँचने हेतु पुन: कलकत्ता की ओर प्रयाण किया। हमारा वह चातुर्मास संघ आग्रह के कारण पुन: कलकत्ता नगरी में हुआ। वहाँ से चातुर्मास पूर्णकर धर्मानुरागी जनों को शीघ्र आने का आश्वासन देते हुए पूज्याश्री के साथ जयपुर की ओर विहार किया। जयपुर में आगम ज्योति, पूज्या गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की समाधि स्थली मोहनबाड़ी में मूर्ति प्रतिष्ठा का आयोजन था अत: उग्र विहार कर हम लोग जयपुर पहुँचें। बहुत ही सुन्दर और भव्य रूप में कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। जयपुर संघ के अति आग्रह से पूज्याश्री एवं सौम्यगुणाजी का चातुर्मास जयपुर ही हुआ। जयपुर का स्वाध्यायी श्रावक वर्ग सौम्याजी से काफी प्रभावित था। यद्यपि बनारस में पी-एच.डी. नहीं हो पाई थी किन्तु सौम्याजी का अध्ययन आंशिक रूप में चालू था। उसी बीच डॉ. सागरमलजी के निर्देशानुसार जयपुर संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रो. डॉ. शीतलप्रसाद जैन के मार्गदर्शन में धर्मानुरागी श्री नवरतनमलजी श्रीमाल के डेढ़ वर्ष के अथक प्रयास से उनका रजिस्ट्रेशन हुआ। सामाजिक जिम्मेदारियों को संभालते हुए उन्होंने अपने कार्य को गति दी।

पी-एच.डी. का कार्य प्रारम्भ तो कर लिया परन्तु साधु जीवन की मर्यादा, विषय की दुरूहता एवं शोध आदि के विषय में अनुभवहीनता से कई बाधाएँ उत्पन्न होती रही। निर्देशक महोदय दिगम्बर परम्परा के होने से श्वेताम्बर विधि-विधानों के विषय में उनसे भी विशेष सहयोग मिलना मुश्किल था अत: सौम्याजी को जो करना था अपने बलबूते पर ही करना था। यह सौम्याजी ही थी जिन्होंने इतनी बाधाओं और रूकावटों को पार कर इस शोध कार्य को अंजाम दिया।

जयपुर के पश्चात कुशल गुरुदेव की प्रत्यक्ष स्थली मालपुरा में चातुर्मास हुआ। वहाँ पर लाइब्रेरी आदि की असुविधाओं के बीच भी उन्होंने अपने कार्य को पूर्ण करने का प्रयास किया। तदनन्तर जयपुर में एक महीना रहकर महोपाध्याय विनयसागरजी से इसका करेक्शन करवाया तथा कुछ सामग्री संशोधन हेतु डॉ. सागरमलजी को भेजी। यहाँ तक तो उनकी कार्य गति अच्छी रही किन्तु इसके बाद लम्बे विहार होने से उनका कार्य प्राय: अवरूद्ध हो गया। फिर अगला चातुर्मास पालीताणा हुआ। वहाँ पर आने वाले यात्रीगणों की भीड़ और तप साधना-आराधना में अध्ययन नहींवत ही हो पाया। पुन: साधु जीवन

के नियमानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर कदम बढ़ाए। रायपुर (छ.ग.) जाने हेतु लम्बे विहारों के चलते वे अपने कार्य को किंचित भी संपादित नहीं कर पा रही थी। रायपुर पहुँचते-पहुँचते Registration की अवधि अन्तिम चरण तक पहुँच चुकी थी अत: चातुर्मास के पश्चात मुदितप्रज्ञा श्रीजी और इन्हें रायपुर छोड़कर शेष लोगों ने अन्य आसपास के क्षेत्रों की स्पर्शना की। रायपुर निवासी सुनीलजी बोथरा के सहयोग से दो-तीन मास में पूरे काम को शोध प्रबन्ध का रूप देकर उसे सन् 2001 में राजस्थान विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया। येन केन प्रकारेण इस शोध कार्य को इन्होंने स्वयं की हिम्मत से पूर्ण कर ही दिया।

तदनन्तर 2002 का बैंगलोर चातुर्मास सम्पन्न कर मालेगाँव पहुँचे। वहाँ पर संघ के प्रयासों से चातुर्मास के अन्तिम दिन उनका शोध वायवा संपन्न हुआ और उन्हें कुछ ही समय में पी-एच.डी. की पदवी विश्वविद्यालय द्वारा प्रदान की गई। सन् 1995 बनारस में प्रारम्भ हुआ कार्य सन् 2003 मालेगाँव में पूर्ण हुआ। इस कालावधि के दौरान समस्त संघों को उनकी पी-एच.डी. के विषय में ज्ञात हो चुका था और विषय भी रुचिकर था अत: उसे प्रकाशित करने हेतु विविध संघों से आग्रह होने लगा। इसी आग्रह ने उनके शोध को एक नया मोड़ दिया। सौम्याजी कहती 'मेरे पास बताने को बहुत कुछ है, परन्तु वह प्रकाशन योग्य नहीं है' और सही मायने में शोध प्रबन्ध सामान्य जनता के लिए उतना सुगम नहीं होता अत: गुरुवर्य्या श्री के पालीताना चातुर्मास के दौरान विधिमार्गप्रपा के अर्थ का संशोधन एवं अवान्तर विधियों पर ठोस कार्य करने हेतु वे अहमदाबाद पहुँची। इसी दौरान पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. ने भी इस कार्य का पूर्ण सर्वेक्षण कर उसमें अपेक्षित सुधार करवाए। तदनन्तर L.D. Institute के प्रोफेसर जितेन्द्र भाई, फिर कोबा लाइब्रेरी से मनोज भाई सभी के सहयोग से विधिमार्गप्रपा के अर्थ में रही त्रुटियों को सुधारते हुए उसे नवीन रूप दिया।

इसी अध्ययन काल के दौरान जब वे कोबा में विधि ग्रन्थों का आलोडन कर रही थी तब डॉ. सागरमलजी का बायपास सर्जरी हेतु वहाँ पदार्पण हुआ। सौम्याजी को वहाँ अध्ययनरत देखकर बोले– "आप तो हमारी विद्यार्थी हो, यहाँ क्या कर रही हो? शाजापुर पधारिए मैं यथासंभव हर सहयोग देने का प्रयास करूँगा।" यद्यपि विधि विधान डॉ. सागरमलजी का विषय नहीं था परन्तु उनकी ज्ञान प्रौढ़ता एवं अनुभव शीलता सौम्याजी को सही दिशा देने हेतु

पर्याप्त थी। वहाँ से विधिमार्गप्रपा का नवीनीकरण कर वे गुरुवर्य्याश्री के साथ मुम्बई चातुर्मासार्थ गईं। महावीर स्वामी देरासर पायधुनी से विधिप्रपा का प्रकाशन बहुत ही सुन्दर रूप में हुआ।

किसी भी कार्य में बार-बार बाधाएँ आए तो उत्साह एवं प्रवाह स्वत: मन्द हो जाता है, परन्तु सौम्याजी का उत्साह विपरीत परिस्थितियों में भी वृद्धिंगत रहा। मुम्बई का चातुर्मास पूर्णकर वे शाजापुर गईं। वहाँ जाकर डॉ. साहब ने डी.लिट करने का सुझाव दिया और लाडनूं विश्वविद्यालय के अन्तर्गत उन्हीं के निर्देशन में रजिस्ट्रेशन भी हो गया। यह लाडनूं विश्व भारती का प्रथम डी.लिट. रजिस्ट्रेशन था। सौम्याजी से सब कुछ ज्ञात होने के बाद मैंने उनसे कहा– प्रत्येक विधि पर अलग-अलग कार्य हो तो अच्छा है और उन्होंने वैसा ही किया। परन्तु जब कार्य प्रारम्भ किया था तब वह इतना विराट रूप ले लेगा यह अनुमान भी नहीं था। शाजापुर में रहते हुए इन्होंने छ:सात विधियों पर अपना कार्य पूर्ण किया। फिर गुर्वाज्ञा से कार्य को बीच में छोड़ पुन: गुरुवर्य्या श्री के पास पहुँची। जयपुर एवं टाटा चातुर्मास के सम्पूर्ण सामाजिक दायित्वों को संभालते हुए पूज्याश्री के साथ रही।

शोध कार्य पूर्ण रूप से रूका हुआ था। डॉ.साहब ने सचेत किया कि समयावधि पूर्णता की ओर है अत: कार्य शीघ्र पूर्ण करें तो अच्छा रहेगा वरना रजिस्ट्रेशन रद्द भी हो सकता है। अब एक बार फिर से उन्हें अध्ययन कार्य को गति देनी थी। उन्होंने लघु भगिनी मण्डल के साथ लाइब्रेरी युक्त शान्त-नीरव स्थान हेतु वाराणसी की ओर प्रस्थान किया। इस बार लक्ष्य था कि कार्य को किसी भी प्रकार से पूर्ण करना है। उनकी योग्यता देखते हुए श्री संघ एवं गुरुवर्य्या श्री उन्हें अब समाज के कार्यों से जोड़े रखना चाहते थे परंतु कठोर परिश्रम युक्त उनके विशाल शोध कार्य को भी सम्पन्न करवाना आवश्यक था। बनारस पहुँचकर इन्होंने मुद्रा विधि को छोटा कार्य जानकर उसे पहले करने के विचार से उससे ही कार्य को प्रारम्भ किया। देखते ही देखते उस कार्य ने भी एक विराट रूप ले लिया। उनका यह मुद्रा कार्य विश्वस्तरीय कार्य था जिसमें उन्होंने जैन, हिन्दू, बौद्ध, योग एवं नाट्य परम्परा की सहस्राधिक हस्त मुद्राओं पर विशेष शोध किया। यद्यपि उन्होंने दिन-रात परिश्रम कर इस कार्य को 6-7 महीने में एक बार पूर्ण कर लिया, किन्तु उसके विभिन्न कार्य तो अन्त तक

चलते रहे। तत्पश्चात उन्होंने अन्य कुछ विषयों पर और भी कार्य किया। उनकी कार्यनिष्ठा देख वहाँ के लोग हतप्रभ रह जाते थे। संघ-समाज के बीच स्वयं बड़े होने के कारण नहीं चाहते हुए भी सामाजिक दायित्व निभाने ही पड़ते थे।

सिर्फ बनारस में ही नहीं रायपुर के बाद जब भी वे अध्ययन हेतु कहीं गई तो उन्हें ही बड़े होकर जाना पड़ा। सभी गुरु बहिनों का विचरण शासन कार्यों हेतु भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में होने से इस समस्या का सामना भी उन्हें करना ही था। साधु जीवन में बड़े होकर रहना अर्थात संघ-समाज-समुदाय की समस्त गतिविधियों पर ध्यान रखना, जो कि अध्ययन करने वालों के लिए संभव नहीं होता परंतु साधु जीवन यानी विपरीत परिस्थितियों का स्वीकार और जो इन्हें पार कर आगे बढ़ जाता है वह जीवन जीने की कला का मास्टर बन जाता है। इस शोधकार्य ने सौम्याजी को विधि-विधान के साथ जीवन के क्षेत्र में भी मात्र मास्टर नहीं अपितु विशेषज्ञ बना दिया।

पूज्य बड़े म.सा. बंगाल के क्षेत्र में विचरण कर रहे थे। कोलकाता वालों की हार्दिक इच्छा सौम्याजी को बुलाने की थी। वैसे जौहरी संघ के पदाधिकारी श्री प्रेमचन्दजी मोघा एवं मंत्री मणिलालजी दुसाज शाजापुर से ही उनके चातुर्मास हेतु आग्रह कर रहे थे। अत: न चाहते हुए भी कार्य को अर्ध विराम दे उन्हें कलकत्ता आना पड़ा। शाजापुर एवं बनारस प्रवास के दौरान किए गए शोध कार्य का कम्पोज करवाना बाकी था और एक-दो विषयों पर शोध भी। परंतु "जिसकी खाओ बाजरी उसकी बजाओ हाजरी" अत: एक और अवरोध शोध कार्य में आ चुका था। गुरुवर्य्या श्री ने सोचा था कि चातुर्मास के प्रारम्भिक दो महीने के पश्चात इन्हें प्रवचन आदि दायित्वों से निवृत्त कर देंगे परंतु समाज में रहकर यह सब संभव नहीं होता।

चातुर्मास के बाद गुरुवर्य्या श्री तो शेष क्षेत्रों की स्पर्शना हेतु निकल पड़ी किन्तु उन्हें शेष कार्य को पूर्णकर अन्तिम स्वरूप देने हेतु कोलकाता ही रखा। कोलकाता जैसी महानगरी एवं चिर-परिचित समुदाय के बीच तीव्र गति से अध्ययन असंभव था अत: उन्होंने मौन धारण कर लिया और सप्ताह में मात्र एक घंटा लोगों से धर्म चर्चा हेतु खुला रखा। फिर भी सामाजिक दायित्वों से पूर्ण मुक्ति संभव नहीं थी। इसी बीच कोलकाता संघ के आग्रह से एवं अध्ययन हेतु अन्य सुविधाओं को देखते हुए पूज्याश्री ने इनका चातुर्मास कलकत्ता घोषित

कर दिया। पूज्याश्री से अलग हुए सौम्याजी को करीब सात महीने हो चुके थे। चातुर्मास सम्मुख था और वे अपनी जिम्मेदारी पर प्रथम बार स्वतंत्र चातुर्मास करने वाली थी।

जेठ महीने की भीषण गर्मी में उन्होंने गुरुवर्य्याश्री के दर्शनार्थ जाने का मानस बनाया और ऊपर से मानसून सिना ताने खड़ा था। अध्ययन कार्य पूर्ण करने हेतु समयावधि की तलवार तो उनके ऊपर लटक ही रही थी। इन परिस्थितियों में उन्होंने 35-40 कि.मी. प्रतिदिन की रफ्तार से दुर्गापुर की तरफ कदम बढ़ाए। कलकत्ता से दुर्गापुर और फिर पुनः कोलकाता की यात्रा में लगभग एक महीना पढ़ाई नहींवत हुई। यद्यपि गुरुवर्य्याश्री के साथ चातुर्मासिक कार्यक्रमों की जिम्मेदारियाँ इन्हीं की होती है फिर भी अध्ययन आदि के कारण इनकी मानसिकता चातुर्मास संभालने की नहीं थी और किसी दृष्टि से उचित भी था। क्योंकि सबसे बड़े होने के कारण प्रत्येक कार्यभार का वहन इन्हीं को करना था अतः दो माह तक अध्ययन की गति पर पुनः ब्रेक लग गया। पूज्या श्री हमेशा फरमाती है कि–

जो जो देखा वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे।।

सौम्याजी ने भी गुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर संघ-समाज को समय ही नहीं अपितु भौतिकता में भटकते हुए मानव को धर्म की सही दिशा भी दिखाई। वर्तमान परिस्थितियों पर उनकी आम चर्चा से लोगों में धर्म को देखने का एक नया नजरिया विकसित हुआ। गुरुवर्य्याश्री एवं हम सभी को आन्तरिक आनंद की अनुभूति हो रही थी किन्तु सौम्याजी को वापस दुगुनी गति से अध्ययन में जुड़ना था। इधर कोलकाता संघ ने पूर्ण प्रयास किए फिर भी हिन्दी भाषा का कोई अच्छा कम्पोजर न मिलने से कम्पोजिंग कार्य बनारस में करवाया गया। दूरस्थ रहकर यह सब कार्य करवाना उनके लिए एक विषम समस्या थी। परंतु अब शायद वे इन सबके लिए सध गई थी, क्योंकि उनका यह कार्य ऐसी ही अनेक बाधाओं का सामना कर चुका था।

उधर सैंथिया चातुर्मास में पूज्याश्री का स्वास्थ्य अचानक दो-तीन बार बिगड़ गया। अतः वर्षावास पूर्णकर पूज्य गुरूवर्य्या श्री पुनः कोलकाता की ओर पधारी। सौम्याजी प्रसन्न थी क्योंकि गुरूवर्य्या श्री स्वयं उनके पास पधार रही थी।

गुरुजनों की निश्रा प्राप्त करना हर विनीत शिष्य का मनेच्छित होता है। पूज्या श्री के आगमन से वे सामाजिक दायित्वों से मुक्त हो गई थी। अध्ययन के अन्तिम पड़ाव में गुरूवर्य्या श्री का साथ उनके लिए सुवर्ण संयोग था क्योंकि प्राय: शोध कार्य के दौरान पूज्याश्री उनसे दूर रही थी।

शोध समय पूर्णाहुति पर था। परंतु इस बृहद कार्य को इतनी विषमताओं के भंवर में फँसकर पूर्णता तक पहुँचाना एक कठिन कार्य था। कार्य अपनी गति से चल रहा था और समय अपनी धुरी पर। सबमिशन डेट आने वाली थी किन्तु कम्पोजिंग एवं प्रूफ रीडिंग आदि का काफी कार्य शेष था।

पूज्याश्री के प्रति अनन्य समर्पित श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा को जब इस स्थिति के बारे में ज्ञात हुआ तो उन्होंने युनिवर्सिटी द्वारा समयावधि बढ़ाने हेतु अर्जी पत्र देने का सुझाव दिया। उनके हार्दिक प्रयासों से 6 महीने का एक्सटेंशन प्राप्त हुआ। इधर पूज्या श्री तो शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा सम्पन्न कर अन्य क्षेत्रों की ओर बढ़ने की इच्छुक थी। परंतु भविष्य के गर्भ में क्या छुपा है यह कोई नहीं जानता। कुछ विशिष्ट कारणों के चलते कोलकाता भवानीपुर स्थित शंखेश्वर मन्दिर की प्रतिष्ठा चातुर्मास के बाद होना निश्चित हुआ। अत: अब आठ-दस महीने तक बंगाल विचरण निश्चित था। सौम्याजी को अप्रतिम संयोग मिला था कार्य पूर्णता के लिए।

शासन देव उनकी कठिन से कठिन परीक्षा ले रहा था। शायद विषमताओं की अग्नि में तपकर वे सौम्याजी को खरा सोना बना रहे थे। कार्य अपनी पूर्णता की ओर पहुँचता इसी से पूर्व उनके द्वारा लिखित 23 खण्डों में से एक खण्ड की मूल कॉपी गुम हो गई। पुन: एक खण्ड का लेखन और समयावधि की अल्पता ने समस्याओं का चक्रव्यूह सा बना दिया। कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। जिनपूजा क्रिया विधानों का एक मुख्य अंग है अत: उसे गौण करना या छोड़ देना भी संभव नहीं था। चांस लेते हुए एक बार पुन: Extension हेतु निवेदन पत्र भेजा गया। मुनि जीवन की कठिनता एवं शोध कार्य की विशालता के मद्देनजर एक बार पुन: चार महीने की अवधि युनिवर्सिटी के द्वारा प्राप्त हुई।

शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा निमित्त सम्पूर्ण साध्वी मंडल का चातुर्मास बकुल बगान स्थित लीलीजी मणिलालजी सुखानी के नूतन बंगले में होना निश्चित हुआ।

पूज्याश्री ने खडगपुर, टाटानगर आदि क्षेत्रों की ओर विहार किया। पाँच-छह साध्वीजी अध्ययन हेतु पौशाल में ही रूके थे। श्री जिनरंगसूरि पौशाल कोलकाता बड़ा बाजार में स्थित है। साधु-साध्वियों के लिए यह अत्यंत शाताकारी स्थान है। सौम्याजी को बनारस से कोलकाता लाने एवं अध्ययन पूर्ण करवाने में पौशाल के ट्रस्टियों की विशेष भूमिका रही है। सौम्याजी ने अपना अधिकांश अध्ययन काल वहाँ व्यतीत किया।

ट्रस्टीगण श्री कान्तिलालजी, कमलचंदजी, विमलचंदजी, मणिलालजी आदि ने भी हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की। संघ-समाज के सामान्य दायित्वों से बचाए रखा। इसी अध्ययन काल में बीकानेर हाल कोलकाता निवासी श्री खेमचंदजी बांठिया ने आत्मीयता पूर्वक सेवाएँ प्रदान कर इन लोगों को निश्चिन्त रखा। इसी तरह अनन्य सेवाभावी श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत (लालाबाबू) जो सौम्याजी को बहनवत मानते हैं उन्होंने एक भाई के समान उनकी हर आवश्यकता का ध्यान रखा। कलकत्ता संघ सौम्याजी के लिए परिवारवत ही हो गया था। सम्पूर्ण संघ की एक ही भावना थी कि उनका अध्ययन कोलकाता में ही पूर्ण हो।

पूज्याश्री टाटानगर से कोलकाता की ओर पधार रही थी। सुयोग्या साध्वी सम्यग्दर्शनाजी उग्र विहार कर गुरुवर्य्याश्री के पास पहुँची थी। सौम्याजी निश्चिंत थी कि इस बार चातुर्मासिक दायित्व सुयोग्या सम्यग दर्शनाजी महाराज संभालेंगे। वे अपना अध्ययन उचित समयावधि में पूर्ण कर लेंगे। परंतु परिस्थिति विशेष से सम्यगजी महाराज का चातुर्मास खडगपुर ही हो गया।

सौम्याजी की शोधयात्रा में संघर्षों की समाप्ति ही नहीं हो रही थी। पुस्तक लेखन, चातुर्मासिक जिम्मेदारियाँ और प्रतिष्ठा की तैयारियाँ कोई समाधान दूर-दूर तक नजर नहीं आ रहा था। अध्ययन की महत्ता को समझते हुए पूज्याश्री एवं अमिताजी सुखानी ने उन्हें चातुर्मासिक दायित्वों से निवृत्त रहने का अनुनय किया किन्तु गुरु की शासन सेवा में सहयोगी बनने के लिए इन्होंने दो महीने गुरुवर्य्या श्री के साथ चातुर्मासिक दायित्वों का निर्वाह किया। फिर वह अपने अध्ययन में जुट गई।

कई बार मन में प्रश्न उठता कि हमारी प्यारी सौम्या इतना साहस कहाँ से लाती है। किसी कवि की पंक्तियाँ याद आ रही है–

पूज्याश्री ने खडगपुर, टाटानगर आदि क्षेत्रों की ओर विहार किया। पाँच-छह साध्वीजी अध्ययन हेतु पौशाल में ही रूके थे। श्री जिनरंगसूरि पौशाल कोलकाता बड़ा बाजार में स्थित है। साधु-साध्वियों के लिए यह अत्यंत शाताकारी स्थान है। सौम्याजी को बनारस से कोलकाता लाने एवं अध्ययन पूर्ण करवाने में पौशाल के ट्रस्टियों की विशेष भूमिका रही है। सौम्याजी ने अपना अधिकांश अध्ययन काल वहाँ व्यतीत किया।

ट्रस्टीगण श्री कान्तिलालजी, कमलचंदजी, विमलचंदजी, मणिलालजी आदि ने भी हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की। संघ-समाज के सामान्य दायित्वों से बचाए रखा। इसी अध्ययन काल में बीकानेर हाल कोलकाता निवासी श्री खेमचंदजी बांठिया ने आत्मीयता पूर्वक सेवाएँ प्रदान कर इन लोगों को निश्चिन्त रखा। इसी तरह अनन्य सेवाभावी श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत (लालाबाबू) जो सौम्याजी को बहनवत मानते हैं उन्होंने एक भाई के समान उनकी हर आवश्यकता का ध्यान रखा। कलकत्ता संघ सौम्याजी के लिए परिवारवत ही हो गया था। सम्पूर्ण संघ की एक ही भावना थी कि उनका अध्ययन कोलकाता में ही पूर्ण हो।

पूज्याश्री टाटानगर से कोलकाता की ओर पधार रही थी। सुयोग्या साध्वी सम्यग्दर्शनाजी उग्र विहार कर गुरुवर्य्याश्री के पास पहुँची थी। सौम्याजी निश्चिंत थी कि इस बार चातुर्मासिक दायित्व सुयोग्या सम्यग दर्शनाजी महाराज संभालेंगे। वे अपना अध्ययन उचित समयावधि में पूर्ण कर लेंगे। परंतु परिस्थिति विशेष से सम्यगजी महाराज का चातुर्मास खडगपुर ही हो गया।

सौम्याजी की शोधयात्रा में संघर्षों की समाप्ति ही नहीं हो रही थी। पुस्तक लेखन, चातुर्मासिक जिम्मेदारियाँ और प्रतिष्ठा की तैयारियाँ कोई समाधान दूर-दूर तक नजर नहीं आ रहा था। अध्ययन की महत्ता को समझते हुए पूज्याश्री एवं अमिताजी सुखानी ने उन्हें चातुर्मासिक दायित्वों से निवृत्त रहने का अनुनय किया किन्तु गुरु की शासन सेवा में सहयोगी बनने के लिए इन्होंने दो महीने गुरुवर्य्या श्री के साथ चातुर्मासिक दायित्वों का निर्वाह किया। फिर वह अपने अध्ययन में जुट गई।

कई बार मन में प्रश्न उठता कि हमारी प्यारी सौम्या इतना साहस कहाँ से लाती है। किसी कवि की पंक्तियाँ याद आ रही है–

भवानीपुर– शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा का पावन सुयोग था। श्रुतज्ञान के बहुमान रूप 23 ग्रन्थों का भी जुलूस निकाला गया। सम्पूर्ण कोलकाता संघ द्वारा उनकी वधामणी की गई। यह एक अनुमोदनीय एवं अविस्मरणीय प्रसंग था।

बस मन में एक ही कसक रह गई कि मैं इस पूर्णाहुति का हिस्सा नहीं बन पाई।

आज सौम्याजी की दीर्घ शोध यात्रा को पूर्णता के शिखर पर देखकर नि:सन्देह कहा जा सकता है कि पूज्या प्रवर्त्तिनी म.सा. जहाँ भी आत्म साधना में लीन है वहाँ से उनकी अनवरत कृपा दृष्टि बरस रही है। शोध कार्य पूर्ण होने के बाद भी सौम्याजी को विराम कहाँ था? उनके शोध विषय की त्रैकालिक प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुए उन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। पुस्तक प्रकाशन सम्बन्धी सभी कार्य शेष थे तथा पुस्तकों का प्रकाशन कोलकाता से ही हो रहा था। अत: कलकत्ता संघ के प्रमुख श्री कान्तिलालजी मुकीम, विमलचंदजी महमवाल, श्राविका श्रेष्ठा प्रमिलाजी महमवाल, विजयेन्द्रजी संखलेचा आदि ने पूज्याश्री के सम्मुख सौम्याजी को रोकने का निवेदन किया। श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत, श्री मणिलालजी दूसाज आदि भी निवेदन कर चुके थे। यद्यपि अजीमगंज दादाबाड़ी प्रतिष्ठा के कारण रोकना असंभव था परंतु मुकिमजी के अत्याग्रह के कारण पूज्याश्री ने उन्हें कुछ समय के लिए वहाँ रहने की आज्ञा प्रदान की।

गुरूवर्य्या श्री के साथ विहार करते हुए सौम्यागुणाजी को तीन Stop जाने के बाद वापस आना पड़ा। दादाबाड़ी के समीपस्थ शीतलनाथ भवन में रहकर उन्होंने अपना कार्य पूर्ण किया। इस तरह इनकी सम्पूर्ण शोध यात्रा में कलकत्ता एक अविस्मरणीय स्थान बनकर रहा।

क्षणै: क्षणै: बढ़ रहे उनके कदम अब मंजिल पर पहुँच चुके हैं। आज जो सफलता की बहुमंजिला इमारत इस पुस्तक श्रृंखला के रूप में देख रहे हैं वह मजबूत नींव इन्होंने अपने उत्साह, मेहनत और लगन के आधार पर रखी है। सौम्यगुणाजी का यह विशद् कार्य युग-युगों तक एक कीर्तिस्तम्भ के रूप में स्मरणीय रहेगा। श्रुत की अमूल्य निधि में विधि-विधान के रहस्यों को उजागर करते हुए उन्होंने जो कार्य किया है वह आने वाली भावी पीढ़ी के लिए आदर्श रूप रहेगा। लोक परिचय एवं लोकप्रसिद्धि से दूर रहने के कारण ही आज वे इस

बृहद् कार्य को सम्पन्न कर पाई हैं। मैं परमात्मा से यही प्रार्थना करती हूँ कि वे सदा इसी तरह श्रुत संवर्धन के कल्याण पथ पर गतिशील रहे। अंततः उनके अडिग मनोबल की अनुमोदना करते हुए यही कहूँगी–

प्रगति शिला पर चढ़ने वाले बहुत मिलेंगे,
कीर्तिमान करने वाला तो विरला होता है।
आंदोलन करने वाले तो बहुत मिलेंगे,
दिशा बदलने वाला कोई निराला होता है।
तारों की तरह टिम-टिमाने वाले अनेक होते हैं,
पर सूरज बन रोशन करने वाला कोई एक ही होता है।
समय गंवाने वालों से यह दुनिया भरी है,
पर इतिहास बनाने वाला कोई सौम्य सा ही होता है।
प्रशंसा पाने वाले जग में अनेक मिलेंगे,
प्रिय बने सभी का ऐसा कोई सज्जन ही होता है ।।

●

हार्दिक अभिव्यंजना

किसी कवि ने बहुत ही सुन्दर कहा है–

धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सो घड़ा, ऋतु आवत फल होय।।

हर कार्य में सफलता समय आने पर ही प्राप्त होती है। एक किसान बीज बोकर साल भर तक मेहनत करता है तब जाकर उसे फसल प्राप्त होती है। चार साल तक College में मेहनत करने के बाद विद्यार्थी Doctor, Engineer या MBA होता है।

साध्वी सौम्यगुणाजी आज सफलता के जिस शिखर पर पहुँची है उसके पीछे उनकी वर्षों की मेहनत एवं धैर्य नींव रूप में रहे हुए हैं। लगभग 30 वर्ष पूर्व सौम्याजी का आगमन हमारे मण्डल में एक छोटी सी गुड़िया के रूप में हुआ था। व्यवहार में लघुता, विचारों में सरलता एवं बुद्धि की श्रेष्ठता उनके प्रत्येक कार्य में तभी से परिलक्षित होती थी। ग्यारह वर्ष की निशा जब पहली बार पूज्याश्री के पास वैराग्यवासित अवस्था में आई तब मात्र चार माह की अवधि में प्रतिक्रमण, प्रकरण, भाष्य,कर्मग्रन्थ, प्रात:कालीन पाठ आदि कंठस्थ कर लिए थे। उनकी तीव्र बुद्धि एवं स्मरण शक्ति की प्रखरता के कारण पूज्य छोटे म.सा. (पूज्य शशिप्रभा श्रीजी म.सा.) उन्हें अधिक से अधिक चीजें सिखाने की इच्छा रखते थे।

निशा का बाल मन जब अध्ययन से उक्ता जाता और बाल सुलभ चेष्टाओं के लिए मन उत्कंठित होने लगता, तो कई बार वह घंटों उपाश्रय की छत पर तो कभी सीढ़ियों में जाकर छुप जाती ताकि उसे अध्ययन न करना पड़े। परंतु यह उसकी बाल क्रीड़ाएँ थी। 15-20 गाथाएँ याद करना उसके लिए एक सहज बात थी। उनके अध्ययन की लगन एवं सीखने की कला आदि के अनुकरण की प्रेरणा आज भी छोटे म.सा. आने वाली नई मंडली को देते हैं। सूत्रागम अध्ययन, ज्ञानार्जन, लेखन, शोध आदि के कार्य में उन्होंने जो श्रृंखला प्रारम्भ की है आज सज्जनमंडल में उसमें कई कड़ियाँ जुड़ गई हैं परन्तु मुख्य कड़ी तो

मुख्य ही होती है। ये सभी के लिए प्रेरणा बन रही हैं किन्तु इनके भीतर जो प्रेरणा आई वह कहीं न कहीं पूज्य गुरुवर्य्या श्री की असीम कृपा है।

उच्च उड़ान नहीं भर सकते
तुच्छ बाहरी चमकीले पर
महत कर्म के लिए चाहिए
महत प्रेरणा बल भी भीतर

यह महत प्रेरणा गुरु कृपा से ही प्राप्त हो सकती है। विनय, सरलता, शालीनता, ऋजुता आदि गुण गुरुकृपा की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

सौम्याजी का मन शुरू से सीधा एवं सरल रहा है। सांसारिक कपट-माया या व्यवहारिक औपचारिकता निभाना इनके स्वभाव में नहीं है। पूज्य प्रवर्तिनीजी म.सा. को कई बार ये सहज में कहती **'महाराज श्री!' मैं तो आपकी कोई सेवा नहीं करती, न ही मुझमें विनय है, फिर मेरा उद्धार कैसे होगा, मुझे गुरु कृपा कैसे प्राप्त होगी?' तब पूज्याश्री फरमाती– 'सौम्या! तेरे ऊपर तो मेरी अनायास कृपा है, तूं चिंता क्यों करती है? तूं तो महान साध्वी बनेगी।'** आज पूज्याश्री की ही अन्तस शक्ति एवं आशीर्वाद का प्रस्फोटन है कि लोकैषणा, लोक प्रशंसा एवं लोक प्रसिद्धि के मोह से दूर वे श्रुत सेवा में सर्वात्मना समर्पित हैं। जितनी समर्पित वे पूज्या श्री के प्रति थी उतनी ही विनम्र अन्य गुरुजनों के प्रति भी। गुरु भगिनी मंडल के कार्यों के लिए भी वे सदा तत्पर रहती हैं। चाहे बड़ों का कार्य हो, चाहे छोटों का उन्होंने कभी किसी को टालने की कोशिश नहीं की। चाहे प्रियदर्शना श्रीजी हो, चाहे दिव्यदर्शना श्रीजी, चाहे शुभदर्शनाश्रीजी हो, चाहे शीलगुणा जी आज तक सभी के साथ इन्होंने लघु बनकर ही व्यवहार किया है। कनकप्रभाजी, संयमप्रज्ञाजी आदि लघु भगिनी मंडल के साथ भी इनका व्यवहार सदैव सम्मान, माधुर्य एवं अपनेपन से युक्त रहा है। ये जिनके भी साथ चातुर्मास करने गई हैं उन्हें गुरुवत सम्मान दिया तथा उनकी विशिष्ट आन्तरिक मंगल कामनाओं को प्राप्त किया है। पूज्या विनीता श्रीजी म.सा., पूज्या मणिप्रभाश्रीजी म.सा., पूज्या हेमप्रभा श्रीजी म.सा., पूज्या सुलोचना श्रीजी म.सा., पूज्या विद्युतप्रभाश्रीजी म.सा. आदि की इन पर विशेष कृपा रही है। पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा., आचार्य श्री पद्मसागरसूरिजी म.सा., आचार्य श्री कीर्तियशसूरिजी आदि ने इन्हें अपना

स्नेहाशीष एवं मार्गदर्शन दिया है। आचार्य श्री राजयशसूरिजी म.सा., पूज्य भ्राता श्री विमलसागरजी म.सा. एवं पूज्य वाचंयमा श्रीजी (बहन) म.सा. इनका Ph.D. एवं D.Litt. का विषय विधि-विधानों से सम्बन्धित होने के कारण इन्हें 'विधिप्रभा' नाम से ही बुलाते हैं।

पूज्या शशिप्रभाजी म.सा. ने अध्ययन काल के अतिरिक्त इन्हें कभी भी अपने से अलग नहीं किया और आज भी हम सभी गुरु बहनों की अपेक्षा गुरु निश्रा प्राप्ति का लाभ इन्हें ही सर्वाधिक मिलता है। पूज्याश्री के चातुर्मास में अपने विविध प्रयासों के द्वारा चार चाँद लगाकर ये उन्हें और भी अधिक जानदार बना देती हैं।

तप-त्याग के क्षेत्र में तो बचपन से ही इनकी विशेष रुचि थी। नवपद की ओली का प्रारम्भ इन्होंने गृहस्थ अवस्था में ही कर दिया था। इनकी छोटी उम्र को देखकर छोटे म.सा. ने कहा– देखो! तुम्हें तपस्या के साथ उतनी ही पढ़ाई करनी होगी तब तो ओलीजी करना अन्यथा नहीं। ये बोली– मैं रोज पन्द्रह नहीं बीस गाथा करूंगी आप मुझे ओलीजी करने दीजिए और उस समय ओलीजी करके सम्पूर्ण प्रातःकालीन पाठ कंठाग्र किये। बीसस्थानक, वर्धमान, नवपद, मासक्षमण, श्रेणी तप, चत्तारि अट्ठ दस दोय, पैंतालीस आगम, ग्यारह गणधर, चौदह पूर्व, अट्ठाईस लब्धि, धर्मचक्र, पखवासा आदि कई छोटे-बड़े तप करते हुए इन्होंने अध्ययन एवं तपस्या दोनों में ही अपने आपको सदा अग्रसर रखा।

आज उनके वर्षों की मेहनत की फलश्रुति हुई है। जिस शोध कार्य के लिए वे गत 18 वर्षों से जुटी हुई थी उस संकल्पना को आज एक मूर्त्त स्वरूप प्राप्त हुआ है। अब तक सौम्याजी ने जिस धैर्य, लगन, एकाग्रता, श्रुत समर्पण एवं दृढ़निष्ठा के साथ कार्य किया है वे उनमें सदा वृद्धिंगत रहे। पूज्य गुरुवर्य्या श्री के नक्षे कदम पर आगे बढ़ते हुए वे उनके कार्यों को और नया आयाम दें तथा श्रुत के क्षेत्र में एक नया अवदान प्रस्तुत करें। इन्हीं शुभ भावों के साथ–

गुरु भगिनी मण्डल

अनुभूति के बोल

प्रतिक्रमण की क्रिया एक महायोग है। योग अर्थात मोक्ष के साथ आत्मा को जोड़ने वाली साधना। मोक्ष प्राप्ति रूप योग में बाह्य और आभ्यन्तर तप का समावेश होता है। उसमें आभ्यन्तर तप उत्कृष्ट है और आभ्यन्तर तप में भी प्रायश्चित्त का प्रथम स्थान है। प्रतिक्रमण में पापों का प्रायश्चित्त होता है इसलिए योगों में उसका उच्च स्थान होने से प्रतिक्रमण को महायोग कह सकते हैं।

दूसरा कारण यह है कि प्रतिक्रमण में विनय, ध्यान, कायोत्सर्ग और स्वाध्याय भी आते हैं इससे भी यह महायोग है। कुछ जन समझते हैं कि प्रतिक्रमण तो व्रतधारी श्रावक-श्राविकाओं के लिए ही है क्योंकि उनके द्वारा गृहीत व्रत में अतिचार लगे हों तो उसकी शुद्धि प्रतिक्रमण से होती है। परन्तु यह समझ अधूरी है। शास्त्र में 'पडिसिद्धाणं करणे...' इस गाथा में चार हेतुओं से प्रतिक्रमण करने का निर्देश है। तदनुसार प्रतिक्रमण क्रिया अव्रती के लिए भी आवश्यक है।

संसारी आत्मा में अनेकानेक मलिन वृत्तियाँ हैं। उन दुष्ट भावों को समाप्त करने के लिए उनके प्रतिरोधक तत्त्व चाहिए। एक प्रतिकार से सभी दोष नष्ट नहीं हो सकते। जैसे आँखों में रोशनी की कमी, कान में बहरापन, स्वर का भंग, पैर दर्द आदि अनेक रोगों को दूर करने के लिए उतनी ही दवाईयों की आवश्यकता होती है वैसे ही आत्मा के अनेक जाति के रोगों का निवारण करने के लिए अनेक उपाय खोजने होंगे। प्रतिक्रमण की क्रिया में तथाविध अनेक उपायों का समावेश है इसीलिए प्रतिक्रमण को महायोग कहा है।

यद्यपि प्रतिक्रमण षडावश्यक में समाविष्ट है फिर भी उन छहों में प्रतिक्रमण का महत्त्व कुछ विशिष्ट है। षडावश्यक की शेष क्रियाएँ पृथक्-पृथक् अन्य समय में भी की जा सकती है जैसे– सामायिक की साधना व्यक्ति जब चाहे तब कर सकता है। वंदन क्रिया, चतुर्विंशतिस्तव आदि भी अन्य-अन्य समय में और अनेक बार स्वेच्छा से की जा सकती है किन्तु प्रतिक्रमण की क्रिया का समय निर्धारित है। परिस्थितिवश या अपवाद रूप कभी कोई साधक

उससे च्युत भले ही हो जाए परन्तु उसे अन्य काल में कर नहीं सकते। शेष आवश्यकों में परगुणों का चिंतन किया जाता है, वहीं इसमें स्व दोषों का परिशीलन एवं परिशोधन कर स्वयं को शुद्ध बनाया जाता है। कई लोगों की मान्यता है कि प्रतिक्रमण की क्रिया पापों का क्षय कर पुन: पाप कार्य करने की छूट प्रदान करती है किन्तु यह भ्रमित मान्यता है। क्योंकि किसी भी गलत कार्य को पुन: पुन: करते हुए उसकी माफी मांगते जाएं तो यह मात्र एक थोथी परम्परा का रटन होगा, जबकि प्रतिक्रमण कुसंस्कारों को विगलित करने का अचूक उपाय है।

जैन धर्म में स्वकृत पाप आलोचना की यह क्रिया अन्य धर्मों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। इतर धर्मों में भी धर्म गुरुओं के समक्ष पाप प्रकट करने का प्रावधान है जैसे– ईसाईयों में पादरी (फादर) के समक्ष कृत दोषों को गुप्त रहकर प्रकट किया जाता है। बौद्ध परम्परा में भी स्वकृत अपराधों का प्रायश्चित्त धर्म गुरुओं से ग्रहण किया जाता है परन्तु जो सूक्ष्मता एवं नियमितता पाप आलोचन के लिए जैन धर्म में है वह अन्यत्र नहीं है।

इस शोध प्रबन्ध में प्रतिक्रमण सम्बन्धी कई शंकाओं का समाधान एवं विविध जन धारणाओं तथा प्रश्नों का निवारण करने का प्रयास करते हुए जैन धर्म में प्रचलित समस्त परम्पराओं की प्रतिक्रमण विधियाँ एवं उनका तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। साथ ही वैदिक एवं बौद्ध परम्पराओं से भी उसका तुलना पक्ष उजागर करते हुए इसे बहुजन उपयोगी बनाने का प्रयास किया है। इस तरह यह शोध खण्ड निम्न सात अध्यायों में विभक्त है।

प्रथम अध्याय में प्रतिक्रमण अर्थ का विश्लेषण करते हुए उसकी अनेक परिभाषाएँ बताई गई है। इसी के साथ प्रतिक्रमण कब करना चाहिए? इस सन्दर्भ में प्रतिक्रमण के दो, तीन यावत आठ प्रकारों का उल्लेख किया गया है।

द्वितीय अध्याय में प्रतिक्रमण आवश्यक क्यों, प्रतिक्रमण किसका, प्रतिक्रमण किसलिए? आदि क्रियाविधि के गूढ़ रहस्यों का अनेक दृष्टियों से विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय प्रतिक्रमण करने वाले आराधकों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि इसमें प्रतिक्रमण उपयोगी सभी सूत्रों का भावार्थ एवं उसकी प्राचीनता बताते हुए कौनसा सूत्र किस मुद्रा में और उन मुद्राओं का बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रभाव क्या है? ऐसे रुचिकर विषयों का विवेचन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय प्रतिक्रमण अधिकारियों के लिए और भी मूल्यवान है, क्योंकि इसमें समस्त परम्पराओं में प्रचलित प्रतिक्रमण विधियों का मौलिक स्वरूप दर्शाया गया है जिससे आराधक अपनी सामाचारी के प्रति भ्रमित न हों। इसमें वर्तमान प्रचलित प्रतिक्रमण विधियों की पूर्ववर्ती ग्रन्थों से तुलना भी की गई है, जिससे प्रतिक्रमण का ऐतिहासिक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

पंचम अध्याय में प्रतिक्रमण की प्रत्येक विधि के हेतु बताए गए हैं तथा आधुनिक सन्दर्भों में उभरते तत्सम्बन्धी जिज्ञासाओं का सटीक समाधान किया गया है। इस अध्याय के माध्यम से प्रतिक्रमण की हर क्रिया के रहस्यों एवं उसकी वैज्ञानिक क्रमिकता को भलीभाँति समझा जा सकता है।

षष्ठम अध्याय प्रतिक्रमण शुद्धि पर अवलम्बित है। प्रतिक्रमण क्रिया निर्दोष रीतिपूर्वक कैसे की जा सकती है? इस सम्बन्ध में कई नियम-उपनियमों का दिग्दर्शन करवाते हुए प्रतिक्रमण का समय, वन्दना के आवश्यक, सत्रह प्रमार्जना आदि अपेक्षित विषयों का निरूपण किया गया है। इसमें प्रतिक्रमण शुद्धि की दृष्टि से छींक दोष, बिल्ली दोष, सचित्त-अचित्त रज दोष आदि की निवारण विधियाँ भी कही गई है।

सप्तम अध्याय का प्रस्तुतिकरण उपसंहार के रूप में किया गया है।

इस प्रकार प्रतिक्रमण की महत्ता, श्रेष्ठता एवं उपादेयता को प्रस्तुत करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आज के संत्रस्त और आतंकमय युग में प्रतिक्रमण हिंसा से अहिंसा, भौतिकवाद से अध्यात्मवाद, भोगवाद से योगवाद और संतप्त से शान्ति की ओर बढ़ने का श्रेष्ठतम मार्ग है। wrong side पर चलते जीवों के लिए Path Diversion है। आधुनिकता के चक्रव्यूह को भेदन करने का रहस्य है और मिथ्यात्व से सम्यक्त्व में प्रवेश पाने के लिए Turning point of life है। यह कृति अपने उद्देश्य में सफल बने ऐसी मंगल कामना करते हुए इस शोध आलेखन में हुई त्रुटियों एवं आगमकारों के विरुद्ध हुई प्ररूपणाओं के लिए अंत:करण पूर्वक मिच्छामि दुक्कडं की याचना करती हूँ।

●

वन्दना की सरगम

आज से सत्रह वर्ष पूर्व एक छोटे से लक्ष्य को लेकर लघु यात्रा प्रारंभ हुई थी। उस समय यह अनुमान कदापि नहीं था कि वह यात्रा विविध मोड़ों से गुजरते हुए इतना विशाल स्वरूप धारण कर लेगी। आज इस दुरुह मार्ग के अन्तिम पड़ाव पर पहुँचने में मेरे लिए परम आधारभूत बने जगत के सार्थवाह, तीन लोक के सिरताज, अखिल विश्व में जिन धर्म की ज्योत को प्रदीप्त करने वाले, मार्ग दिवाकर, अरिहंत परमात्मा के पाद प्रसूनों में अनेकशः श्रद्धा दीप प्रज्वलित करती हूँ। उन्हीं की श्रेयस्कारी वाणी इस सम्यक ज्ञान की आराधना में मुख्य आलंबन बनी है।

रत्नत्रयी एवं तत्त्वत्रयी के धारक, समस्त विघ्नों के निवारक, सकारात्मक ऊर्जा के संवाहक, सिद्धचक्र महायंत्र को अन्तर्हृदय से वंदना करती हूँ। इस श्रुतयात्रा के क्रम में परम हेतुभूत, भाव विशुद्धि के अधिष्ठाता, अनंत लब्धि निधान गौतम स्वामी के चरणों में भी हृदयावनत हो वंदना करती हूँ।

धर्म-स्थापना करके जग को, सत्य का मार्ग बताया है।
दिवाकर बनकर अखिल विश्व में, ज्ञान प्रकाश फैलाया है।
सर्वज्ञ अरिहंत प्रभु ने, पतवार बन पार लगाया है।
सिद्धचक्र और गुरु गौतम ने, विषमता में साहस बढ़ाया है।।

जिनशासन के समुद्धारक, कलिकाल में महान प्रभावक, जन मानस में धर्म संस्कारों के उन्नायक, चारों दादा गुरुदेव के चरणों में सश्रद्धा समर्पित हूँ। इन्हीं की कृपा से मैं रत्नत्रयात्मक साधना पथ पर अग्रसर हो पाई हूँ। इसी श्रृंखला में मैं आस्था प्रणत हूँ उन सभी आचार्य एवं मुनि भगवंतों की, जिनका आगम आलोडन एवं शस्त्र गुंफन इस कार्य के संपादन में अनन्य सहायक बना।

दत्त-मणिधर-कुशल-चन्द्र गुरु, जैन गगनांगण के ध्रुव सितारे हैं।
लक्षाधिक को जैन बनाकर, लहरायी धर्म ध्वजा हर द्वारे हैं।
श्रुत आलोडक सूरिजन मुनिजन, आगम रहस्यों को प्रकटाते हैं।
अध्यात्म योगियों के शुभ परमाणु, हर बिगड़े काज संवारे हैं।।

जिनके मन, वचन और कर्म में सत्य का तेज आप्लावित है। जिनके आचार, विचार और व्यवहार में जिनवाणी का सार समाहित है ऐसे शासन के सरताज, खरतरगच्छाचार्य श्री मज्जिन कैलाशसागरसूरीश्वरजी म.सा. के चरणारविन्द में भाव प्रणत वंदना। उन्हीं की अन्तर प्रेरणा से यह कार्य ऊँचाईयों पर पहुँच पाया है।

श्रद्धा समर्पण के इन क्षणों में प्रतिपल स्मरणीय, पुण्य प्रभावी, ज्योतिर्विद, प्रौढ़ अनुभवी , इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठों पर शासन प्रभावना की यशोगाथाएँ अंकित कर रहे पूज्य उपाध्याय भगवन्त श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. के पाद पद्मों में श्रद्धायुक्त नमन करती हूँ। आपश्री द्वारा प्रदत्त प्रेरणा एवं अनुभवी ज्ञान इस यात्रा की पूर्णता में अनन्य सहायक रहा है।

इसी श्रृंखला में असीम उपकारों का स्मरण करते हुए श्रद्धानत हूँ अनुभव के श्वेत नवनीत, उच्च संकल्पनाओं के स्वामी, राष्ट्रसंत पूज्य पद्मसागरसूरीश्वर जी म.सा. के पादारविन्द में। आपश्री द्वारा प्रदत्त सहज मार्गदर्शन एवं कोबा लाइब्रेरी से पुस्तकों का भरपूर सहयोग प्राप्त हुआ। आपश्री के निश्रारत सहजमना पूज्य गणिवर्य प्रशांतसागरजी म.सा. एवं सरस्वती उपासक, भ्राता मुनि श्री विमलसागरजी म.सा. ने भी इस ज्ञान यात्रा में हर तरह का सहयोग देते हुए कार्य को गति प्रदान की।

मैं हृदयावनत हूँ प्रभुत्वशील एवं स्नेहशील व्यक्तित्व के नायक, छत्तीस गुणों के धारक, युग प्रभावक पूज्य कीर्तियशसूरीश्वरजी म.सा. के चरण कमलों में, जिनकी असीम कृपा से इस शोध कार्य में नवीन दिशा प्राप्त हुई। आप श्री के विद्वद् शिष्य पूज्य रत्नयश विजयजी म.सा. द्वारा प्राप्त दिशानिर्देश कार्य पूर्णता में विशिष्ट आलम्बनभूत रहे।

कृतज्ञता ज्ञापन की इस कड़ी में विनयावनत हूँ शासन प्रभावक पूज्य राजयश सूरीश्वरजी म.सा. एवं मृदु व्यवहारी पूज्य वाचंयमा श्रीजी म.सा. (बहन महाराज) के चरणों में, जिन्होंने अहमदाबाद प्रवास के दौरान हृदयगत शंकाओं का सम्यक समाधान किया।

मैं भावप्रणत हूँ संयम अनुपालक, जग वल्लभ, नव्य अन्वेषक पूज्य आचार्य श्री गुणरत्नसागर सूरीश्वरजी म.सा. के चरणों में, जिन्होंने अप्रत्यक्ष

रूप से जिज्ञासाओं को उपशांत किया एवं अचलगच्छ परम्परा सम्बन्धी सूक्ष्म विधानों के रहस्यों से अवगत करवाया।

मैं आस्था प्रणत हूँ लाडनूं विश्व भारती के स्वर्ण पुरुष, श्रुत सागर के गूढ़ अन्वेषक, कुशल अनुशास्ता, आचार्य श्री महाप्रज्ञजी एवं आचार्य श्री महाश्रमणजी के पद पंकजों में, आप श्री की सृजनात्मक संरचनाओं के माध्यम से यह कार्य अथ से इति तक पहुँच पाया है।

इसी क्रम में मैं नतमस्तक हूँ शासन उन्नायक, संघ प्रभावक, त्रिस्तुतिक गच्छाधिपति पूज्य आचार्यप्रवर श्री जयंतसेन सूरीश्वरजी म.सा. के चरण पुंज में, जिन्होंने यथायोग्य सहायता देकर कार्य पूर्णाहुति में सहयोग दिया।

मैं श्रद्धाप्रणत हूँ शासक प्रभावक, क्रान्तिकारी संत श्री तरुणसागरजी म.सा. के चरण सरोज में, जिन्होंने अपने व्यस्त कार्यक्रमों में भी मुझे अपना अमूल्य समय देकर यथायोग्य समाधान दिए।

मैं अंतःकरण पूर्वक आभारी हूँ शासन प्रभावक, मधुर गायक प.पू. पीयूषसागरजी म.सा. एवं प्रखर वक्ता प.पू. सम्यकरत्न सागरजी म.सा. के प्रति, जिन्होंने हर समय समुचित समस्याओं का समाधान देने में रुचि एवं तत्परता दिखाई। सच कहूं तो

जिनके सफल अनुशासन में, वृद्धिंगत होता जिनशासन।
माली बनकर जो करते हैं, संघ शासन का अनुपालन॥
कैलास गिरी सम जो करते रक्षा, भौतिकता के आंधी तूफानों से।
अमृत पीयूष बरसाते हरदम, मणि अपने शांत विचारों से॥
कर संशोधन किया कार्य प्रमाणित, दिया सद्ग्रन्थों का ज्ञान।
कीर्तियश है रत्न सम जग में, पद्म कृपा से किया ज्ञानामृत पान॥
सकल विश्व में गूंज रहा है, राजयश जयंतसेन का नाम।
गुणरत्न की तरुण स्फूर्ति से, महाप्रज्ञ बने श्रमण वीर समान॥

इस श्रुत गंगा में चेतन मन को सदा आप्लावित करते रहने की परोक्ष प्रेरणा देने वाली, जीवन निर्मात्री, अध्यात्म गंगोत्री, आशु कवयित्री, चौथे कालखण्ड में जन्म लेने वाली भव्य आत्माओं के समान प्राज्ञ एवं ऋजुस्वभावधारिणी, प्रवर्त्तिनी महोदया, गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. के

पाद-प्रसूनों में अनन्तानन्त वंदन करती हूँ, क्योंकि यह जो कुछ भी लिखा गया है वह सब उन्हीं के कृपाशीष की फलश्रुति है अत: उनके पवित्र चरणों में पुनश्च श्रद्धा के पुष्प अर्पित करती हूँ।

उपकार स्मरण की इस कड़ी में मैं आस्था प्रणत हूँ वात्सल्य वारिधि, महतरा पद विभूषिता पूज्या विनिता श्रीजी म.सा., पूज्या प्रवर्त्तिनी चन्द्रप्रभा श्रीजी म.सा., स्नेह पुंज पूज्य कीर्तिप्रभा श्रीजी म.सा., ज्ञान प्रौढ़ा पूज्य दिव्यप्रभा श्रीजी म.सा., सरलमना पूज्य चन्द्रकलाश्रीजी म.सा., मरुधर ज्योति पूज्य मणिप्रभा श्रीजी म.सा., स्नेह गंगोत्री पूज्य मनोहर श्रीजी म.सा., मंजुल स्वभावी पूज्य सुलोचना श्रीजी म.सा., विद्या वारिधि पूज्य विद्युतप्रभा श्रीजी म.सा. आदि सभी पूज्यवर्य्याओं के चरणों में, जिनकी मंगल कामनाओं ने मेरे मार्ग को निष्कंटक बनाने एवं लक्ष्य प्राप्ति में सेतु का कार्य किया।

गुरु उपकारों को स्मृत करने की इस वेला में अथाह श्रद्धा के साथ कृतज्ञ हूँ त्याग-तप-संयम की साकार मूर्ति, श्रेष्ठ मनोबली, पूज्या सज्जनमणि श्री शशिप्रभा श्रीजी म.सा. के प्रति, जिनकी अन्तर प्रेरणा ने ही मुझे इस महत् कार्य के लिए कटिबद्ध किया और विषम बाधाओं में भी साहस जुटाने का आत्मबल प्रदान किया। चन्द शब्दों में कहूँ तो

आगम ज्योति गुरुवर्य्या ने, ज्ञान पिपासा का दिया वरदान।
अनायास कृपा वृष्टि ने जगाया, साहस और अंतर में लक्ष्य का भान।।
शशि चरणों में रहकर पाया, आगम-ग्रन्थों का सुदृढ़ ज्ञान।
स्नेह आशीष पूज्यवर्य्याओं का, सफलता पाने में बना सौपान।।

कृतज्ञता ज्ञापन के इस अवसर पर मैं अपनी समस्त गुरु बहिनों का भी स्मरण करना चाहती हूँ, जिन्होंने मेरे लिए सदभावनाएँ ही संप्रेषित नहीं की, अपितु मेरे कार्य में यथायोग्य सहयोग भी दिया।

मेरी निकटतम सहयोगिनी ज्येष्ठ गुरुबहिना पू. प्रियदर्शना श्रीजी म.सा., संयमनिष्ठा पू. जयप्रभा श्रीजी म.सा., सेवामूर्ति पू. दिव्यदर्शना श्रीजी म.सा. जाप परायणी पू. तत्वदर्शना श्रीजी म.सा., प्रवचनपटु पू. सम्यकदर्शना श्रीजी म.सा., सरलहृदयी पू. शुभदर्शना श्रीजी म.सा., प्रसन्नमना पू. मुदितप्रज्ञा श्रीजी म.सा., व्यवहार निपुणा शीलगुणा जी, मधुरभाषी कनकप्रभा श्रीजी, हंसमुख

स्वभावी संयमप्रज्ञा श्रीजी, संवेदनहृदयी श्रुतदर्शना जी आदि सर्व के अवदान को भी विस्मृत नहीं कर सकती हूँ।

साध्वीद्वया सरलमना **स्थितप्रज्ञाजी** एवं मौन साधिका **संवेगप्रज्ञाजी** के प्रति विशेष आभार अभिव्यक्त करती हूँ क्योंकि इन्होंने प्रस्तुत शोध कार्य के दौरान व्यावहारिक औपचारिकताओं से मुक्त रखने, प्रूफ संशोधन करने एवं हर तरह की सेवाएँ प्रदान करने में अद्वितीय भूमिका अदा की। साथ ही गुर्वाज्ञा को शिरोधार्य कर ज्ञानोपासना के पलों में निरन्तर मेरी सहचरी बनी रही।

इसी के साथ अल्प भाषिणी सुश्री मोनिका बैराठी (जयपुर) एवं शान्त स्वभावी सुश्री सीमा छाजेड़ (मालेगाँव) को साधुवाद देती हुई उनके उज्ज्वल भविष्य की तहेदिल से कामना करती हूँ क्योंकि शोध कार्य के दौरान दोनों मुमुक्षु बहिनों ने हर तरह की सेवाएँ प्रदान की।

अन्तर्विश्वास भगिनी मंडल का, देती दुआएँ सदा मुझको।
प्रिय का निर्देशन और सम्यक बुद्धि, मुदित करे अन्तर मन को।
स्थित संवेग की श्रुत सेवाएँ, याद रहेगी नित मुझको।
इस कार्य में नाम है मेरा, श्रेय जाता सज्जन मण्डल को।।

इस शोध प्रबन्ध के प्रणयन काल में जिनका मार्गदर्शन अहम् स्थान रखता है ऐसे जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्मदर्शन के निष्णात विद्वान, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर के संस्थापक, पितृ वात्सल्य से समन्वित, आदरणीय डॉ. सागरमलजी जैन के प्रति अन्तर्भावों से हार्दिक कृतज्ञता अभिव्यक्त करती हूँ। आप श्री मेरे सही अर्थों में ज्ञान गुरु हैं। यही कारण है कि आपकी निष्काम करुणा मेरे शोध पथ को आद्यंत आलोकित करती रही है। आपकी असीम प्रेरणा, निःस्वार्थ सौजन्य, सफल मार्गदर्शन और सुयोग्य निर्माण की गहरी चेष्टा को देखकर हर कोई भावविह्वल हो उठता है। आपके बारे में अधिक कुछ कह पाना सूर्य को दीपक दिखाने जैसा है।

दिवाकर सम ज्ञान प्रकाश से, जागृत करते संघ समाज
सागर सम श्रुत रत्नों के दाता, दिया मुझे भी लक्ष्य विराट।
मार्गदर्शक बनकर मुझ पथ का, सदा बढ़ाया कार्योल्लास।।

इस दीर्घ शोधावधि में संघीय कर्त्तव्यों का निर्वहन करते हुए अनेक स्थानों

पर अध्ययनार्थ प्रवास हुआ। इन दिनों में हर प्रकार की छोटी-बड़ी सेवाएँ देकर सर्व प्रकारेण चिन्ता मुक्त रखने के लिए शासन समर्पित सुनीलजी मंजुजी बोथरा (रायपुर) के भक्ति भाव की अनुशंसा करती हूँ।

अपने सद्भावों की ऊर्जा से जिन्होंने मुझे सदा स्फुर्तिमान रखा एवं दूरस्थ रहकर यथोचित सेवाएँ प्रदान की ऐसी स्वाध्याय निष्ठा, श्रीमती प्रीतिजी अजितजी पारख (जगदलपुर) भी साधुवाद के पात्र हैं।

सेवा स्मृति की इस कड़ी में परमात्म भक्ति रसिक, सेवाभावी श्रीमती शकुंतलाजी चन्द्रकुमारजी (लाला बाबू) मुणोत (कोलकाता) की अनन्य सेवा भक्ति एवं आत्मीय स्नेहभाव की स्मृति सदा मानस पटल पर बनी रहेगी।

इसी कड़ी में श्रीमति किरणजी खेमचंदजी बांठिया (कोलकाता) तथा श्रीमती नीलमजी जिनेन्द्रजी बैद (टाटा नगर) की निस्वार्थ सेवा भावना एवं मुद्राओं के चित्र निर्माण में उनके अथक प्रयासों के लिए मैं उनकी सदा ऋणी रहूँगी।

बनारस अध्ययन के दौरान वहाँ के भेलुपुर श्री संघ, रामघाट श्री संघ तथा निर्मलचन्दजी गांधी,कीर्तिभाई ध्रुव, अश्विन भाई शाह, ललितजी भंसाली, धर्मेन्द्रजी गांधी, दिव्येशजी शाह आदि परिवारों ने अमूल्य सेवाएँ दी, एतदर्थ उन सभी को सहृदय साधुवाद है।

इसी प्रवास के दरम्यान कलकत्ता, जयपुर, मुम्बई, जगदलपुर, मद्रास, बेंगलोर, मालेगाँव, टाटानगर, वाराणसी आदि के संघों एवं तत् स्थानवर्ती कान्तिलालजी मुकीम, मणिलालजी दुसाज, विमलचन्दजी महमवाल, महेन्द्रजी नाहटा, अजयजी बोथरा, पन्नालाल दुगड़, नवरतनमलजी श्रीमाल, मयूर भाई शाह, जीतेशमलजी, नवीनजी झाड़चूर, अश्विनभाई शाह, संजयजी मालू, धर्मचन्दजी बैद आदि ने मुझे अन्तप्रेरित करते हुए अपनी सेवाएँ देकर इस कार्य की सफलता का श्रेय प्राप्त किया है। अतएव सभी गुरु भक्तों की अनुमोदना करती हुई उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करती हूँ।

इस श्रेष्ठतम शोध कार्य को पूर्णता देने और उसे प्रामाणिक सिद्ध करने में L.D. Institute अहमदाबाद श्री कैलाशसागरसूरि ज्ञानमंदिर-कोबा, प्राच्य विद्यापीठ-शाजापुर, खरतरगच्छ संघ लायब्रेरी-जयपुर, पार्श्वनाथ विद्यापीठ-

वाराणसी के पुस्तकालयों का अनन्य सहयोग प्राप्त हुआ, एतदर्थ कोबा संस्थान के केतन भाई, मनोज भाई, अरूणजी आदि एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ के ओमप्रकाश सिंह को बहुत-बहुत धन्यवाद और शुभ भावनाएँ प्रेषित करती हूँ।

प्रस्तुत शोध कार्य को जनग्राह्य बनाने में जिनकी पुण्य लक्ष्मी सहयोगी बनी है उन सभी श्रुत संवर्धक लाभार्थियों का मैं अनन्य हृदय से आभार अभिव्यक्त करती हूँ।

इस बृहद शोध खण्ड को कम्प्यूटराईज्ड करने एवं उसे जन उपयोगी बनाने हेतु मैं अंतर हृदय से आभारी हूँ मितभाषी श्री विमलचन्द्रजी मिश्रा (वाराणसी) की, जिन्होंने इस कार्य को अपना समझकर कुशलता पूर्वक संशोधन किया। उनकी कार्य निष्ठा का ही परिणाम है कि यह कार्य आज साफल्य के शिखर पर पहुँच पाया है।

इसी क्रम में ज्ञान रसिक, मृदुस्वभावी श्रीरंजनजी कोठारी, सुपुत्र रोहितजी कोठारी एवं पुत्रवधु ज्योतिजी कोठारी का भी मैं आभार व्यक्त करती हूँ कि उन्होंने जिम्मेदारी पूर्वक सम्पूर्ण साहित्य के प्रकाशन एवं कंवर डिजाईनिंग में सजगता दिखाई तथा उसे लोक रंजनीय बनाने का प्रयास किया। शोध प्रबन्ध की समस्त कॉपियों के निर्माण में अपनी पुण्य लक्ष्मी का सदुपयोग कर श्रुत उन्नयन में निमित्तभूत बने हैं।

Last but not the least के रूप में उस स्थान का उल्लेख भी अवश्य करना चाहूँगी जो मेरे इस शोध यात्रा के प्रारंभ एवं समापन की प्रत्यक्ष स्थली बनी। सन् 1996 के कोलकाता चातुर्मास में जिस अध्ययन की नींव डाली गई उसकी बहुमंजिल इमारत सत्रह वर्ष बाद उसी नगर में आकर पूर्ण हुई। इस पूर्णाहुति का मुख्य श्रेय जाता है श्री जिनरंगसूरि पौशाल के ट्रस्टी श्री विमलचंदजी महमवाल, कान्तिलालजी मुकीम, कमलचंदजी धांधिया, मणिलालजी दुसाज आदि को जिन्होंने अध्ययन के लिए यथायोग्य स्थान एवं सुविधाएँ प्रदान की तथा संघ समाज के कार्यभार से मुक्त रखने का भी प्रयास किया।

इस शोध कार्य के अन्तर्गत जाने-अनजाने में किसी भी प्रकार की त्रुटि रह गई हो अथवा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में सहयोगी बने हुए लोगों के प्रति कृतज्ञ

भाव अभिव्यक्त न किया हो तो सहृदय मिच्छामि दुक्कडम् की प्रार्थी हूँ।

प्रतिबिम्ब इन्दू का देख जल में, आनंद पाता है बाल ज्यों।
आप्त वाणी मनन कर, आज प्रसन्नचित्त मैं हूँ।
सत्गुरु जनों के मार्ग का, यदि सत्प्ररूपण ना किया।
क्षमत्व हूँ मैं सुज्ञ जनों से, हो क्षमा मुझ गल्तियाँ।।

●

मिच्छामि दुक्कडं

आगम मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, जैन जगत की अनुपम साधिका, प्रवर्त्तिनी पद सुशोभिता, खरतरगच्छ दीपिका पू. गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की अन्तरंग कृपा से आज छोटे से लक्ष्य को पूर्ण कर पाई हूँ।

यहाँ शोध कार्य के प्रणयन के दौरान उपस्थित हुए कुछ संशय युक्त तथ्यों का समाधान करना चाहूँगी–

सर्वप्रथम तो मुनि जीवन की औत्सर्गिक मर्यादाओं के कारण जानते-अजानते कई विषय अनछुए रह गए हैं। उपलब्ध सामग्री के अनुसार ही विषय का स्पष्टीकरण हो पाया है अतः कहीं-कहीं सन्दर्भित विषय में अपूर्णता भी प्रतीत हो सकती है।

दूसरा जैन संप्रदाय में साध्वी वर्ग के लिए कुछ नियत मर्यादाएँ हैं जैसे प्रतिष्ठा, अंजनशलाका, उपस्थापना, पदस्थापना आदि करवाने एवं आगम शास्त्रों को पढ़ाने का अधिकार साध्वी समुदाय को नहीं है। योगोद्वहन, उपधान आदि क्रियाओं का अधिकार मात्र पदस्थापना योग्य मुनि भगवंतों को ही है। इन परिस्थितियों में प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या एक साध्वी अनधिकृत एवं अननुभूत विषयों पर अपना चिन्तन प्रस्तुत कर सकती है?

इसके जवाब में यही कहा जा सकता है कि 'जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' यह शोध का विषय होने से यत्किंचित लिखना आवश्यक था अतः गुरु आज्ञा पूर्वक विद्वद्वर आचार्य भगवंतों से दिशा निर्देश एवं सम्यक जानकारी प्राप्तकर प्रामाणिक उल्लेख करने का प्रयास किया है।

तीसरा प्रायश्चित्त देने का अधिकार यद्यपि गीतार्थ मुनि भगवंतों को है किन्तु प्रायश्चित्त विधि अधिकार में जीत (प्रचलित) व्यवहार के अनुसार प्रायश्चित्त योग्य तप का वर्णन किया है। इसका उद्देश्य मात्र यही है कि भव्य जीव पाप भीरु बनें एवं दोषकारी क्रियाओं से परिचित होवें। कोई भी आत्मार्थी इसे देखकर स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण न करें।

इस शोध के अन्तर्गत कई विषय ऐसे हैं जिनके लिए क्षेत्र की दूरी के कारण यथोचित जानकारी एवं समाधान प्राप्त नहीं हो पाए, अतः तद्विषयक पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं कर पाई हूँ।

कुछ लोगों के मन में यह शंका भी उत्पन्न हो सकती है कि मुद्रा विधि के अधिकार में हिन्दू, बौद्ध, नाट्य आदि मुद्राओं पर इतना गूढ़ अध्ययन क्यों?

मुद्रा एक यौगिक प्रयोग है। इसका सामान्य हेतु जो भी हो परंतु इसकी अनुश्रुति आध्यात्मिक एवं शारीरिक स्वस्थता के रूप में ही होती है।

प्रायः मुद्राएँ मानव के दैनिक चर्या से सम्बन्धित है। इतर परम्पराओं का जैन परम्परा के साथ पारस्परिक साम्य-वैषम्य भी रहा है अतः इनके सद्पक्षों को उजागर करने हेतु अन्य मुद्राओं पर भी गूढ़ अन्वेषण किया है।

यहाँ यह भी कहना चाहूँगी कि शोध विषय की विराटता, समय की प्रतिबद्धता, समुचित साधनों की अल्पता, साधु जीवन की मर्यादा, अनुभव की न्यूनता, व्यावहारिक एवं सामान्य ज्ञान की कमी के कारण सभी विषयों का यथायोग्य विश्लेषण नहीं भी हो पाया है। हाँ, विधि-विधानों के अब तक अस्पृष्ट पन्नों को खोलने का प्रयत्न अवश्य किया है। प्रज्ञा सम्पन्न मुनि वर्ग इसके अनेक रहस्य पटलों को उद्घाटित कर सकेंगे। यह एक प्रारंभ मात्र है।

अन्ततः जिनवाणी का विस्तार करते हुए एवं शोध विषय का अन्वेषण करते हुए अल्पमति के कारण शास्त्र विरुद्ध प्ररूपणा की हो, आचार्यों के गूढ़ार्थ को यथारूप न समझा हो, अपने मत को रखते हुए जाने-अनजाने अर्हतवाणी का कटाक्ष किया हो, जिनवाणी का अपलाप किया हो, भाषा रूप में उसे सम्यक अभिव्यक्ति न दी हो, अन्य किसी के मत को लिखते हुए उसका संदर्भ न दिया हो अथवा अन्य कुछ भी जिनाज्ञा विरुद्ध किया हो या लिखा हो तो उसके लिए त्रिकरण-त्रियोगपूर्वक श्रुत रूप जिन धर्म से मिच्छामि दुक्कड़म् करती हूँ।

●

विषयानुक्रमणिका

अध्याय-1 : प्रतिक्रमण आवश्यक का स्वरूप विश्लेषण 1-23

1. प्रतिक्रमण शब्द का अर्थ विन्यास 2. प्रतिक्रमण की विभिन्न परिभाषाएँ 3. प्रतिक्रमण के एकार्थवाची नाम 4. प्रतिक्रमण के प्रकार।

अध्याय-2 : प्रतिक्रमण के गूढ़ रहस्यों का विविध पक्षीय अनुसंधान 24-78

1. प्रतिक्रमण क्रिया आवश्यक क्यों? • क्रोध आदि कषायों का निराकरण करने के लिए • मिथ्यात्व आदि दोषों का प्रक्षालन करने के लिए • भूलों का संशोधन करने के लिए • सम्यग्दर्शन आदि की पुष्टि के लिए • पाप कर्मों का क्षय करने के लिए।

2. प्रतिक्रमण कौन, किसका करें? 3. प्रतिक्रमण कब किया जाए? 4. अतिचार के हेतु 5. असंभव अतिचारों का प्रतिक्रमण क्यों? 6. प्रतिक्रमण प्रतिदिन करना जरूरी क्यों? 7. छह आवश्यक रूप क्रिया को प्रतिक्रमण की संज्ञा क्यों दी गई? 8. प्रतिक्रमण क्रिया के प्रति भावोल्लास कैसे उत्पन्न करें? 9. षडावश्यक में प्रतिक्रमण का महत्त्व सर्वाधिक क्यों? 10. प्रतिक्रमण को आवश्यक क्यों कहा गया? 11. प्रतिक्रमण सूत्रों के रचयिता कौन? 12. सर्वप्रथम प्रतिक्रमण के सूत्रों का ही ज्ञान क्यों हो? 13. प्रतिक्रमण की चार भूमिकाएँ 14. षडावश्यक क्रम की स्वाभाविकता एवं रहस्यमयता 15. आवश्यक क्रिया की आध्यात्मिकता 16. प्रतिक्रमण का अधिकारी और उसका विधि विमर्श 17. प्रतिक्रमण और शुद्धि।

18. प्रतिक्रमण का वैशिष्ट्य • दस कल्प की दृष्टि से • प्रायश्चित्त की दृष्टि से • लौकिक-लोकोत्तर दृष्टि से • मैत्री आदि भावनाओं की दृष्टि से • विविध दृष्टियों से 19. विविध मूल्यों के सन्दर्भ में प्रतिक्रमण की प्रासंगिकता 20. प्रतिक्रमण का हार्द 21. प्रतिक्रमण के लाभ 22. प्रतिक्रमण याद करने के

कुछ लाभ 23. किसने-कौनसा प्रतिक्रमण किया? 24. मिच्छामि दुक्कडं : एक विमर्श।

अध्याय-3 : प्रतिक्रमण सूत्रों का प्रयोग कब और कैसे? **79-97**

प्रतिक्रमण सूत्रों के शास्त्रीय नाम 2. कौनसा सूत्र किस मुद्रा में और क्यों? 3. दैवसिक प्रतिक्रमण सम्बन्धी सूत्रों में छः आवश्यक कैसे? 4. पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण सम्बन्धी सूत्रों में छः आवश्यक कैसे? 5. पाक्षिक आदि प्रतिक्रमणों में पंचाचार कैसे? 6. दैनिक जीवनचर्या में छः आवश्यक किस तरह? 7. प्रतिक्रमण सूत्रों का संक्षिप्त अर्थ एवं उनकी प्राचीनता 8. प्रातःकालीन प्रतिक्रमण में छः आवश्यक कहाँ से कहाँ तक? 9. देवसिक प्रतिक्रमण में छः आवश्यक कहाँ से कहाँ तक? 10. प्रतिक्रमण सूत्रों पर रचित टीकाएँ।

अध्याय-4 : प्रतिक्रमण की मौलिक विधियाँ एवं तुलनात्मक समीक्षा **98-152**

1. रात्रिक प्रतिक्रमण की विधि (खरतरगच्छ परम्परा के अनुसार) 2. श्वेताम्बर मूर्तिपूजक की अन्य परम्पराओं में रात्रिक प्रतिक्रमण (तपागच्छ, अचलगच्छ, पायच्छंदगच्छ, त्रिस्तुतिकगच्छ के अनुसार) 3. दैवसिक प्रतिक्रमण की विधि (खरतरगच्छ परम्परा के अनुसार) 4. श्वेताम्बर मूर्तिपूजक की अन्य परम्पराओं में दैवसिक प्रतिक्रमण विधि (तपागच्छ, अचलगच्छ, पायच्छंदगच्छ, त्रिस्तुतिकगच्छ के अनुसार) 5. पाक्षिक प्रतिक्रमण की विधि (खरतरगच्छ परम्परा के अनुसार) 6. श्वेताम्बर मूर्तिपूजक की अन्य परम्पराओं में पाक्षिक प्रतिक्रमण विधि (तपागच्छ, अचलगच्छ, पायच्छंदगच्छ, त्रिस्तुतिकगच्छ के अनुसार) 7. चातुर्मासिक प्रतिक्रमण की विधि 8. सांवत्सरिक प्रतिक्रमण की विधि 9. मण्डली स्थापना विधि 10. स्थानकवासी परम्परा में प्रचलित पंच प्रतिक्रमण विधि 11. तेरापंथी परम्परा में प्रचलित पंच प्रतिक्रमण विधि 12. दिगम्बर परम्परा में प्रचलित पंच प्रतिक्रमण विधि 13. दिगम्बर परम्परा मान्य पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण विधि 14. श्वेताम्बर और दिगम्बर प्रतिक्रमण के पाठों की तुलना 15. बौद्ध परम्परा और प्रतिक्रमण की तुलना 16. वैदिक परम्परा और प्रतिक्रमण की तुलना 17. अन्य परम्पराएँ और प्रतिक्रमण।

अध्याय-5 : प्रतिक्रमण विधियों के प्रयोजन एवं शंका-समाधान 153-217

1. दैवसिक प्रतिक्रमण विधि के हेतु 2. प्रत्याख्यान के विषय में कुछ ध्यातव्य बिन्दु 3. रात्रिक प्रतिक्रमण के हेतु 4. पाक्षिक प्रतिक्रमण के हेतु • पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण करने के उद्देश्य? • पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण की विधियाँ अधिक क्यों? • संबुद्धा क्षमायाचना का तात्पर्य? • बृहद् अतिचार एवं उसकी प्रायश्चित्त दान विधि का स्वरूप एवं हेतु • प्रत्येक क्षमायाचना क्यों? • पाक्षिक सूत्र सुनाने की परम्परा कब से और किसलिए? • पक्ष सम्बन्धी अतिचारों की विशेष शुद्धि का कायोत्सर्ग • समाप्ति क्षमायाचना का अर्थ एवं उद्देश्य • पाक्षिक प्रतिक्रमण की शेष विधि 5. वर्तमान सन्दर्भ में उठते प्रासंगिक प्रश्न?

अध्याय-6 : प्रतिक्रमण क्रिया में अपेक्षित सावधानियाँ एवं आपवादिक विधियाँ 218-233

1. प्रतिक्रमण विधि के आवश्यक नियम 2. राईय मुँहपत्ति का प्रतिलेखन क्यों? 3. छींक दोष निवारण विधि 4. बिल्ली दोष निवारण विधि 5. सचित्त-अचित्त रज ओहडावणी कायोत्सर्ग विधि।

अध्याय-7 : उपसंहार 234-236

सहायक ग्रन्थ सूची 237-242

●

अध्याय-1

प्रतिक्रमण आवश्यक का स्वरूप विश्लेषण

षडावश्यकों में प्रतिक्रमण चतुर्थ आवश्यक है। यह सभी में प्रधान एवं प्रमुख है इसलिए वर्तमान व्यवहार में छहों आवश्यकों की संयुक्त क्रिया को ही प्रतिक्रमण कहा जाता है। दैनिक कर्त्तव्य रूप इन आवश्यक क्रियाओं का पालन करते हुए आम तौर पर सभी परम्पराओं में यही बोला जाता है कि मैं प्रतिक्रमण कर रहा हूँ, प्रतिक्रमण करने जा रहा हूँ, आज संवत्सरी का प्रतिक्रमण है। इसकी जगह आवश्यक कर रहा हूँ या आवश्यक करना चाहिए, इन शब्दों का प्रयोग नहीवत ही किया जाता है।

वस्तुतः प्रतिक्रमण आवश्यक का एक स्वतन्त्र अंग है। आत्म संशुद्धि एवं दोष परिष्कार का जीवन्त साधन है, निर्मल विचारों को संपुष्ट करने का परम अमृत है तथा अपनी आत्मा को परखने एवं निरखने का अमोघ उपाय है।

शास्त्रीय दृष्टिकोण से संयम धर्म की साधना करते हुए प्रमादवश किसी तरह की स्खलना हो जाए या व्रत आदि का अतिक्रमण हो जाए, तो उसे विरूद्ध-मिथ्या समझकर अन्तर्भावना से उसकी निन्दा करना, उस अकृत्य के लिए पश्चात्ताप करना और भविष्य में उन दोषों से बचने के लिए जागरूक रहना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण का सम्बन्ध तीनों कालों से है। भूतकाल में किए गए सावद्य योग (हिंसाजन्य कार्य) की मन, वचन, काया से गर्हा करना भूतकाल का प्रतिक्रमण है, वर्तमान में संभावित सावद्य योग का मन-वचन-काया से संवर करना अर्थात सामायिक की आराधना करना वर्तमान का प्रतिक्रमण है तथा अनागत काल के सावद्य योग का परित्याग करने के लिए प्रत्याख्यान करना भावी प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण शब्द का अर्थ विन्यास

प्रतिक्रमण शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रति+क्रमण=प्रतिक्रमण' ऐसी है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसका अर्थ 'पीछे फिरना' इतना ही होता है, परन्तु रूढ़ि

से 'प्रतिक्रमण' शब्द चौथे आवश्यक का तथा छह आवश्यक के समुदाय का भी बोध कराता है। दूसरे अर्थ में इस शब्द की प्रसिद्धि इतनी अधिक हो गई है कि आजकल 'आवश्यक' शब्द का प्रयोग न करके सब कोई छहों आवश्यकों के लिए 'प्रतिक्रमण' शब्द का प्रयोग करते हैं। इस तरह व्यवहार में और अर्वाचीन ग्रंथों में 'प्रतिक्रमण' शब्द एक प्रकार से 'आवश्यक' शब्द का पर्याय हो गया है। प्राचीन ग्रन्थों में सामान्य आवश्यक के अर्थ में 'प्रतिक्रमण' शब्द का प्रयोग लगभग कहीं नहीं है। प्रतिक्रमणहेतुगर्भ, प्रतिक्रमणविधि, धर्मसंग्रह आदि अर्वाचीन ग्रन्थों में 'प्रतिक्रमण' शब्द सामान्य 'आवश्यक' के अर्थ में प्रयुक्त है और सर्व साधारण भी सामान्य 'आवश्यक' के अर्थ में प्रतिक्रमण शब्द का प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं।

प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ है– पुनः लौटना, असंयम से संयम में लौटना। 'प्रति' उपसर्ग पूर्वक 'क्रमु' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय जुड़कर प्रतिक्रमण शब्द बना है। प्रति का अर्थ है– पुनः, क्रमण का अर्थ है– लौटना अर्थात पाप कार्यों से पुनः लौटना प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण एक प्रशस्त क्रिया है, अतः प्रत्येक स्थिति में पुनः लौटना यह अर्थ युक्ति संगत नहीं होता है, इसलिए यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि कौन? किससे? किन उद्देश्यों से पुनः लौटे?

इन प्रश्नों का संक्षिप्त उत्तर यह है कि आत्मा को प्रमाद स्थान या पापस्थान से पीछे लौटना है। इस प्रसंग को अधिक स्पष्टता के साथ कहा जाए तो ऐसा है कि अनन्त चतुष्ट्य रूप स्व स्थान से प्रमाद आदि पर स्थान में गयी हुई आत्मा को फिर से मूलस्थान में लौटा लाने की क्रिया करना, प्रतिक्रमण कहलाता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र– ये तीनों आत्मा के स्व स्थान हैं और प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, रति-अरति, पर-परिवाद, माया-मृषावाद और मिथ्यात्वशल्य– ये अठारह पाप परस्थान हैं।

संसारी आत्मा प्रमादवश स्वस्थान को छोड़कर परस्थान की ओर अभिमुख होती है। यहाँ 'प्रमाद' शब्द से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय– इन चतुष्क का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि पापकर्म की प्रवृत्ति करने में ये सभी सहकारी कारण हैं। मिथ्यात्व का अर्थ– विपरीत श्रद्धान, अविरति का अर्थ– असंयम, प्रमाद का अर्थ– ध्येय के प्रति उदासीन-निरपेक्ष और कषाय का अर्थ–

अध्यवसायों की मलिनता है। इस आत्मा को मुहूर्त्त मात्र के लिए यह भान हो जाए कि 'मैं प्रमादवश स्वयं को भूल गया हूँ और असत मार्ग का अनुगामी बन चुका हूँ' तो वह पुनः स्वस्थान की ओर लौट सकता है। इस प्रकार स्वयं के मूलस्थान की ओर गमन करने की क्रिया अथवा प्रवृत्ति प्रतिक्रमण कहलाता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र टीका में इसका व्युत्पत्ति अर्थ करते हुए दर्शाया है कि शुभ योगों में से अशुभ योगों में प्रवृत्त चेतना को पुनः शुभ योगों में लौटा लाना प्रतिक्रमण है।[1]

दिगम्बर आचार्यों ने इसका निरुक्त्यर्थ करते हुए बतलाया है कि प्रमाद के द्वारा किये गये दोषों का जिस क्रिया के द्वारा निराकरण किया जाता है वह प्रतिक्रमण है।[2]

प्रतिक्रमण की विभिन्न परिभाषाएँ

जैन परम्परा के प्रबुद्ध आचार्यों ने प्रतिक्रमण आवश्यक पर विस्तृत व्याख्याएँ लिखी है। यदि उन व्याख्या साहित्य का सम्यक् अवलोकन किया जाए तो किंचिद् महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ निम्न प्रकार उपलब्ध होती हैं–

भाष्यकार संघदासगणि ने प्रतिक्रमण का अर्थ भूतकाल के सावद्य योगों से निवृत्त होना बतलाया है तथा यह निवृत्ति अनुमोदन विरमण रूप होती है।[3]

चूर्णिकार जिनदासगणि के अनुसार सेवित दोषों को पुनः न करने का संकल्प करना, दोष शुद्धि के लिए यथायोग्य प्रायश्चित्त स्वीकार करना और गुरु प्रदत्त प्रायश्चित्त को वहन करना प्रतिक्रमण है।[4] प्रतिक्रमण की व्याख्या करते हुए आवश्यकचूर्णि में तीन महत्त्वपूर्ण प्राचीन श्लोक उद्धृत किये गये हैं, जिनके अनुसार प्रतिक्रमण के निम्न अर्थ होते हैं–

1. प्रमादवश शुभयोग से च्युत होकर अशुभयोग को प्राप्त करने के पश्चात फिर से शुभयोग को प्राप्त करना प्रतिक्रमण है।
2. औदयिक भाव से क्षायोपशमिक भाव में लौटना प्रतिक्रमण है। जैन सिद्धान्त के अनुसार राग-द्वेष, मोह-ईर्ष्या आदि औदयिक भाव कहलाते हैं और समता, क्षमा, दया, नम्रता आदि क्षायोपशमिक भाव कहलाते हैं। औदयिक भाव को संसार भ्रमण का हेतु और क्षायोपशमिक भाव को मोक्ष प्राप्ति का जनक माना गया है। अस्तु, क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में परिणत हुआ साधक जब पुनः औदयिक भाव से

क्षायोपशमिक भाव में लौट आता है, तब यह भी प्रतिकूल गमन के कारण प्रतिक्रमण कहलाता है।

3. अशुभ योग से निवृत्त होकर नि:शल्य भाव से उत्तरोत्तर शुभ योगों में प्रवृत्त होना प्रतिक्रमण है।[5]

दशवैकालिकचूर्णि के अनुसार समिति-गुप्ति का आचरण करते हुए अथवा आवश्यक क्रिया करते हुए अतिक्रमण हो जाने पर, अचानक अतिक्रमण होने पर, दूसरे के द्वारा कहे जाने पर अथवा स्वयं के द्वारा अतिक्रमण को याद कर 'मिच्छामि दुक्कडं'– ऐसा उच्चारण करना, प्रतिक्रमण है। इससे दोष शुद्धि होती है।[6]

अनुयोगद्वारचूर्णि के अनुसार मूलगुणों और उत्तरगुणों में स्खलना होने पर जब पुन: संवेग की प्राप्ति होती है उस समय मुनि भाव विशुद्धि के कारण प्रमाद की स्मृति करता हुआ आत्म निन्दा और गुरुसाक्षी पूर्वक गर्हा (निन्दा) करता है, वह प्रतिक्रमण है।[7]

दिगम्बराचार्य पूज्यपाद ने इस विषय का निरूपण करते हुए कहा है कि 'मेरा दोष मिथ्या हो'– गुरु के समक्ष इस प्रकार निवेदन करके अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना, प्रतिक्रमण है।[8]

आचार्य अकलंक, आचार्य वीरसेन, आचार्य अपराजित आदि ने दोष निवृत्ति को प्रतिक्रमण कहा है जैसे– राजवार्तिक का पाठ है कि कृतदोषों से निवृत्त होना प्रतिक्रमण है।[9] धवलाटीका का पाठांश है कि चौराशी लक्ष गुणों से संयुक्त पंच महाव्रतों में लगे हुए दोषों का शोधन करना, निवर्त्तन करना, प्रतिक्रमण है।[10] विजयोदया टीका में लिखा गया है कि अचेलकत्व आदि दस स्थिर कल्प का परिपालन करते हुए मुनि के द्वारा जिन अतिचारों का सेवन किया जाए उनके निवारणार्थ प्रतिक्रमण करना आठवाँ स्थितिकल्प है।[11]

मूलाचार आदि कतिपय ग्रन्थों के उल्लेखानुसार कृत दोषों के लिए मिथ्यादुष्कृत देना प्रतिक्रमण है। मूलाचार में कहा गया है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विषय में किये गये अपराधों का मन, वाणी एवं शरीर के द्वारा निन्दा और गर्हा पूर्वक शोधन करना, प्रतिक्रमण है।[12] इसका स्पष्टार्थ यह है कि आहार, शरीर आदि द्रव्य के विषय में; वसति, शयन, आसन और गमन-आगमन आदि मार्ग रूप क्षेत्र के विषय में; पूर्वाह्न, अपराह्न, दिवस, रात्रि, पक्ष,

मास, संवत्सर तथा भूत-भविष्य-वर्तमान आदि काल के विषय में और मन के परिणाम रूप भाव के विषय में अथवा इन द्रव्यादि चतुष्क के द्वारा व्रतों में जो दोष उत्पन्न होते हैं उनका निन्दा-गर्हापूर्वक निराकरण करना अथवा अपने द्वारा किये गये अशुभ योग से प्रतिनिवृत्त होना, गृहीत या ग्राह्य व्रतों में स्थिर हो जाना अथवा अशुभ परिणाम पूर्वक किये गये दोषों का परित्याग करना, इसका नाम प्रतिक्रमण है।

यहाँ अपने दोषों को आत्मसाक्षी पूर्वक प्रकट करना निन्दा है और गुरु आदि के समक्ष दोषों का प्रकाशन करना गर्हा है।

नियमसार में वाचिक प्रतिक्रमण को स्वाध्याय कहा है।[13] धवला टीकाकार वीरसेनाचार्य ने पूर्वोक्त बातों का अनुसरण करते हुए कहा है कि सद्गुरु के समक्ष आलोचना किए बिना, संवेग और निर्वेद से युक्त होकर, पूर्वकृत दोषों को दुबारा न करने का संकल्प कर अपने अपराध से निवृत्त होना प्रतिक्रमण नाम का प्रायश्चित्त है।[14]

आचार्य कुन्दकुन्द निश्चय दृष्टि से प्रतिक्रमण का स्वरूप दर्शाते हुए कहते हैं कि पूर्वकाल से आबद्ध शुभ एवं अशुभ कर्म से अपनी आत्मा को विलग रखना, आत्म प्रतिक्रमण है।[15] आचार्य कुन्दकुन्द के नियमसार में वर्णित है कि वाचिक प्रयोग को छोड़कर एवं रागादि भावों का निवारण करके जो केवल आत्मा को ध्याता है, उसे प्रतिक्रमण होता है। जो भव्य जीव विराधना का परिहार करके आराधना में प्रवर्त्तन करता है, वह जीव प्रतिक्रमण कहलाता है, कारण कि वह प्रतिक्रमणमय है।[16] इसी प्रकार अनाचार को छोड़कर आचार में, उन्मार्ग का त्याग करके जिनमार्ग में, शल्यभाव को छोड़कर निःशल्य भाव से, आर्त्त-रौद्र ध्यान का वर्जन करके धर्म या शुक्ल ध्यान में, मिथ्यादर्शन आदि परित्याग करके सम्यग्दर्शन को ध्याता है, वह जीव प्रतिक्रमण हैं।[17] इसका आशय है कि राग-द्वेष युक्त अध्यवसायों से रहित आत्मा ही प्रतिक्रमण की अधिकारी होती है और उसके द्वारा किया गया प्रतिक्रमण ही यथार्थ प्रतिक्रमण कहलाता है।

आचार्य अमितगति ने योगसार में प्रतिक्रमण की एक नई व्याख्या की है। उनके अनुसार पूर्वकाल में किए गए दुष्कर्मों के प्रदत्त फल को अपना न मानना, प्रतिक्रमण है।[18]

प्रवचनसार के अनुसार आत्मा के मूल स्वरूप को प्रकट करने वाली क्रिया बृहद् प्रतिक्रमण कहलाती है।[19]

शब्द विन्यास की दृष्टि से प्रतिक्रमण का अर्थ इस प्रकार भी स्पष्ट किया गया है। प्रति=प्रतिकूल, क्रम=पद निक्षेप। इसका आशय है कि जिन पदों (कारणों) से मर्यादा के बाहर गया हो उन्हीं पदों से वापस लौट आना प्रतिक्रमण है। जैसा कि पूर्व में कहा भी गया है–

स्वस्थानाद् यत्परस्थानं, प्रमादस्यवशाद् गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते।।

उपर्युक्त व्याख्याओं का समीकरण करें तो निम्न निष्पत्तियाँ उपलब्ध होती हैं–

- व्रत, नियम या मर्यादा का उल्लंघन हुआ हो तो पुनः उस मर्यादा में आना प्रतिक्रमण है।
- शुभयोगों में से अशुभ योगों में प्रवृत्त हुई आत्मा का वापस शुभयोगों में आना प्रतिक्रमण है।
- प्रमाद वश विभाव की ओर उन्मुख हुई आत्मा का पुनः स्वभाव में आना प्रतिक्रमण है।
- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योगों से आत्मा को हटाकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र में प्रवृत्त करना प्रतिक्रमण है।
- किये हुए पाप कार्यों की आलोचना एवं उनका पश्चात्ताप करते हुए, उन्हें फिर से न दोहराने का संकल्प करना प्रतिक्रमण है।

इस तरह प्रतिक्रमण एक प्रकार का आत्म स्नान है जिसके माध्यम से आत्मा कर्मरहित होकर हल्की एवं पवित्र बनती है।

प्रतिक्रमण के एकार्थवाची नाम

छः आवश्यक, दुर्विचारों एवं कुसंस्कारों के परिमार्जन की एक अध्यात्म प्रधान साधना है। यही वास्तविक अध्यात्मयोग है। प्रतिक्रमण-इसी अध्यात्मयोग का प्रमुख अंग है।

आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने प्रतिक्रमण को विविध दृष्टियों से समझाने का प्रयास किया है। इसी उद्देश्य से आवश्यकनिर्युक्ति में इसके समानार्थक आठ

पर्यायवाची बतलाये गये हैं।[20] इन नामान्तरों का स्पष्ट बोध हो सके, अत: आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, आवश्यकटीका आदि प्रामाणिक ग्रन्थों में प्रत्येक के कथानक भी दिये गये हैं। तदनुसार सामान्य वर्णन इस प्रकार प्रस्तुत है[21]–

1. प्रतिक्रमण– 'प्रति' उपसर्ग और 'क्रमु' पादनिक्षेपे धातु से यह शब्द व्युत्पन्न है। प्रति का अर्थ है– प्रतिकूल और क्रमु का तात्पर्य है– पद निक्षेप। जिन प्रवृत्तियों के द्वारा आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप स्वस्थान से हटकर मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम रूप परस्थान में गमन कर चुका हो, उसका पुन: अपने स्थान में लौट आना प्रतिक्रमण कहलाता है।[22]

इस सम्बन्ध में राजा और दो राहगीर का दृष्टान्त प्रसिद्ध है–

एक राजा अपने नगर के बाह्य भाग में प्रासाद का निर्माण कराना चाहता था। उसने शुभ मुहूर्त्त में कार्य प्रारम्भ किया। उस क्षेत्र के संरक्षण के लिए कुछ रक्षकों को नियुक्त किया और उन्हें कहा– जो इस मर्यादित क्षेत्र में प्रवेश कर ले, उसे मृत्यु के द्वार पर पहुँचा देना तथा जो उन्हीं पैरों से लौट जाए उसे मृत्युदंड मत देना। एक बार दो ग्रामीण व्यक्ति अज्ञानतावश उस क्षेत्र में आ पहुँचे। आरक्षकों ने उन्हें पकड़ लिया। उनमें से एक व्यक्ति ने उद्दंडता पूर्वक जवाब देते हुए कहा– भीतर आ गए तो क्या हो गया? रक्षकों ने उसे मार डाला। दूसरे ने विनम्रता पूर्वक कहा– आप जैसा कहेंगे, वैसा कर लूंगा, मुझे मत मारो। रक्षकों ने आगे जाने से निषेध कर दिया। वह उन्हीं पैरों लौट आया। उसके प्रतिक्रमण ने उसे बचा लिया।

आवश्यक रूप प्रतिक्रमण से भी आत्मा ऊर्ध्वगामी एवं संरक्षित बन जाती है।

2. प्रतिचरण– 'प्रति' उपसर्ग पूर्वक 'चर' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय जुड़कर प्रतिचरण शब्द बना है। प्रति–प्रतिकूल, चर– गति और भक्षण अर्थ वाचक है। इसका तात्पर्य है कि अशुभ योग में से शुभ योग में गति करना या शुभयोग का आसेवन करना प्रतिचरण है।[23]

चूर्णिकार के शब्दों में अकार्य का परिहार और कार्य में प्रवृत्ति करना प्रतिचरण है। इस सन्दर्भ में वणिक पत्नी और प्रासाद की उपेक्षा का दृष्टान्त उल्लेखित है–

एक धनाढ्य वणिक ने विशाल हवेली बनाई। एक बार वह वणिक अपनी हवेली पत्नी को सुपुर्द कर देशान्तर चला गया। कुछ समय व्यतीत हुआ। हवेली का एक खंड गलित-पलित होकर गिर गया। वणिक पत्नी ने सोचा– इतने विशाल मकान का एक कोना गिर जाने से भला क्या अनर्थ होगा? उसने उसकी उपेक्षा कर दी। इधर उसी मकान के एक ओर पीपल का अंकुर प्रस्फुटित हो गया। सेठानी ने लापरवाह की। कालान्तर में उसके विस्तार से सारा हर्म्य ढह गया। सेठानी ने सोचा– यदि मैं प्रारम्भ से ही सावचेत रहती तो यह स्थिति पैदा नहीं होती। इस कथा का सारांश है कि न्यूनतम दोष की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। जो अत्यल्प दोषों की उपेक्षा करता है वह वणिक् पत्नी की भाँति संयम धर्म से भ्रष्ट होकर दु:खी हो जाता है।

3. प्रतिहरण– 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'हृ' धातु (हरण करना) से 'ल्युट्' प्रत्यय लगकर प्रतिहरण शब्द बना है। सम्यक प्रकार से विराधना का परिहार करने वाली क्रिया, अशुभ योग का परिहरण करने वाली क्रिया अथवा जिस क्रिया के द्वारा अशुभ योगों का अथवा अतिचारों का परिहार (निवर्त्तन) हो, वह परिहरण कहलाता है।[24]

प्रतिक्रमण के इस नाम पर कुलपुत्र और दुग्ध घट की कापोती का उदाहरण द्रष्टव्य है–

एक कुलपुत्र ने दो व्यक्तियों को दो-दो घड़े दिए और उनसे कहा– गोकुल से दूध ले आओ। दोनों उस ओर चल दिए। घड़ों को दुग्ध से भरकर कावड़ में रख दिए और पुन: घर की ओर प्रस्थित हुए। गृह-गमन के दो भाग थे। एक ऋजु किन्तु ऊबड़-खाबड़ तथा दूसरा वक्र किन्तु आपत्ति रहित। एक ऋजु मार्ग से आगे बढ़ा, किन्तु पथ ऊँचा-नीचा होने से ठोकर लगी और दोनों घड़े फूट गए। दूसरा वक्र मार्ग से लौटा, किन्तु मार्ग निरापद होने से सुरक्षित घड़ों सहित घर पहुँच गया।

इसका भावार्थ है कि विषम स्थानों अर्थात अशुभ योगों का परिहार करने वाला द्वितीय पुरुष की भाँति सुखपूर्वक अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

4. वारणा– वारणा शब्द वारि (वृ + णिच्) रोकना, निषेध करना, इस अर्थवान् धातु से ल्युट् प्रत्यय संयुक्त होकर बना है। इसका शाब्दिक अर्थ है– निषेध करना और तात्पर्य है– प्रमाद आदि दोषों का निषेध करना, अपने

आपको दोषों से दूर रखना, निषिद्ध आचरण की ओर प्रवृत्ति नहीं करना वारणा कहलाता है।[25] बौद्ध धर्म में प्रतिक्रमण के समान की जाने वाली क्रिया को 'प्रवारणा' कहा गया है।

इस सन्दर्भ में राजा और विष मिश्रित तालाब का उदाहरण है– एक राजा ने निकट के राज्य पर आक्रमण किया। उस पड़ौसी राजा ने सभी प्रकार के खाद्य पदार्थों और पानी के स्त्रोतों-तालाब, वापी, सरोवर आदि में विष मिला दिया। आक्रमणकारी राजा को यह ज्ञात हो गया। उसने अपने स्कंधावार में यह घोषणा करवाई कि यहाँ का सम्पूर्ण खाद्य और पेय विष मिश्रित है। कोई भी उसे खाए-पीए नहीं। जिन सुभटों ने घोषणा के अनुसार बरताव किया, वे जीवित रह गए और जिन्होंने घोषणा की अवहेलना की, वे मृत्यु को प्राप्त हो गए।

तात्पर्य है कि जो दोषों से दूर रहता है वह चारित्र की सम्यक् अनुपालना करता है।

5. निवृत्ति– निवृत्ति शब्द 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'वृत्' धातु एवं 'क्तिन्' प्रत्यय के संयोग से बना है। अशुभ भावों से निवृत्त होना निवृत्ति कहलाता है।[26] प्रमादवश अशुभ कार्यों में प्रवृत्ति हो जाए तो अतिशीघ्र पुनः शुभ में प्रवृत्त हो जाना चाहिए। अशुभ से निवृत्त होने के लिए ही प्रतिक्रमण का पर्याय शब्द 'निवृत्ति' है।

इस प्रसंग में कौलिक सुता का उदाहरण दिया गया है– एक गच्छ में अनेक मुनि थे। एक तरूण मुनि बुद्धि सम्पन्न था। आचार्य उसे गणधारण के योग्य समझकर सदैव स्वाध्याय आदि उत्तम कार्यों में संलग्न रखते। एकदा वह आवेश के वशीभूत होकर गण से निकल गया। मार्ग में चलते हुए उसने गीत सुना–

तरितव्वा य पतिण्णया, मरितव्वं वा समरे समत्थएणं ।
असरिसवयणुप्फेसया, न हु सहितव्वा कुले पसूयएणं ।।

इस पद्य पर मनन कर उसने सोचा– 'व्यक्ति को सत्य प्रतिज्ञ होना चाहिए, सामान्य व्यक्तियों का अपलाप सहने से युद्ध में मर जाना अच्छा है।' वह उत्प्रेरित होकर पुनः मुनि गण में आ गया।

6. निन्दा– स्वयं के द्वारा आत्मा की साक्षी से पूर्वकृत अशुभ आचरण को बुरा समझना तथा उसके लिए पश्चात्ताप करना, निन्दा कहलाता है। कहा भी गया है 'आत्मसाक्षिकी निन्दा'– निन्दा आत्मसाक्षी पूर्वक होती है।[27]

इस विषय में राजा और चित्रकार कन्या का दृष्टान्त कहा गया है– एक राजा ने चित्रशाला का निर्माण करने हेतु दूर-सुदूर से चित्रकारों को बुलाया। कुछ चित्रकार स्थानीय थे। एक बार उस नगर के चित्रकार की कन्या अपने पिता के लिए भोजन लेकर जा रही थी। राजा घोड़े को सरपट दौड़ाता हुआ उधर से निकला। लड़की ने सड़क से हटकर अपनी जान बचाई। वह चित्रशाला में पिता की प्रतीक्षा करने लगी। उस समय उसने मयूरपिच्छ का चित्र बनाया। इतने में ही राजा परिभ्रमण करता हुआ वहाँ आया और उस चित्रगत मयूरपिच्छ को असली समझकर हाथ से उठाना चाहा। नखों पर आघात लगा तो कन्या हँस पड़ी। राजा ने हँसने का कारण पूछा तो वह बोली– मेरी मंचिका के तीन ही पाये हैं, आज तुम चौथे मिल गए। राजा के द्वारा इसका रहस्य पूछे जाने पर उसने स्पष्ट तो किया किन्तु छह महीनों तक कथाओं में उलझाए रखा। किंचिद् समय बीतने के पश्चात कन्या ने एकान्त में अपने आपसे कहा– 'तू यह गर्व मत करना कि तूं राजा की प्रिया है।' राजा ने यह सुना और उसके यथार्थ पर प्रसन्न होकर उसे अग्रमहिषी बना दिया। यह द्रव्य निंदा है।

सारांश है कि स्वयं के द्वारा किये गये दुष्कार्यों की निन्दा (पश्चात्ताप) करने से चित्रकार कन्या की तरह उच्चपद की प्राप्ति होती है।

7. गर्हा– गुरुजन, वरिष्ठजन आदि की साक्षी पूर्वक कृत पापों का पश्चात्ताप करना अथवा गुरु के समक्ष दुष्कार्यों का निवेदन करना, अथवा अशुभ आचरण को गर्हित समझना, गर्हा कहलाता है।[28] 'परेषां ज्ञापनं गर्हा'– सामान्यतया निन्दा आत्मसाक्षी पूर्वक की जाती है और गर्हा गुरुसाक्षी एवं आत्मसाक्षी उभय पूर्वक होती है।

आवश्यकटीका में इस विषय पर परिमारक स्त्री का उदाहरण निर्दिष्ट है– एक ब्राह्मण अध्यापक की पत्नी किसी पिंडारक के प्रति आसक्त थी। वह नर्मदा नदी के उस पार रहता था। ब्राह्मण पत्नी वैश्यदेव की बलि करती थी। उसने पति से कहा– मुझे कौओं से भय लगता है। ब्राह्मण ने उसकी रक्षा के लिए छात्रों को नियुक्त कर दिया। एक दिन एक छात्र को यह ज्ञात हुआ कि यह ब्राह्मण पत्नी प्रतिदिन मगरमच्छों से भरी हुई नर्मदा नदी को तैर कर जाती है और कहती है मैं कौओं से डरती हूँ। उस छात्र ने एक बार उसे कहा–

दिवा कागाण बीभेसि, रत्तिं तरसि नम्मदं।
कुतित्थाणि य जाणासि, अच्छीणं ढक्कणाणि य।।

ब्राह्मण पत्नी ने जान लिया कि छात्र ने मेरा सारा रहस्य अवगत कर लिया है। वह उसके प्रति आसक्त हो गई और भय के कारण अपने पति को मरवा डाला कालान्तर में वह विक्षिप्त हुई घर-घर भिक्षार्थ जाती और कहती–

'मैं पतिमारक हूँ, मैं पतिमारक हूँ, मुझे भिक्षा दो'– इस प्रकार गर्हा करती हुई आत्म साधना में संलग्न हो गई। तात्पर्य है कि गर्हा करने से ब्राह्मण पत्नी के सदृश आत्म परिणामों की विशुद्धि होती है।

8. शुद्धि– शुद्ध का अर्थ है– निर्मलीकरण या पवित्रीकरण। प्रतिक्रमण, आलोचना, निन्दा आदि के द्वारा आत्मा को दोषों से मुक्त करना शुद्धि कहलाता है।[29] जैसे सोने पर लगे हुए मैल को अग्नि में तपाकर शुद्ध किया जाता है, वैसे ही हृदय के मैल को प्रतिक्रमण करके दूर किया जाता है इसलिए उसे शुद्धि कहते हैं।

इस प्रसंग में राजा श्रेणिक और रजक का दृष्टान्त प्रसिद्ध है– एकदा राजा श्रेणिक ने रजक को दो रेशमी वस्त्र धोने के लिए दिए। उस दिन कौमुदी महोत्सव था। रजक ने उत्सव का दिन सोचकर दोनों वस्त्र अपनी दोनों पत्नियों को दे दिए। वे उन्हीं रेशमी वस्त्रों को पहनकर महोत्सव में गई। उस क्षेत्र में भ्रमण करते हुए राजा ने अपने वस्त्र पहचान लिए। दोनों पत्नियों ने ताम्बूल से उन वस्त्रों को बिगाड़ दिया था। रजक ने उन्हें उपालंभ दिया। फिर क्षार पदार्थ से ताम्बुल के धब्बों को मिटाकर राजा को सुपुर्द करने लगा। तब राजा के पूछने पर उसने सही-सही ज्ञापित कर दिया। यह द्रव्य शोधि है, जबकि प्रतिक्रमण द्वारा भावविशोधि होती है।

संक्षेप में कहा जाए तो उपरोक्त पर्यायवाची शब्द भिन्न-भिन्न अपेक्षा से प्रतिक्रमण के विविध अर्थों का ही बोध कराते हैं।

प्रतिक्रमण के प्रकार

'प्रति प्रति क्रमणं प्रतिक्रमणं'– इस निर्वचन से अशुभ योग से निवृत्त होकर निःशल्य भाव से शुभ योग में प्रवर्त्तन करना प्रतिक्रमण है। जो अशुभयोग से निवृत्त होकर शुभ योग में रहता है वह प्रतिक्रामक (कर्त्ता) है तथा जिस अशुभ योग का प्रतिक्रमण होता है वह प्रतिक्रान्तव्य (कर्म) कहलाता है।

प्रतिक्रमण का मूल उद्देश्य–आत्मविशोधन एवं भावविशुद्धि है अत: इस अपेक्षा से प्रतिक्रमण के मूल या अवान्तर भेद नहीं हो सकते हैं, यद्यपि कर्त्ता और कर्म की विविधता एवं भावनात्मक तरतमता के आधार पर इसके भेद-प्रभेदों की चर्चा इस प्रकार ज्ञातव्य है–

द्विविध– अनुयोगद्वार में आचरण की दृष्टि से प्रतिक्रमण के दो प्रकार बतलाये गये हैं– 1. द्रव्य प्रतिक्रमण और 2. भाव प्रतिक्रमण[30]

द्रव्य प्रतिक्रमण– एक स्थान पर अवस्थित होकर बिना उपयोग के, मात्र यशप्राप्ति की अभिलाषा से प्रतिक्रमण करना, द्रव्य प्रतिक्रमण है। इस प्रतिक्रमण के अन्तर्गत पाठों का उच्चारण यंत्र की तरह चलता है, त्यागने योग्य दोषों के चिन्तन का अभाव होता है,पाप कर्म के प्रति मन में ग्लानि नहीं होती और बार-बार कृत स्खलनाओं का पुनरावर्त्तन चलता रहता है अत: यह प्रतिक्रमण शुद्ध प्रतिक्रमण नहीं कहलाता है। द्रव्य आवश्यक के विविध रूपों को समझना आवश्यक है जैसे– भाव आवश्यक के मूल्य को समझने के लिए जिस साधक के द्वारा सूत्र पाठों का सम्यक उच्चारण किया गया हो, जिसे सूत्र पाठ स्मृति में हो, जो अक्षरों से मर्यादित हो, शिक्षित आदि पाँचों से युक्त हो, ह्रस्व-दीर्घ रूप से शुद्ध उच्चरित करता हो, एक अक्षर भी कम-अधिक नहीं कहता हो, अक्षरों का उच्चारण गूंथी हुई माला के समान करता हो, अस्खलित बोलता हो, दूसरे पदों के साथ मिलाता नहीं हो, ऐसे उदात्त आदि घोषों से सहित, कण्ठ और होठ से बाहर निकला हुआ तथा वाचना, पृच्छना, परावर्तना, धर्मकथा से युक्त होने पर भी प्रतिक्रामक (प्रतिक्रमणकर्त्ता) उपयोग शून्य हो तो, उसका वह प्रतिक्रमण द्रव्य प्रतिक्रमण कहलाता है।[31]

इसका सार यह है कि प्रतिक्रमण करते समय सूत्र पाठों का उच्चारण शुद्ध रूप से किया जा रहा हो और तद्योग्य क्रिया भी निर्दिष्ट मुद्रा आदि पूर्वक की जा रही हो उस क्रिया में तन्मयता और तच्चित्तता न हो, तो वह द्रव्य रूप है। इस सन्दर्भ में प्रश्न उठता है कि उपयोग रहित प्रतिक्रमण करने पर लाभ क्यों नहीं होता है? ऐसा नहीं है, किन्तु बिना पथ्य की औषधि के समान कम होता है। जितना समय प्रतिक्रमण क्रिया में व्यतीत होगा उतने समय तक निश्चित ही पाप क्रिया से विरत होने का लाभ मिलेगा। द्रव्य क्रिया भाव का मूल कारण है, क्योंकि बाह्य क्रिया करते-करते कब विरति भाव पैदा हो जाए और क्षण भर में पापमल को नष्ट कर दें, इसलिए द्रव्य प्रतिक्रमण हेय नहीं है, अपितु निश्चित

रूप से करने योग्य है। किन्तु बशर्ते द्रव्य प्रतिक्रमण करते हुए भाव प्रतिक्रमण में प्रवेश करने हेतु प्रयासरत रहें।

भाव प्रतिक्रमण– लोक-परलोक की कामना एवं कीर्ति, यश, सम्मान, आदि की अभिलाषा से रहित, एकांतिक कर्म निर्जरा की भावना, अंतरंग उपयोग तथा जिनाज्ञानुसार किया जाने वाला प्रतिक्रमण, भाव प्रतिक्रमण है।[32] भाव प्रतिक्रमण के द्वारा आत्मा पुनः अपनी शुद्ध स्थिति में पहुँच जाती है। चूर्णिकार जिनदासगणी कहते हैं कि सम्यग्दर्शन आदि गुणयुक्त जो प्रतिक्रमण होता है वह भाव प्रतिक्रमण है।[33] आचार्य भद्रबाहु लिखते हैं कि भाव प्रतिक्रमण तीन करण एवं तीन योग से होता है।[34]

आचार्य हरिभद्रसूरि ने उक्त निर्युक्ति गाथा पर विवेचन करते हुए एक प्राचीन गाथा को उद्धृत कर कहा है कि मन, वचन एवं काया से मिथ्यात्व, कषाय आदि दुर्भावों में न स्वयं गमन करना, न दूसरों को गमन करने की प्रेरणा देना और न गमन करने वालों का अनुमोदन करना, यही भाव प्रतिक्रमण है।[35]

वस्तुतः भाव प्रतिक्रमण करते समय शरीर को स्थिर कर आवश्यक सूत्रों का चिन्तन, उनके अर्थों का मनन एवं पूर्वकृत दोषों का अवलोकन करते हुए आलोचना पूर्वक शुद्धिकरण किया जाता है। भाव प्रतिक्रमण करने वाले के अन्तर्मानस में पापों के प्रति ग्लानि होती है तथा कृत अपराधों को पुनः न दुहराने का दृढ़ संकल्प होता है।

अनुयोगद्वारसूत्र में प्रस्तुत 'भाव' शब्द का विश्लेषण करते हुए उसके निम्न अर्थ किये गये हैं– 1. **'तच्चित्ते'** = तत् + चित् में चित्त का अर्थ सामान्य उपयोग है। अंग्रेजी में इसे Attention (अटेंशन – उसका उपयोग उसमें लगाना) कहा जा सकता है।

2. **'तम्मणे'–** तन्मन में मन शब्द का अर्थ– विशेष उपयोग से है। अंग्रेजी में इसे Intrest (इन्ट्रेस्ट-रूचि) कहा जा सकता है।

3. **'तल्लेस्से'–** तल्लेश्या शब्द का अर्थ– उपयोग विशुद्धि से है। अंग्रेजी में इसे Desire (डिजायर-इच्छा) कहा जा सकता है।

4. **'तदज्झवसिए'–** तदध्यवसाय का अर्थ– जैसा भाव वैसा ही भाषित स्वर है अथवा जैसा स्वर वैसा ही ध्यान करना है। अंग्रेजी में इसे Will (विल-आत्मबल / आंतरिक लगन) कहा जा सकता है।

5. **'तत्तिव्वज्झवसाणे'–** तत् + तीव्र + अध्यवसाय का अर्थ- पूर्वोक्त ध्यान का तीव्र होना है। अंग्रेजी में इसे Power of imagination (पावर ऑफ इमेजिनेशन-कल्पना शक्ति) के समकक्ष कहा जा सकता है।

6. **'तद्दट्ठोवउत्ते'–** तदर्थ + उपयुक्त का अर्थ है- उसी के अर्थ में उपयोग युक्त। इसे अंग्रेजी में Visualisation (विजुएलाइजेशन-दूरदृष्टि) कहा जा सकता है।

7. **'तदप्पियकरणे'–** तदर्पितकरण का अर्थ है- सभी करणों को उसी के विषय में अर्पित करना। अंग्रेजी में इसे I dentification (आइडेन्टीफिकेशन- उससे साक्षात्कार करना) कहा जा सकता है।

8. **'तब्भावणभाविए'–** तद्भावना + भावित का अर्थ है- उसी की ही भावना से भावित होना। इसे अंग्रेजी में Complete Absorption (कम्पलीट एब्जोर्पशन-सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करना) कहा जा सकता है।

यहाँ भाव शब्द के अनेक अर्थ उल्लेखित करने का अभिप्राय उसके विविध रूपों को दर्शाना एवं प्रतिक्रामक द्वारा भाव के उत्कृष्ट स्वरूप को प्राप्त करना है।[36]

त्रिविध– प्रतिक्रमण तीनों काल से सम्बद्ध है अत: काल की अपेक्षा से प्रतिक्रमण के तीन भेद हैं-

1. अतीत का प्रतिक्रमण– आत्म निन्दा द्वारा अशुभ योग से निवृत्त होना, अतीत काल का प्रतिक्रमण है।

2. वर्तमान का प्रतिक्रमण– संवर द्वारा अशुभ योग से निवृत्त होना, वर्तमान काल का प्रतिक्रमण है।

3. अनागत का प्रतिक्रमण– प्रत्याख्यान द्वारा अशुभ योग से निवृत्त होना, अनागत काल का प्रतिक्रमण है।[37]

साधारणतया यह समझा जाता है कि प्रतिक्रमण अतीतकाल में लगे हुए दोषों की परिशुद्धि करता है, किन्तु प्रस्तुत वर्णन से स्पष्ट होता है कि प्रतिक्रमण केवल अतीत काल में लगे दोषों की ही शुद्धि नहीं करता, अपितु इससे वर्तमान और भविष्यकाल के दोषों की भी शुद्धि होती है।

मूलाचार के तृतीय अधिकार में अकस्मात होने वाले समाधि मरण से सम्बद्ध तीन प्रकार के प्रतिक्रमणों का उल्लेख किया गया है- 1. सर्वातिचार

प्रतिक्रमण 2. त्रिविध आहार त्याग प्रतिक्रमण 3. उत्तमार्थ प्रतिक्रमण।[38]

1. सर्वातिचार प्रतिक्रमण– दीक्षाकाल से लेकर अन्तिम समय तक लगे दोषों से निवृत्त होना, सर्वातिचार प्रतिक्रमण है। सल्लेखना ग्रहण करने वाला तपस्वी मुनि सर्वप्रथम सर्वातिचार प्रतिक्रमण करता है।

2. त्रिविध आहार त्याग प्रतिक्रमण– सर्वातिचार का प्रतिक्रमण करने के पश्चात त्रिविध आहार का त्याग कर देना, त्रिविध त्याग प्रतिक्रमण है।

3. उत्तमार्थ प्रतिक्रमण– अन्तिम समय में पानी-आहार का भी त्याग कर देना, उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है।

चतुर्विध– मूलाचार के टीकाकार आचार्य वसुनन्दि ने आराधना शास्त्र के आधार पर चार प्रकार के प्रतिक्रमणों का निरूपण किया है– 1. योग 2. इन्द्रिय 3. शरीर और 4. कषाय।[39]

1. योग प्रतिक्रमण– मन, वचन एवं काया– इन योगों का निग्रह करना, योग प्रतिक्रमण है।

2. इन्द्रिय प्रतिक्रमण– पाँच प्रकार के इन्द्रियों का निग्रह करना, इन्द्रिय प्रतिक्रमण है।

3. शरीर प्रतिक्रमण– औदारिक आदि पाँच प्रकार के शरीर को कृश करना, उनके प्रति ममत्व बुद्धि को न्यून करना, शरीर प्रतिक्रमण है।

4. कषाय प्रतिक्रमण– अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी एवं संज्वलन– इन प्रत्येक के क्रोध आदि चार-चार भेद रूप सोलह कषायों और हास्य आदि नोकषायों का निगृह करना, उन्हें कृश करना, कषाय प्रतिक्रमण है। समाधिमरण काल में हाथ-पैर आदि की चेष्टाओं का निरोध कर शरीर को स्थिर करना भी प्रतिक्रमण कहलाता है।

पंचविध– जैन आगमों में प्रतिक्रमण के पाँच भेदों की चर्चा दो प्रकार से की गई है। कर्म बन्ध के कारणों का उच्छेद करने की दृष्टि से प्रतिक्रमण के पाँच भेद निम्न हैं–[40]

1. आस्रव प्रतिक्रमण– कर्मों के आगमन का मार्ग अथवा मन, वचन और काय का क्रिया रूप योग आस्रव कहलाता है।[41] जैसे घट के निर्माण में मिट्टी और वृक्ष के लिए बीज कारण होता है वैसे आत्मा के साथ कर्मों का संयोग होने में आस्रव कारण है। आस्रव के निमित्त से ही शुभाशुभ कर्म आत्मा

में प्रविष्ट होते हैं। आस्रव कारण है और कर्मबंध कार्य है। आस्रव के द्वार प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से निवृत्त होने का संकल्प करना, आस्रवद्वार प्रतिक्रमण है।

2.मिथ्यात्व प्रतिक्रमण– जीव आदि नव तत्त्वों के प्रति विपरीत श्रद्धा उत्पन्न करना मिथ्यात्व कहलाता है, जैसे मदिरापान के कारण बुद्धि मूर्च्छित हो जाती है वैसे ही मिथ्यात्व के उदय से आत्मा का विवेक लुप्त हो जाता है। वह अनात्मीय पदार्थों को आत्मीय समझता है। इस मिथ्यात्व के कारण ही वस्तु स्वरूप में भ्रान्ति बनी रहती है और जीव को तत्त्व एवं अतत्त्व का भेद विज्ञान नहीं हो पाता।

आत्मा के परिणाम उपयोग, अनुपयोग या सहसा कारणवश मिथ्यात्व रूप में प्राप्त होने पर उससे निवृत्त होना, मिथ्यात्व प्रतिक्रमण है।[42]

3. कषाय प्रतिक्रमण– कषाय शब्द कष् + आय से निष्पन्न है। कष का अर्थ– संसार और आय का अर्थ– लाभ अर्थात जिससे संसार की अभिवृद्धि हो, उसे कषाय कहते हैं। संसार अभिवर्द्धन का मूल कारण कषाय है। कषाय मुख्य रूप से राग और द्वेष रूप होता है।[43] इन दोनों में क्रोध आदि चार का समन्वय हो जाता है। राग में माया और लोभ तथा द्वेष में क्रोध और मान का अन्तर्भाव होता है।[44] कषाय परिणाम से आत्मा को निवृत्त करना, कषाय प्रतिक्रमण है।

4. योग प्रतिक्रमण– मन, वचन और काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में परिस्पन्दन होना, योग कहलाता है। जैन ग्रन्थों में योग को आस्रव (कर्मों के आने का द्वार) कहा गया है। शुभ योग से पुण्य का आस्रव (आगमन) होता है और अशुभ योग से पाप का आस्रव होता है। मन, वचन और काया का अशुभ व्यपार होने पर उनसे आत्मा को पृथक् करना योग प्रतिक्रमण है।

5. भाव प्रतिक्रमण– मिथ्यात्व, कषाय और योग– इनमें तीन करण एवं तीन योग से प्रवृत्ति न करना, भाव प्रतिक्रमण है। प्रकारान्तर से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग के भेद से भी प्रतिक्रमण पाँच प्रकार का कहा गया है, किन्तु वास्तव में ये पाँचों भेद एक ही हैं। अविरति और प्रमाद इन दोनों का समावेश 'आस्रवद्वार' में हो जाता है। ये पाँचों कर्मबंध के मुख्य हेतु हैं, इन दोषों से निवृत्त होने का संकल्प करने वाला साधक अपने जीवन को निर्मल बना देता है। इस प्रकार पाप कर्म के महारोग को विनष्ट करने के लिए प्रतिक्रमण अमोघ औषधि है।[45]

काल की अपेक्षा से प्रतिक्रमण के पाँच प्रकार निम्न हैं–

1. दैवसिक– दिन के अन्त में सायंकाल के समय दिनभर की पापालोचना करना, दैवसिक प्रतिक्रमण है।

2. रात्रिक– रात्रि में जो दोष लगे हों, उन पापों की निवृत्ति हेतु रात्रि के अन्त में आलोचना करना, रात्रिक प्रतिक्रमण है।

3. पाक्षिक– प्रत्येक पक्ष (पन्द्रह दिन) के अन्त में चतुर्दशी या अमावस्या और पूर्णिमा के दिन उस पक्ष में आचरित पापों का सम्यक विचार कर उन्हें गुरु के समक्ष प्रकट करना, पाक्षिक प्रतिक्रमण है।

4. चातुर्मासिक– चार-चार मास के पश्चात कार्तिकी पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा और आषाढ़ी पूर्णिमा या चतुर्दशी के दिन चार महीनों में लगे हुए दोषों की आलोचना करना, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है।

5. सांवत्सरिक– आषाढ़ी पूर्णिमा के उनपचास या पचासवें दिन वर्ष भर में लगे हुए दोषों की आलोचना करना, सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है।[46]

षड्विध– स्थानांगसूत्र में भिन्न-भिन्न दृष्टियों से प्रतिक्रमण के छह प्रकार उपदिष्ट हैं–

1. उच्चार प्रतिक्रमण– विवेक पूर्वक मल विसर्जन के पश्चात उपाश्रय में लौटकर गमनागमन आदि में लगे दोषों की शुद्धि (ईर्यापथ प्रतिक्रमण) करना, उच्चार प्रतिक्रमण है।

2. प्रस्रवण प्रतिक्रमण– विवेक पूर्वक मूत्र विसर्जन के पश्चात उपाश्रय में लौटकर गमनागमन आदि में लगे दोषों की शुद्धि (ईर्यापथ प्रतिक्रमण) करना, प्रस्रवण प्रतिक्रमण है।

3. इत्वर प्रतिक्रमण– दैवसिक, रात्रिक आदि स्वल्पकालीन प्रतिक्रमण करना अथवा किसी प्रकार की भूल हो जाने पर तत्काल मिथ्यादुष्कृत देना, इत्वरिक प्रतिक्रमण है।

4. यावत्कथिक प्रतिक्रमण– यावत्काल (सम्पूर्ण जीवन) के लिए ग्रहण करने योग्य महाव्रत आदि में लगे हुए दोषों से निवृत्त होने का संकल्प करना अथवा जीवन के अन्तिम काल में संलेखना या अनशन व्रत धारण करते हुए समस्त पापों का मिथ्या दुष्कृत देना, यावत्कथिक प्रतिक्रमण है।

5. यत्किंचित मिथ्या प्रतिक्रमण– सजगता पूर्वक जीवन यापन करते हुए भी प्रमाद अथवा असावधानी वश किसी भी प्रकार का असंयम रूप आचरण हो जाए तो उसी क्षण उस भूल को स्वीकार कर, उसके प्रति पश्चात्ताप करना, यत्किंचित मिथ्या प्रतिक्रमण है।

6. स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण– निद्राकाल में विकार या वासनाजन्य कुस्वप्न आने पर उस पाप की शुद्धि के लिए निर्धारित श्वासोश्वास परिमाण कायोत्सर्ग करना, स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण है।

उपरोक्त प्रतिक्रमण के छह प्रकारों का मुख्य सम्बन्ध श्रमण की जीवन चर्या से है।[47]

दिगम्बर परम्परा के मूलाचार में निक्षेप दृष्टि से प्रतिक्रमण के छह प्रकार बतलाये गये हैं, जो निम्नानुसार है–

1. नाम प्रतिक्रमण– अयोग्य नामों का उच्चारण न करना अथवा प्रतिक्रमण सम्बन्धी पाठों का उच्चारण करना, नाम प्रतिक्रमण है।

2. स्थापना प्रतिक्रमण– सरागी देवों की मूर्त्तियों या अन्य आकारों से अपने परिणामों को हटाना अथवा प्रतिक्रमण में परिणत हुए प्रतिबिम्ब की स्थापना करना, स्थापना प्रतिक्रमण है।

3. द्रव्य प्रतिक्रमण– मकान, खेत आदि दस प्रकार के परिग्रहों का, उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषों से दूषित वसतियों का, अयोग्य उपकरण एवं भिक्षा आदि का तथा जो तृष्णा, मद और संक्लेश के कारण हैं उन द्रव्यों का त्याग करना अथवा प्रतिक्रमण शास्त्र के ज्ञाता द्वारा उसमें उपयोगवान न रहते हुए प्रतिक्रमण करना, द्रव्य प्रतिक्रमण है।

4. क्षेत्र प्रतिक्रमण– जल, कीचड़ और त्रस-स्थावर जीवों से संकुल क्षेत्र में आने-जाने का त्याग करना अथवा जिस क्षेत्र में रहने से रत्नत्रय की हानि हो उसका त्याग करना, क्षेत्र प्रतिक्रमण है।

5. काल प्रतिक्रमण– काल के आश्रय या निमित्त से होने वाले अतिचारों से निवृत्त होना, काल प्रतिक्रमण है।

6. भाव प्रतिक्रमण– मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, राग-द्वेष, आहार आदि संज्ञा, निदान, आर्त्त-रौद्र आदि अशुभ परिणाम और पुण्याश्रवभूत शुभ परिणाम से निवृत्त होना भाव प्रतिक्रमण है।[48]

सप्तविध– दिगम्बर ग्रन्थों में काल के आधार पर प्रतिक्रमण के सात प्रकार भी निर्दिष्ट हैं–

1. दैवसिक– दिवस भर में हुए दोषों की आलोचना करना अथवा ऊपर वर्णित नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से लगे हुए दोषों का त्रियोग से शोधन करना, दैवसिक प्रतिक्रमण है।

2. रात्रिक– रात्रि भर में हुए दोषों अथवा पूर्ववत द्रव्यादि छः प्रकार के आश्रित लगने वाले दोषों की आलोचना करना, रात्रिक प्रतिक्रमण है।

3. ईर्यापथ– भिक्षा, स्थण्डिल, वन्दन आदि के लिए मार्ग में चलते हुए षड्काय जीवों के विषय में किसी प्रकार की विराधना हुई हो, तो उनसे निवृत्त होना, ईर्यापथ प्रतिक्रमण है।

4. पाक्षिक– सम्पूर्ण पक्ष में लगे हुए दोषों की निवृत्ति के लिए प्रत्येक चतुर्दशी या अमावस्या और पूर्णिमा को उनकी आलोचना करना, पाक्षिक प्रतिक्रमण है।

5. चातुर्मासिक– चार माह के दरम्यान लगे हुए दोषों की निवृत्ति हेतु कार्तिक, फाल्गुन एवं आषाढ़ माह की चतुर्दशी या पूर्णिमा को स्मरण पूर्वक आलोचना करना, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है।

6. सांवत्सरिक– वर्ष भर में लगे हुए अतिचारों की निवृत्ति हेतु प्रत्येक वर्ष आषाढ़ माह के अन्त में चतुर्दशी या पूर्णिमा के दिन चिन्तन पूर्वक आलोचना करना, सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है।

7. उत्तमार्थ– उत्तम+अर्थ का तात्पर्य है श्रेष्ठ प्रयोजन से। संथारा ग्रहण करने के लिए यावज्जीवन के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग करना, उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है।[49]

अष्टविध– श्वेताम्बर परम्परा का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ आवश्यकनिर्युक्ति में प्रतिक्रमण के उक्त भेदों के आधार पर आठ प्रकार भी उल्लिखित हैं–

1. दैवसिक प्रतिक्रमण 2. रात्रिक प्रतिक्रमण 3. इत्वरिक प्रतिक्रमण 4. यावत्कथिक प्रतिक्रमण 5. पाक्षिक प्रतिक्रमण 6. चातुर्मासिक प्रतिक्रमण 7. सांवत्सरिक प्रतिक्रमण 8. उत्तमार्थ प्रतिक्रमण-अनशन के समय किया जाने वाला।[50]

3. **इत्वरिक प्रतिक्रमण–** उच्चार-प्रस्रवण और श्लेष्म का परिष्ठापन

करने के पश्चात किया जाने वाला प्रतिक्रमण तथा ज्ञात-अज्ञात में और सहसा गलती होने पर किया जाने वाला प्रतिक्रमण, इत्वरिक प्रतिक्रमण कहलाता है।[51]

4. **यावत्कथिक प्रतिक्रमण–** पाँच महाव्रत, रात्रिभोजन विरति, भक्तपरिज्ञा तथा इंगिनीमरण– इन सब में लगे अतिचारों की विशुद्धि करना, यावत्कथिक प्रतिक्रमण कहलाता है।[52]

यदि उपर्युक्त भेद-प्रभेदों का तुलनात्मक दृष्टि से मनन किया जाए तो उनमें स्वरूप आदि की अपेक्षा से लगभग समानता है, किन्तु प्रतिक्रमण के प्रकारों के सम्बन्ध में संख्या भेद हैं यद्यपि उनमें भी दैवसिक, रात्रिक आदि भेद समान है।

सन्दर्भ-सूची

1. *प्रतीपं क्रमणं प्रतिक्रमणम्, अयमर्थः शुभयोगेभ्योऽ शुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात्प्रतीपं क्रमणम्। योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति 3, पृ. 688*
2. *प्रतिक्रम्यते प्रमादकृतदैवसिकादिदोषो निराक्रियते अनेनेति प्रतिक्रमणं।*
   गोम्मटसार जीवकाण्ड, भा.2 367 की टीका, पृ. 613
3. *नेयं पडिक्कमामि त्ति, भूय सावज्जओ निवत्तामि।*
   तत्तो य का निवत्ति?, तदणु मईओ विरमणं जं।।
   विशेषावश्यकभाष्य, 3572
4. *पडिक्कमामि नाम अपुणक्करणताए अब्भुट्ठेमि अहारिहं पायच्छित्तं पडिवज्जामि। आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 48*
5. *स्वस्थानाद् यत्परस्थानं, प्रमादस्य वशाद् गतः।*
   तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते।।
   क्षायोपशमिकाद्भापि भावादौदयिकं गतः।
   तत्रापि हि स एवार्थः, प्रतिकूलगमात् स्मृतः।।
   पति पति पवत्तणं वा, सुभेषु जोगेसु मोक्खफलदेस।
   निस्सल्लस्य जतिस्या जं, तेणं तं पडिक्कमणं।।
   आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 52
6. *पडिक्कमणं पुण...पवयणमादिकादिसु आवस्सगाइक्कमे वा...'मिच्छामि दुक्कडं' करेति, एवं तस्स सुद्धी।*
   दशवैकालिक –अगस्त्यचूर्णि, पृ. 13
7. *मूलुत्तरावराहक्खलणाए क्खलितो पच्चागतसंवेगे विसुज्झमाणभावो पमातकरणं संभरंतो अप्पणो णिंदण गरहणं करेति। अनुयोगद्वारचूर्णि, पृ. 18*

8. मिथ्यादुष्कृताभिधानादभिव्यक्त प्रतिक्रियं प्रतिक्रमणम्।
सर्वार्थसिद्धि, 9/22, पृ. 346
9. अतीत दोष निवर्त्तनं प्रतिक्रमणम्। तत्वार्थ राजवार्तिक, 6/23, पृ. 530
10. पंचमहव्वएसु चउरासीदिलक्खण गुणगणकललिएसु समुप्पण्णकलंक पक्खालणं पडिक्कमणं णाम। धवला टीका, 8/2, 31/83/6
11. भगवती आराधना, गा. 313 की टीका, पृ. 331
12. दव्वे खेत्ते काले, भावे य कयावराहसोहणयं।
णिंदणगरहण जुत्तो, मणवचकायेण पडिकमणं ॥
मूलाचार, 1/26
13. वयणमयं पडिक्कमणं ..... जाण सज्झायं।
नियमसार, 153
14. गुरूणमालो च णाए विणा... पडिक्कमणं णाम पायच्छित्तं।
धवलाटीका, 13/5,3,26/60/8
15. कम्मं जं पुव्वकयं, सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तण अप्पयं, तु जो सो पडिक्कमणं ॥
समयसार, 383
16. मोत्तूण वयणरयणं, रागादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि, तस्सदु होदित्ति पडिक्कमणं ॥
आराहणाइ वट्टइ, मोत्तूण विराहणं विसेसेण।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥
नियमसार, 83-84
17. वही, 85-91
18. कृतानां कर्मणां पूर्वं, सर्वेषां पाकमीयुषाम्।
आत्मीयत्वपरित्यागः प्रतिक्रमणमीर्यते ॥
योगसार प्राभृत, 5/50
19. निज शुद्धात्मपरिणति लक्षणा या तु क्रिया सा निश्चयेन बृहत्प्रतिक्रमणा भण्यते।
प्रवचनसार तात्त्विक वृत्ति, गा. 207 की टीका, पृ. 405
20. पडिकमणं पडियरणा, परिहरणा वारणा नियत्ती य।
निंदा गरिहा सोही, पडिकमणं अट्ठहा होइ ॥
आवश्यकनिर्युक्ति, 1233

21. अद्धाणे पासाए, दुद्धकाय विस भोयणतलाए।
दो कन्नाओ पइमारिया, य वत्थे य अगए य॥
(क) वही, 1242
(ख) आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 53-61
(ग) आवश्यक हारिभद्रीय टीका, भा. 2, पृ. 43-48
22. पडिक्कमणं पुनरावृत्तिः। आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 53
23. प्रति प्रति तेष्वर्थेषु, अत्यादरात् चरणा।
पडिचरणा अकार्य, परिहारः कार्य प्रवृत्तिश्च॥
वही, पृ. 53
24. परिहरणा चरणप्रमाद दोसेहिंतो। वही, पृ. 53
25. आत्मनिवारणा वारणा। वही, पृ. 53
26. असुभ भाव-नियत्तणं नियत्ती। वही, पृ. 53
27. निंदा आत्म संतापः। वही, पृ. 53
28. गर्हा प्रकाश्ये। वही, पृ. 53
29. सोही विसोहणं। वही, पृ. 53
30. अनुयोगद्वार, सू. 13
31. वही, सू. 14
32. जिनवाणी, पृ. 59
33. भाव पडिक्कमणं जं सम्मदंसणाइगुण जुत्तस्स पडिक्कमणं ति।
आवश्यकचूर्णि गा. 2, पृ. 53
34. भाव पडिक्कमणं पुण, तिविहं तिविहेण नेयव्वं। आवश्यकनिर्युक्ति 1251
35. मिच्छत्ताइ गच्छए, ण य गच्छावेइ णाणु जाणेइ।
जं मणवइकाएहिं, तं भणियं भाव पडिक्कमणं। वही, 1251 की टीका
36. अनुयोगद्वार, सू. 28
37. पडिक्कमणं...तीए पच्चुप्पन्ने, अणागए चेव कालंमि।
आवश्यकनिर्युक्ति, 1235
38. पढमं सव्वदिचारं, बिदियं तिविहं भवे पडिक्कमणं।
पाणस्स परिच्चयणं, जावज्जीवायमुत्तमट्ठं च॥
मूलाचार, 3/120

39. वही, 3/120 की टीका
40. पंचविहे पडिक्कमणे पण्णत्ते, तं जहा– आसवदार पडिक्कमणे, मिच्छत्त पडिक्कमणे, कसाय पडिक्कमणे, जोग पडिक्कमणे, भाव पडिक्कमणे।
स्थानांगसूत्र, मधुकर मुनि, 5/3/222
41. सर्वार्थसिद्धि, 6/2
42. पंचाध्यायी, 2/98-6-7
43. उत्तराध्ययनसूत्र, 32/7
44. प्रवचनसार, गा. 95
45. तत्त्वार्थसूत्र, 8/1
46. देवसिय, राइय पक्खिय चाउम्मासे य वरिसे य।
प्रवचनसारोद्धार, 3/183
47. छव्विहे पडिक्कमे पण्णत्ते, तं जहा-उच्चार पडिक्कमणे पासवण पडिक्कमणे, इत्तरिए, आवकहिए जं किंचि मिच्छा, सोमणंतिए। स्थानांगसूत्र, 6/125
48. नामट्ठवणा दव्वे, खेत्ते काले तहेव भावे य।
एसो पडिक्कमणगे, णिक्खेवो छव्विहो णेओ ॥
मूलाचार, 7/614 की टीका
49. पडिक्कमणं देवसियं, रादियं इरियापधं च बोधव्वं।
पक्खिय चादुम्मासिय, संवच्छर मुत्तमट्ठं च ॥
(क) मूलाचार, 7/615 की टीका
(ख) आवश्यकनिर्युक्ति, 1235
50. पडिकमणं देवसियं राइयं च, इत्तरियमाव कहियं च।
पक्खिय चउम्मासिय, संवच्छर उत्तिमट्ठे य ॥
आवश्यकनिर्युक्ति, 1247
51. वही, 1249
52. वही, 1248

●

अध्याय-2

प्रतिक्रमण के गूढ़ रहस्यों का विविध पक्षीय अनुसंधान

जैन साधना पद्धति में प्रतिक्रमण को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। परन्तु प्रतिक्रमण में ऐसी क्या विशेषताएँ हैं, जिसके कारण उसे यह स्थान मिला यह एक विचारणीय तथ्य है। इसमें अन्तर्भूत रहस्यों का ज्ञान एवं उनकी अनुभूति साधक को तब ही हो सकती है, जब वह उसकी गहराई में प्रवेश करें। इस शाश्वत जैन परम्परा में तीर्थंकरों एवं अनेकश: साधकों ने इनकी आत्मानुभूति कर इसका स्वरूप श्रुत एवं गुरु परम्परा के द्वारा हमें नवनीत के रूप में दिया है। उसी नवनीत के द्वारा हम अपने आत्मस्वरूप को निर्मल बना सकते हैं। आवश्यकता है तो उस विषय में जानने की।

प्रतिक्रमण क्रिया आवश्यक क्यों?

प्रतिक्रमण एक अन्तर्मुखी साधना है। अनादिकाल से आत्मा के अन्दर जो कामना आदि विषय और क्रोध आदि कषाय हमारे अपने अज्ञान, असावधानी अथवा प्रमाद से प्रविष्ट हो गये हैं, उनका निष्कासन कर भीतर में सोये हुए ईश्वरत्व को जगाने की साधना है। आप्तवाणी के आधार पर हमारे अन्दर पशुत्व, असुरत्व, दानवत्व की जो वृत्ति आ गई है, वह स्वभावजन्य नहीं है, इधर-उधर बाहर से आई है, यह अपना मूल स्वरूप नहीं है। जैन दर्शन कहता है कि हे आत्मन्! तूं अभी घनघोर घटाओं से घिरे हुए, बादलों में छुपे हुए सूर्य के समान है। तुझे बाहर से भले ही बादलों ने घेर रखा हो, पर तूं अन्दर से तेजस्वी सूर्य है, सहस्त्ररश्मियों से ही नहीं, अनन्त रश्मियों से युक्त है। तेरी चेतना शक्ति के ऊपर कर्मों के बादल छा गये हैं, वासनाओं की काली घटाएँ आ गई हैं, कषाय रूपी ग्रहों ने ग्रसित कर लिया है, उसी के कारण तेरा अनिर्वचनीय तेज, अनन्त प्रकाश लुप्त हो गया है। प्रतिक्रमण इसका विरोधी तत्त्व है। अत: आत्म प्रकाश को अनावृत्त करने के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है। मौलिक चिन्तन के अनुसार प्रतिक्रमण के कुछ हेतु निम्नलिखित हैं–

1. क्रोधादि विकृतियों का निराकरण करने के लिए

सामान्य तौर पर मानस चेतना की छोटी-बड़ी सभी विकृतियाँ जो किसी न किसी रूप में पाप की श्रेणी में आती हैं उनके प्रतिकार के लिए प्रतिक्रमण एक महौषधि के रूप में है। जैसे तन की विकृति रोग है वैसे ही क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकृतियाँ मन एवं आत्मा के रोग हैं। रोग की चिकित्सा आवश्यक है, अन्यथा उसके दीर्घगामी दुष्परिणाम भोगने पड़ सकते हैं। दूसरे, शारीरिक बीमारियों को दूर करने के लिए ऐलोपैथिक, होम्योपैथिक, आयुर्वेदिक आदि का इलाज आवश्यक होता है। उसी तरह मानसिक विकृतियों का उपचार (परिमार्जन) करने के लिए प्रतिक्रमण का विधान बतलाया गया है।

2. मिथ्यात्व आदि दोषों का प्रक्षालन करने के लिए

प्रतिक्रमण पाप-प्रक्षालन की अद्‌भुत क्रिया है, इसलिए इस आवश्यक कर्म को प्रतिदिन करने का निर्देश है, जिससे हर दिन में लगे दोषों की शुद्धि उसी दिन हो जाये। प्रतिक्रमण की नियमित साधना करने से व्रत पालन में तेजस्विता आती है। पापशल्य व्रत-पालन में अवरोधक है अत: पापशल्य को निकालने हेतु प्रतिक्रमण किया जाता है।

साधना के क्षेत्र में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग– ये पाँच भयंकर दोष हैं। साधक को इन दोषों से परिमुक्त होने के लिए प्रात:-सायं अपने जीवन का अन्तर्निरीक्षण करते हुए चिन्तन करना चाहिए कि वह सम्यक्त्व के प्रशस्त मार्ग को छोड़कर मिथ्यात्व के ऊबड़-खाबड़ अप्रशस्त मार्ग में तो नहीं भटका है? व्रत नियम को विस्मृत कर अव्रत को ग्रहण करने में तो नहीं लगा है? अप्रमत्तता के स्थान पर प्रमाद का सेवन तो नहीं कर रहा है, उपशम आदि आनंदमयी स्थिति का त्याग कर क्रोधादि के भयावह मार्ग का सेवन तो नहीं कर रहा है? योगों की प्रवृत्ति शुभ अध्यवसायों के स्थान पर ईर्ष्यादि अशुभ भाव रूप तो नहीं बन गई है? यदि ऐसा हो गया है तो अशुभ को त्याग कर शुभ की ओर प्रवृत्ति करनी चाहिए। इसी भावना को मूर्त रूप प्रदान करने हेतु प्रतिक्रमण की साधना की जाती है।[1]

3. भूलों का संशोधन करने के लिए

संसार दशा में जीते हुए भूल होना स्वाभाविक है। सांसारिक प्रवृत्तियों में रचा-पचा व्यक्ति छद्मस्थ कहलाता है। भूल होना छद्मस्थ मानव की प्रकृति है।

वह कितना ही सावधान होकर चले, फिर भी कभी वासना-विकार में, कभी क्रोध-लोभ में, तो कभी मोह-माया में उलझ कर भूल कर ही लेता है और उससे चारित्र एवं नियम रूपी चदरिया मलीन हो जाती है। भले ही हम संसारी प्राणी कितने ही संभल कर चलें। एक कहावत है–

काजल की कोटड़ी में, लाख हुँ सयानो जाय।
काजल की एक रेख, लागे पुनि लागे हैं।।

आत्मकृत भूलों का निरीक्षण एवं पुनः न दुहराने का संकल्प करने हेतु प्रतिक्रमण किया जाता है। भूल या गलती जीवन की विकृति है। इस विकृति से शीघ्रतया मुक्त हो सकें, एतदर्थ बाह्य भूलों को चार भागों में बाँटा गया है, क्योंकि इस वर्गीकरण के आधार पर उनका सुधार त्वरागति से किया जा सकता है। गल्तियों के चार रूप ये हैं– 1. अज्ञानजन्य अज्ञात भूलें 2. आवेश पूर्ण भूलें 3. योजनाबद्ध भूलें और 4. नहीं चाहते हुए भी होने वाली भूलें।[2]

• **अज्ञानजन्य भूलें–** जिसकी बुद्धि अविकसित है, समझ कम है, उम्र से नादान है, ऐसे बच्चों आदि के द्वारा की गई भूलें अज्ञानजन्य कहलाती हैं। नासमझी के कारण, जैसे बच्चे द्वारा पिताजी की मूँछें खींच लेना, माता के मुख पर तमाचा मार देना, नादानी में लात मार देना, गोद में लेने वाले के कीमती वस्त्रों को मलमूत्र से गंदा कर देना तथा पागल व्यक्ति के द्वारा माता को बहिन और पत्नी को माता कह देना, ये अज्ञानजन्य भूले हैं। व्यावहारिक स्तर पर इस प्रकार की भूलें क्षम्य मानी गई हैं। धर्म के क्षेत्र में भी इनका कोई महत्त्व नहीं है।

यदि समझदार व्यक्ति के द्वारा इस प्रकार की भूलें की जायें तो उसे प्रतिकार स्वरूप दण्ड भी दिया जा सकता है। लेकिन नादान शिशु के लिए ऐसा नहीं है, कारण कि उसके मन में अपमानित करना, बदला लेना अथवा स्वार्थ सिद्ध करना जैसी कोई मनोवृत्ति नहीं होती है। वह केवल नादानी के कारण उक्त प्रकार की चेष्टाएँ करता है।

• **आवेशजन्य भूलें–** जिसकी बुद्धि विकसित हो उठी है, समझदार है, उम्र से कुछ परिपक्व है, ऐसे व्यक्तियों के द्वारा आवेग, आवेश या क्षणिक उत्तेजना के द्वारा की गई भूलें आवेशजन्य कहलाती हैं। इस प्रकार की भूलें प्रायः प्रतिकूल व्यवहार, अघटित घटना, अभीप्सित वांछा की अपूर्ति, अपेक्षा की उपेक्षा या अभिमान पर ठेस पहुँचने पर होती हैं। क्योंकि उक्त स्थितियों में व्यक्ति

स्वाभाविकतया भान भूल जाता है, जिसके फलस्वरूप गाली देना, मारना, पीटना, कुछ का कुछ कह देना आदि विषम रूप प्रगट हो उठते हैं।

सामाजिक क्षेत्र में इस कोटि की भूलों का अधिक मूल्य तो नहीं है और समझदार प्राय: इस पर ध्यान भी नहीं देते हैं, फिर भी आध्यात्मिक क्षेत्र में यह भूल क्षमा माँगने, दूसरे का खेद मिटाने और पश्चात्ताप करने योग्य है। जैसे आंख में गिरा हुआ छोटा सा तिनका या रजकण भी खटकता है, पैर में लगे हुए छोटे काँटे को भी निकाले बिना गति नहीं मिलती। इसी तरह विवेकी, मोक्षलक्षी एवं आत्मजयी पुरुषों को आवेशजन्य भूल की भी तत्काल क्षमायाचना कर अन्तर्हृदय से पश्चात्ताप कर लेना चाहिए, जिससे ये भूलें आगे नहीं बढ़ें।

यह उल्लेख्य है कि आवेशजन्य भूलें जान बूझकर नहीं होती, फिर भी दूसरों के दिल को ठेस पहुँचाने एवं आत्म भावों को दूषित करने के कारण पश्चात्ताप करने योग्य है।

• **योजनाबद्ध भूलें–** जो भूलें जान-बूझकर एवं संकल्पपूर्वक की जाती है, वे योजनाबद्ध कहलाती हैं। इस प्रकार की भूलें प्राय: द्वेष, ईर्ष्या, वासनापूर्ति, संग्रहवृत्ति, अर्थसंग्रह, प्रतिकार, प्रतिक्रिया आदि स्थितियों में होती हैं। सामाजिक, व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से इस श्रेणी की भूलें क्षम्य नहीं है, अतएव दण्डनीय मानी गई हैं। इस श्रेणी के अन्तर्गत हत्या करना, धोखा देना, जालसाजी करना, व्यभिचार, देशद्रोह, रिश्वतखोरी, कलंक देना आदि भूलों का समावेश होता है। व्यवहार क्षेत्र में इस प्रकार के कुकर्म करने वाला कठोर दण्ड का अधिकारी होता है और साधना के क्षेत्र में उग्र प्रायश्चित्त का।

अध्यात्म दृष्टि से ये भूलें कषायजनित, प्रतिक्रियात्मक, संसारसर्जक एवं भयंकर द्वेष वर्द्धक होती हैं। तन के कैंसर की गाँठ तो एक जन्म को समाप्त करती है, जबकि मन के कषाय की गाँठें जन्म-जन्मान्तर तक दु:ख देती हैं। गहरा पश्चात्ताप, उग्र तप और दीर्घकाल का संयम भी कभी-कभी इन भूलों के परिमार्जन में पर्याप्त नहीं होता अत: ऐसी भूलें सम्यग्दृष्टि साधक के जीवन में नहीं होती हैं अथवा इन भूलों के होने पर श्रावकत्व और साधुत्व के भाव नहीं रहते हैं। कदाच पूर्व कर्मोदय के कारण अनचाहे भी संकल्पबद्ध भूलें हो जाए तो उसके लिए प्रतिक्रमण रूप प्रायश्चित्त से भी बढ़कर तप आदि के प्रायश्चित्त दिये जाते हैं।

• **अनचाही भूलें–** इस श्रेणि की भूलें पूर्वधरों, छद्मस्थ साधकों या मुमुक्षु श्रावकों आदि किसी के भी द्वारा हो सकती हैं और होती भी हैं, जैसे–स्वाध्याय करते हुए चित्त का स्खलन हो जाना, प्रतिलेखन करते हुए दृष्टि विपर्यास हो जाना, कायोत्सर्ग करते हुए देहभाव जागृत हो जाना आदि भूलें अनायास या अनभ्यास दशा में सहज होती हैं, इनके लिए पहले से मानसिकता नहीं होती। अतः इन भूलों का परिमार्जन 'मिच्छामि दुक्कडं' या सामान्य 'पश्चाताप' के द्वारा किया जा सकता है।

4. सम्यग्दर्शन आदि की पुष्टि के लिए

सामायिक आदि छह आवश्यकों में एक आवश्यक प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण का अर्थ है– अपराधों से पीछे हटना, पाप की निन्दा, गर्हा और पश्चात्ताप करना। ऐसा पश्चात्ताप करने से पहले सामायिक, देववंदन, गुरुवंदन आदि आवश्यक है। उसके पश्चात प्रतिक्रमण द्वारा पापों का क्षय सम्पूर्ण रूप से हो सके, तदर्थ कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान करना जरूरी है। इसलिए छह आवश्यकों के एकत्रित नाम को भी प्रतिक्रमण कहा जाता है।

यह एक मोक्ष साधनभूत महान योग है। जीव अनादिकाल से मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और मन-वचन-काया की अशुभ प्रवृत्ति के कारण संसार में परिभ्रमण कर रहा है। इससे स्वाभाविक है कि जीव संसार के प्रतिपक्षी कारणों सम्यग्दर्शन, पाप विरति, उपशम और शुभप्रवृत्ति का आलंबन ले तो संसार के हेतुओं से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

प्रतिक्रमण क्रिया के द्वारा सम्यग्दर्शन आदि की आराधना उत्तम प्रकार से होती है क्योंकि सामायिक आदि छह आवश्यकों में सम्यग्दर्शन आदि की साधना का इस प्रकार समावेश होता है–

1. सामायिक आवश्यक में सर्व सावद्य योगों का त्याग करने की प्रतिज्ञा करते हैं। इससे विरति और समभाव की आराधना का संकल्प पूर्वक स्वीकार होता है।
2. चतुर्विंशति आवश्यक में चौबीस तीर्थंकरों की स्तवना और प्रार्थना करते हैं। इससे देव आदि तत्त्व की सम्यग् श्रद्धा रूप सम्यग्दर्शन निर्मल होता है।
3. वंदन आवश्यक में गुरु की विस्तार पूर्वक सुखपृच्छा करते हुए उनके प्रति हुई आशातनाओं की क्षमा मांगने से अहंकार आदि कषायों का नाश

तथा शुभ प्रवृत्ति भी होती है।

4. प्रतिक्रमण आवश्यक में कृत दोषों की निंदा, गर्हा एवं पश्चाताप किया जाता है। इससे मिथ्यात्व आदि हेतुओं से बंधे हुए पूर्व पापों का क्षय, नए मिथ्यात्व आदि में प्रेरक अनुबंधों की निर्जरा तथा सम्यग्दर्शन और सर्वविरति के भाव प्रबल बनते हैं।
5. कायोत्सर्ग आवश्यक में समस्त मन-वचन-काया की प्रवृत्ति का निरोध प्रतिज्ञा पूर्वक किया जाता है। इससे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और किंचित् अयोग अवस्था की आराधना होती है।
6. प्रत्याख्यान आवश्यक में उपवास आदि तप का संकल्प किया जाता है। इससे इस आवश्यक द्वारा तपधर्म एवं विरति की साधना होती है।

इस प्रकार प्रतिक्रमण के माध्यम से सम्यग्दर्शन आदि मोक्षमार्ग की उच्च साधना होती है अतएव यह एक महान योग साधना है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रतिक्रमण प्रत्येक व्यक्ति के लिए अवश्य करणीय है। जैसे जल-स्नान से शरीर का मैल धुलकर वह निर्मल स्वच्छ बन जाता है उसी प्रकार प्रतिक्रमण करने से आत्मा के साथ लगी हुई पाप क्रियाओं का कर्म मल धुल जाता है और आत्मप्रदेश शुद्ध बन जाते हैं। विशेष यह है कि बाह्य मल तो शरीर शोभा को क्षणिक विकृत करता है, किन्तु पाप क्रिया रूप मैल आत्मा को अनंत संसार में भटकाता एवं दु:खी बनाता है। अत: क्रोध आवेग, ईर्ष्या, वासना, प्रमाद आदि रूप आभ्यन्तर मल का जड़मूल से विनाश करने के लिए प्रतिक्रमण किया जाना चाहिए। यह इस मैल को धोने का अचूक साधन है, जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है।

5. पाप कर्मों का क्षय करने के लिए

अर्हत पुरुषों ने मुख्य उपदेश दिया है कि **"पापकम्मं नेव कुज्जा न कारवेज्जा"** पापकर्म न करना चाहिए और न ही करवाना चाहिए। बुद्ध का आदेश है कि **"सव्वपावस्स अकरणं"** कोई भी पापकर्म नहीं करना चाहिए। वैदिक श्रुतियाँ कहती है कि **"प्रशस्तानि सदा कुर्यात् अप्रशस्तानि वर्जयेत्"** पुण्य कार्य सदा करो और पाप कार्यों को छोड़ दो।

जरथ्रुष्ट धर्म में कहा गया है कि **'तमाम खद विचार, खद सुखकारी है और खदकाम का त्याग करो।'** इसी प्रकार ख्रिस्ती धर्म और इस्लाम धर्म में

भी पाप कर्म नहीं करने की आज्ञा दी गई है।

इस जगत में कोई भी संत-महर्षि ऐसा नहीं है जिसने पाप कर्म को छोड़ने पर बल न दिया हो, इसलिए पाप कर्म अवश्य वर्जनीय है।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि पापकर्मों का त्याग क्यों करना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि पापकर्म करने से आत्मा भारी कर्म बंधन करती है और उसका कटुफल भोगने के लिए उस जीव को चार गति और चौराशी लाख जीव योनि रूप संसार में निरन्तर परिभ्रमण करना पड़ता है जहाँ सदैव कष्ट या आपत्तियों का ही अनुभव होता है। तो क्या बुद्धिमान मनुष्य उपाधि युक्त स्थिति की इच्छा करेगा?

इस दुनियाँ में प्राणियों को दु:ख रूप जो कुछ अनुभव होता है वह पाप कर्मों के ही अधीन है अत: कहा गया है– **"दु:खं पापात्"।**

दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पापकर्मों का वर्जन करना हो तो पापकर्म किसे कहा जाये? पापकर्म के साधन कौनसे हैं? पाप के प्रकार कितने हैं? जैन महर्षियों ने पाप की व्याख्या में कहा है– **"पायति शोषयति पुण्यं, पांशयति गुण्डयति वा जीव वस्त्रमिति पापम्"** अर्थात जो पुण्य का शोषण करें अथवा जीव रूपी वस्त्र को मलीन करें वह पाप है। जैसे–वस्त्र कीचड़ आदि से मलीन होता है वैसे ही जीव पाप कार्यों से विकारी बनता है।

पाप कर्म के तीन साधन हैं मन, वचन और काया। दुष्प्रवृत्तियाँ वचन आदि तीनों साधनों से होती हैं। यहाँ इतना जान लेना जरूरी है कि जहाँ मानसिक पाप हो वहाँ वाचिक और कायिक पापकर्म हो भी सकता है और नहीं भी, किन्तु जहाँ वाचिक या कायिक पाप हो, वहाँ मानसिक पाप प्राय: होता है क्योंकि मन में दुष्ट विचार उत्पन्न हुए बिना वाणी या काया की दुष्ट प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

पाप के प्राणातिपात-मृषावाद-अदत्तादान आदि अठारह प्रकार बताये गये हैं। इन 18 स्थानों का सेवन करने से आत्मा पापयुक्त बनती है। वैदिक धर्म में कायिक पाप तीन प्रकार के कहे गये हैं– 1. चोरी, 2. हिंसा और 3. परस्त्रीगमन। वाचिक पाप चार प्रकार के बताये गये हैं– 1. कठोर भाषण 2. झूठ बोलना 3. चुगली करना और 4. असंबद्ध प्रलाप करना। मानसिक पाप तीन प्रकार का बतलाया गया है– 1. परद्रव्य की इच्छा करना 2. मन से अनिष्ट चिंतन करना और 3. कदाग्रह रखना।

इस प्रकार उक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि पापकर्म करने योग्य नहीं है, पापस्थान सेवन योग्य नहीं है फिर भी संसारी आत्माएँ मूढ़ता, प्रमाद, अहंकार आदि दोषों के अधीन होकर पापकर्मों का निरन्तर सेवन कर रही हैं। यदि अभिमान पूर्वक पाप प्रवृत्ति चलती रहे तो आत्म उद्धार की संभावना कैसे की जा सकती है? जैसे अधिक भार से लदा हुआ वाहन समुद्र में डूब जाता है वैसे ही घनीभूत पापकर्मों से युक्त आत्मा संसार सागर में डूब जाती है और उसे अनंतकाल तक भव-भ्रमण करना पड़ता है। इस परिस्थिति में पाप की शुद्धि करना आवश्यक है। यह शुद्धिकरण प्रतिक्रमण के द्वारा ही संभव है। जैनाचार्यों के अनुसार पापक्षय, पापहानि, पापमोचन या पापशुद्धि का मुख्य हेतु प्रतिक्रमण ही है। इसलिए प्रतिक्रमण का एक प्रयोजन पाप कर्मों का क्षय है।

प्रतिक्रमण कौन, किसका करें?

प्रतिक्रमण, आत्मविशुद्धि की अमोघ साधना है इसीलिए यह सभी के लिए अवश्य करणीय है। यहाँ महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि प्रतिक्रमण किन-किन कृत्यों का करना चाहिए? और उसके अधिकारी कौन है? आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने इस सन्दर्भ में सम्यक् प्रकाश डाला है। वे साधक को उत्प्रेरित करते हुए प्रतिक्रमण में प्रमुख रूप से चार विषयों पर अनुचिन्तन करने का निर्देश करते हैं। प्रतिक्रमण योग्य विषयों का प्रतिपादन इस प्रकार है– 1. श्रमण और श्रावक के लिए क्रमशः महाव्रतों और अणुव्रतों का विधान है। यद्यपि श्रमण और श्रावक गृहीत व्रतों के प्रति सतत सावधान रहते हैं फिर भी कभी-कभी प्रमादवश अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह में स्खलना हो जाती है अथवा

1. **'पडिसिद्धाणं करणे'** – श्रमण एवं गृहस्थ के लिए हिंसा आदि पाँच प्रकार के पाप कर्मों का निषेध किया गया है, उनका आचरण कर लेने पर प्रतिक्रमण करना चाहिए।[3]

2. **'किच्चाणमकरणे'** – आगम शास्त्र में जिन कार्यों के करने का विधान किया गया है उन विहित कार्यों का आचरण न करने पर प्रतिक्रमण करना चाहिए।

जैन परम्परा में श्रमण और श्रावकों के लिए एक निश्चित आचार संहिता है उसमें श्रमण के लिए स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिलेखन आदि क्रियाओं का विधान हैं और श्रावक के लिए प्रभु पूजा, गुरु सेवा, जिनवाणी श्रवण आदि अनुष्ठानों

का प्रावधान है। यदि इन विधानों की परिपालना में स्खलना हो जाये, तो उस सम्बन्ध में प्रतिक्रमण करना चाहिए। कर्तव्यों के प्रति जरा सी असावधानी भी साधक के लिए उचित नहीं है।

3. 'असद्दहणे'– शास्त्र प्रतिपादित आत्मा आदि अमूर्त्त तत्त्वों की सत्यता के विषय में सन्देह, शंका, अश्रद्धा उत्पन्न होने पर प्रतिक्रमण करना चाहिए।

स्पष्ट है कि आत्मा आदि अमूर्त्त पदार्थों को प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सिद्ध करना संभव नहीं है, वे तो आगम आदि प्रमाणों के द्वारा ही सिद्ध किये जा सकते हैं। उन अमूर्त्त तत्त्वों के सम्बन्ध में यह सोचना कि 'वे हैं या नहीं' यदि इस प्रकार मन में अश्रद्धा उत्पन्न हुई हो तो उसकी शुद्धि के लिए आत्मार्थी को प्रतिक्रमण करना चाहिए।

4. 'विवरीय परूवणाए'– आगम विरुद्ध एवं असत्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने पर प्रतिक्रमण करना चाहिए।

तीर्थंकर पुरुषों ने हिंसा आदि दुष्कृत्यों के सेवन का निषेध किया है, उन दुष्प्रवृत्तियों का प्रतिपादन करना आगम विरुद्ध है। यदि असावधानी वश कभी प्रतिपादन कर दिया हो, तो उसकी प्रतिक्रमण द्वारा शुद्धि करें और भविष्य में पुनरावर्त्तन न हो इसका संकल्प करें।

जैन विचारणा के अनुसार कौनसा प्रतिक्रमण किसके द्वारा किया जाना चाहिए। उसका संक्षिप्त वर्गीकरण निम्न प्रकार है–

- पच्चीस मिथ्यात्वों, चौदह ज्ञानातिचारों और अठारह पापस्थानों का प्रतिक्रमण गृहस्थ और श्रमण सभी को करना चाहिए।
- पंच महाव्रतों, तीन योगों का असंयम एवं गमन, भाषण, याचना, समिति, गुप्ति, मल-मूत्र विसर्जन आदि से सम्बन्धित दोषों का प्रतिक्रमण साधु-साध्वियों को करना चाहिए।
- पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों एवं चार शिक्षाव्रतों के 75 अतिचारों का प्रतिक्रमण व्रती गृहस्थ को करना चाहिए।
- संलेखना के पाँच अतिचारों का प्रतिक्रमण संलेखना व्रत धारण करने वाले साधकों को करना चाहिए।[4]

उक्त वर्णन के आधार पर यह तथ्य स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि प्रतिक्रमण मात्र अतीतकाल में लगे हुए दोषों की परिशुद्धि ही नहीं करता है,

अपितु वर्तमान और भविष्य के दोषों की भी शुद्धि करता है। आचार्य भद्रबाहु ने इस मत का पूर्ण रूप से समर्थन किया है। उन्होंने इतना भी कहा है कि अतीतकाल में लगे हुए दोषों की शुद्धि तो आलोचना-प्रतिक्रमण में की जाती है, किन्तु संवर साधना में लगे रहने से साधक वर्तमान के पापों से भी निवृत्त हो जाता है। इसी के साथ प्रतिक्रमण करते हुए प्रत्याख्यान ग्रहण करता है, जिसके कारण भावी दोषों से भी बच जाता है। इस प्रकार प्रतिक्रमण के माध्यम से तीन कालों की शुद्धि होती है। अत: साधक के लिए प्रतिदिन उभय सन्ध्याओं में प्रतिक्रमण करना परमावश्यक है।

प्रतिक्रमण कब करें?

प्रतिक्रमण स्वशुद्धि की एक अमूल्य विधा है। हमारे द्वारा ज्ञात-अज्ञात रूप से अतिक्रमण की अनेक क्रियाएँ होती है, जिनसे दूसरों को कष्ट पहुँचता है एवं अपनी आत्मा मलिन बनती है अत: जिस समय अतिचारों (दोषों) का सेवन हो जाये अथवा जब उसका ज्ञान एवं भान हो जाये उसी समय साधक को अन्तर्मन से 'मिच्छामि दुक्कडं' कहकर प्रतिक्रमण कर लेना चाहिए। जैन शास्त्रों के निर्देशानुसार सेवित अतिचारों का जितना शीघ्र प्रतिक्रमण किया जायेगा उतनी ही जल्दी आत्मशुद्धि होगी। हम जब तक प्रतिक्रमण नहीं करते, हमारी आत्मा दूषित ही बनी रहती है तथा उस दोष की अनुमोदना रूप पाप का बंध भी चलता रहता है। जैन गगन के विश्रुत आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार मुनि को निम्न स्थितियों में प्रतिक्रमण करना चाहिए–

1. वस्त्र, पात्र एवं वसति आदि की प्रतिलेखना और प्रमार्जना करने पर।
2. आहार-पानी शेष बच गया हो, तो उसका परिष्ठापन करने पर।
3. उपाश्रय के कूड़े-कर्कट (काजा) का विसर्जन करने पर।
4. उपाश्रय से सौ हाथ की दूरी तय कर मुहूर्त्त भर उसी स्थान में ठहरने पर।
5. विहार, स्थंडिलगमन, भिक्षाचर्या आदि गमनागमन रूप प्रवृत्ति से निवृत्त होने पर।
6. नौका द्वारा जलमार्ग पार करने पर।
7. प्रतिषिद्ध का आचरण करने पर।
8. स्वाध्याय आदि नहीं करने पर।
9. तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों के प्रति अश्रद्धा होने पर।

10. जिन मत के विपरीत प्ररूपणा (कथन) करने पर।[5]

श्रावक को किन स्थितियों में प्रतिक्रमण करना चाहिए, इस सम्बन्ध में पृथक् रूप से कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है, यद्यपि प्रचलित परम्परा एवं परवर्ती कृतियों के आधार पर उनके लिए प्रतिक्रमण योग्य स्थान निम्न प्रकार हैं–

1. पौषधव्रती या उपधानवाही हो तो– वसति के कूड़े-कर्कट का परिष्ठापन करने पर।
2. वस्त्र आदि की प्रतिलेखना और प्रमार्जना करने पर।
3. उपाश्रय से सौ हाथ की दूरी तक गमनागमन करने पर।
4. मल-मूत्र आदि का परिष्ठापन या तद्योग्य क्रिया करने पर।
5. सामान्य श्रावक के लिए सामायिक आदि धार्मिक अनुष्ठान प्रारम्भ करते समय।
6. दिन, रात्रि, पक्ष, चातुर्मास या वर्ष में लगे हुए दोषों से निवृत्त होने के लिए प्रतिक्रमण करना चाहिए।

अतिचार के हेतु

व्रत जीवन को संयमित, मर्यादित एवं अक्षुण्ण बनाता है जबकि अतिचार उसे खण्डित, विश्रृंखलित कर देता है। व्रत चिकित्सा है और अतिचार जख्म है। बाह्य जख्म को ठीक करने के अनेक उपचार हैं किन्तु भाव जख्म को दूर करने का एक मात्र उपचार प्रतिक्रमण रूप प्रायश्चित्त है।

यहाँ मननीय है कि अतिचार कब, किन स्थितियों में लगते हैं? तब निर्युक्तिकार भद्रबाहु स्वामी इस सन्दर्भ में उल्लेख करते हुए कहते हैं कि सहसा, अज्ञान, भय, अन्य प्रेरणा, विपत्ति, रोग आतंक, मूढ़ता और राग द्वेष– इन कारणों से अतिचार लगते हैं।[6]

इस वर्णन का स्पष्ट आशय यह है कि हमारे जीवन में जब कभी किसी प्रकार के दोषों का सेवन हो जाए या कर लिया जाए तो उनमें उक्त हेतु ही मुख्य हैं।

ओघनिर्युक्ति के अनुसार जिन हेतुओं से अतिचार लगते हैं उन अतिचारों का प्रतिक्रमण इस प्रकार से करना चाहिए कि पुनः दोषों का समाचरण न हो और उनकी स्मृति भी भाररूप में न रहें।[7]

असंभव अतिचारों का प्रतिक्रमण क्यों?

जैन साधकों के लिए यह भी ध्यातव्य है कि दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण करते समय ऐसे अतिचारों का भी उच्चारण किया जाता है, जिनका आसेवन दिन-रात में सम्भव नहीं है, ऐसा क्यों? चूर्णिकार ने इसके मुख्य तीन हेतु बतलाये हैं– 1. संवेगवृद्धि 2. अप्रमाद की साधना और 3. निन्दा-गर्हा।[8]

असेवित अतिचारों का नामोच्चारण या स्मरण करने से वैराग्य भाव की अभिवृद्धि होती है, अप्रमत्त दशा का जागरण होता है तथा उन दोषों को कभी भी न करने के प्रति संकल्प दृढ़ बनता है। यदि पूर्वकाल में ऐसे दोषों का आचरण कर लिया गया हो, तो गुरु साक्षीपूर्वक उनकी आलोचना करने से उतनी आत्म विशुद्धि भी हो जाती है।

प्रतिक्रमण प्रतिदिन करना जरूरी क्यों?

मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि दोषों के कारण जाने-अनजाने में मन-वचन-काया की अशुभ प्रवृत्तियाँ अविरत चालू ही रहती है। ऐसी स्थिति में प्रतिक्रमण करना ही चाहिए, जिससे जीव पाप कार्य करते हुए रूक जाए तथा किए हुए दुष्कृत्यों के लिये पश्चाताप हो और पापाचरण न करने के लिये जागृत रहे। इससे चित्त की विशुद्धि भी होती है, पुराने कर्म खपते हैं और चारित्र गुण की उत्तरोत्तर विशुद्धि होती है।

यदि पाप कार्य प्रतिदिन होते हैं तो उन्हें क्षीण करने के लिए प्रतिक्रमण भी हर रोज करना ही चाहिए। प्रतिक्रमण का दूसरा नाम 'आवश्यक' है। शास्त्रीय परिभाषा में इसे 'आवश्यक' नाम से ही कहा गया है। यह 'आवश्यक' शब्द अवश्य से बना है। अवश्य अर्थात जरूरी करने योग्य। इसीलिए प्रत्येक जैन को यह क्रिया करनी चाहिए। संसारी आत्मा दोषों से भरपूर है। भूल करना और उसे छिपाना, यह आज का भयंकर मानसिक रोग है। इस रोग से छुटकारा पाने का सरलतम उपाय 'प्रतिक्रमण' ही है।

छह आवश्यक रूप क्रिया को प्रतिक्रमण की संज्ञा क्यों?

छह आवश्यकों में प्रतिक्रमण चौथा आवश्यक है,परन्तु आजकल षडावश्यक रूप संयुक्त क्रिया को 'प्रतिक्रमण' ही कहा जाता है। इसके कुछ कारण निम्न हो सकते हैं–

प्रतिक्रमण चतुर्थ आवश्यक है और सब आवश्यकों में अक्षर प्रमाण में बड़ा है अत: सभी आवश्यकों को प्रतिक्रमण नाम से पुकारा गया है। दूसरा हेतु

यह है कि भगवान महावीर का सप्रतिक्रमण धर्म है। अत: साधक के लिए प्रतिदिन दोनों समय प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। स्पष्ट है कि प्रात: एवं सायं प्रतिक्रमण आवश्यक का नियत काल है। वन्दन आदि अन्य आवश्यक प्रतिक्रमण आवश्यक की पूर्व भूमिका एवं उत्तरक्रिया के रूप में ही होते हैं। इसलिए सभी आवश्यकों को 'प्रतिक्रमण' नाम से सम्बोधित करना उचित है।[9]

प्रतिक्रमण क्रिया के प्रति भावोल्लास कैसे उत्पन्न करें?

प्रतिक्रमण क्रिया के प्रति मन को अनुरंजित करने के लिए यह समझना जरूरी है कि यह पाप निवारण की क्रिया है और जैन शासन में पाप निवृत्ति हेतु कई उपाय बताये गये हैं। क्योंकि चौदह गुणस्थानों की सीढ़ियों पर आरोहण उन-उन पापों के निवारण पूर्वक होता है। जैसे-मिथ्यात्व पाप का निवारण हो तो ही सम्यक्त्व रूप चौथे गुणस्थान पर चढ़ सकते हैं, अल्प मात्रा में अविरति पाप का निवारण होने पर ही पाँचवे देशविरति गुणस्थान को प्राप्त किया जा सकता है, ऐसे ही समस्त अविरति के पापों का निवारण होने पर छठें सर्वविरति गुणस्थान को प्राप्त कर सकते हैं। इसी तरह प्रमाद रूपी पाप का निवारण हो तो सातवें अप्रमत्त गुणस्थान, क्रोधादि कषाय अमुक-अमुक परिमाण में घटते जायें तो आठवें, नौवें आदि गुणस्थानों पर आरोहण होता है। इसका अभिप्राय यह है कि जैन धर्म में पाप निवारण की क्रिया को बहुत महत्त्व दिया गया है।

प्रतिक्रमण के प्रति मन को रस विभोर करने के लिए प्रथम उपाय यह है कि प्रतिक्रमण क्रिया प्रारम्भ करने से पूर्व हृदय में उल्लास होना चाहिए, इसमें 'खेद' नामक दोष का अभाव होता है। दूसरे, प्रतिक्रमण से होने वाले लाभों पर विचार करना चाहिए। तीसरे क्रम पर यह सोचना चाहिए कि संसारी कर्मबद्ध आत्माएँ प्रतिसमय सात कर्म भी बांधती हैं और वह कार्मण वर्गणाएँ आत्म प्रदेशों के साथ क्षीरनीरवत एकमेक हो जाती हैं। शास्त्रकारों ने कर्मबंध की प्रक्रिया को अनेक रीतियों से समझाया है। उनमें 1. स्पृष्ट कर्मबंध 2. बद्ध कर्मबंध 3. निधत्त कर्मबंध और 4. निकाचित कर्मबंध- ये चार प्रकार मुख्य हैं। इन चार प्रकारों में से स्पृष्ट और बद्ध- इन दोनों से बंधे हुए कर्म पश्चाताप और प्रतिक्रमण से नष्ट हो जाते हैं। अज्ञानता, प्रमाद, माया आदि कषायों की परवशता, इन्द्रियाधीन आदि के द्वारा किये गये कर्मों से मुक्त होने के लिए अरिहन्त उपदिष्ट प्रतिक्रमण की क्रिया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

भगवान महावीर के शासन में साधु और गृहस्थ को पापों की शुद्धि एवं गुणों की वृद्धि के लिए उभय सन्ध्याओं में अवश्य प्रतिक्रमण करना चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार भारी बोझ उठाया हुआ मजदूर भार उतारने के पश्चात हल्केपन का अनुभव करता है वैसे ही प्रतिक्रमण के द्वारा पाप भार उतर गया है, ऐसा अनुभव होता है।

षडावश्यक में प्रतिक्रमण का महत्त्व सर्वाधिक क्यों?

समस्त श्रुतज्ञान का सार चारित्र है और चारित्र का फल मोक्ष है। यदि ज्ञान चारित्र की साधना में प्रेरक कारण न बने तो वह अज्ञान है, प्रकाश नहीं अंधकार है। यदि चारित्र ग्रहण के पीछे मोक्ष का लक्ष्य नहीं हो तो वह केवल कायकष्ट रूप है। इस दृष्टि को लक्षित करते हुए ज्ञान और क्रिया का समन्वय साधना चाहिए। 'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः' सूत्र के समान 'पढमं नाणं तओ दया' यह सूत्र भी पूर्व मत को पुष्ट करता है। दया चारित्र रूप है इसे जीवन का आदर्श मानते हुए तद्हेतु ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए। दयाधर्म के पालनार्थ जीवादि तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

जिस प्रकार चारित्र के बिना मोक्ष नहीं, उसी प्रकार प्रमाद युक्त चारित्र से भी मोक्ष नहीं होता। प्रमाद को दूर करने एवं चारित्र को शुद्ध बनाने के लिए बार-बार प्रतिक्रमण करना चाहिए। इसके उपरान्त जब तक प्रमाद है तब तक प्रतिक्रमण अत्यन्त जरूरी है। ज्ञानी और संयमी साधकों को भी प्रमाद होता है। उसे निर्गमित करने का एक मात्र साधन प्रतिक्रमण है अतएव जिनशासन में इसका सर्वाधिक महत्त्व है।

प्रतिक्रमण का नाम आवश्यक क्यों?

- प्रतिक्रमण का मूल नाम आवश्यक है।
- यह क्रिया मुनि एवं गृहस्थ दोनों के लिए दिवस और रात्रि के अंत में अवश्य करने योग्य होने से इसका नाम आवश्यक है। • यह क्रिया सभी प्रकार के जीवों में ज्ञान-दर्शन आदि गुणों को प्रकट करती है इसलिए इसे आवश्यक कहा जाता है।
- जो गुणों से आत्मा को वासित करता है वह आवश्यक, आवासक कहलाता है।

• प्रभात और सन्ध्याकाल की आवश्यक धर्म क्रियाओं के लिए प्रतिक्रमण शब्द प्रचलित है क्योंकि इसकी समग्र क्रिया में पापों की निन्दा, गर्हा और पश्चाताप मुख्य है। जैसे प्रतिक्रमण के द्वारा पूर्वोक्त चार दोषों की शुद्धि होती है वैसे ही सम्यग्दर्शन, पाप विरति, उपशम भाव, संवरनिर्जरा आदि मोक्ष साधक योगों की उत्तम प्रकार से आराधना होती है।

पंच प्रतिक्रमण के सूत्रों में दुष्कार्यों की निन्दा, गर्हा और पश्चात्ताप के साथ-साथ सम्यग्दर्शन, पाप विरति आदि मोक्ष साधक योगों की आराधना का अत्यन्त भावभरा वर्णन है।

प्रतिक्रमण सूत्रों के रचयिता कौन?

प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के शासन में साधु एवं गृहस्थ के लिए दोनों सन्ध्याओं में प्रतिक्रमण करने का औत्सर्गिक नियम है इसलिए जब तीर्थ की स्थापना होती है उस समय प्रतिक्रमण सूत्रों की रचना अवश्य होती है। तीर्थंकर परमात्मा त्रिपदी के उपदेश में प्रतिक्रमण का स्वरूप अर्थ रूप में कहते हैं उसे गणधर सूत्ररूप में रचते हैं। प्रतिक्रमण सूत्रों की भाषा अत्यन्त रसमय है, अर्थ महागंभीर है, रचना मंत्रमय है। इसके रचयिता सर्वोत्कृष्ट चारित्र के धारक, निर्मल बुद्धि के निधान और करूणा भंडार गणधर पुरुष हैं। यह हकीकत ध्यान में रहे तथा सूत्रों के प्रति पूर्ण श्रद्धा भाव टिका रहे तो प्रतिक्रमण क्रिया में निरसता या कंटाला नहीं आ सकता। एक निष्णात मंत्र ज्ञाता या कुशल वैद्य शरीर में व्याप्त विष को मंत्र या जड़ी-बूटी से समाप्त कर देता है। जिस मंत्र को विष पीड़ित दर्दी समझता नहीं है और उसके प्रभाव को जानता भी नहीं, वही मंत्र उसे शांति का अनुभव कराता है। इसी भाँति प्रतिक्रमण के मंत्र रूप सूत्रों की महिमा अचिन्त्य है। उन सूत्रों के सुनने मात्र से भी महान लाभ होता है। यदि अर्थ का ज्ञान हो जाये तब तो साधक के आत्मानंद की कोई सीमा नहीं रहती।

सर्वप्रथम प्रतिक्रमण के सूत्रों का ही ज्ञान क्यों?

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सबसे पहले तत्त्वज्ञानमूलक ग्रन्थों का नहीं, अपितु क्रिया में उपयोगी सूत्रों का ज्ञान दिया जाता है उसमें भी सर्वप्रथम प्रतिक्रमण सम्बन्धी सूत्रों का ज्ञान देते हैं। यहाँ प्रश्न होता है कि ज्ञान मुख्य है या क्रिया? क्योंकि जिनशासन में 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' की उक्ति प्रसिद्ध है। इस वाक्यांश में ज्ञान की प्रधानता दिखती है। इसका समाधान यह है कि जब तक जीवन में

पाँच प्रकार के प्रमाद हैं तब तक मुख्य उपकारी क्रिया है, ज्ञान उसका एक साधन है। क्रियारहित अकेला ज्ञान आत्मा को अधिक प्रमादी और पाप परायण बनाता है।

जीवन में जहाँ तक प्रमाद भाव है क्रिया धर्म की आराधना निरन्तर करनी चाहिए तथा क्रिया की सफलता हेतु उस प्रकार का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। लोकव्यवहार में प्रमाद का तात्पर्य आलस्य, सुस्ती, खाली बैठना, काम-काज नहीं करना आदि समझा जाता है किन्तु जिन शासन में प्रतिक्रमण के सन्दर्भ में प्रमाद पाँच प्रकार का माना गया है जो आत्मा के दोष रूप हैं। यह जीव अनादिकाल से पंचविध प्रमाद दोषों से सम्पृक्त है। प्रमाद का सेवन उस चेतना के लिए सहज बन गया है। इसके अधीन हुआ जीव अनेकविध पाप प्रवृत्तियाँ करता है। उन पापों से बचने एवं पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। प्रमाद के पाँच प्रकार निम्न हैं–

1. **मद्य–** नशीली वस्तुओं का सेवन करना 2. **विषय–** पाँच इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होना 3. **कषाय–** क्रोध आदि की प्रवृत्ति करना 4. **निद्रा–** सोते, बैठते, खड़े होते, चलते हुए आदि में नींद लेना 5. **विकथा–** राजा, देश, भोजन एवं स्त्री आदि की कथा करना।

उक्त पाँच प्रकार के प्रमाद आत्म गुणों का घात करने वाले होने से इन्हें शत्रु या मृत्यु की उपमा दी गई है। छठवें गुणस्थान तक प्रमाद होता है इसलिए जहाँ तक प्रमाद हो उस सीमा तक प्रतिक्रमण करना ही होता है। इस प्रकार प्रमाद दोष को दूर करने का मुख्य साधन प्रतिक्रमण की क्रिया है। प्रतिक्रमण न करें तो प्रमाद दोष अनंत गुणा विपरीत फल देने वाला होता है।

प्रमाद दोष के कारण ही जीव धर्म और गुणों से भ्रष्ट होता है। एक बार भ्रष्ट होने के पश्चात फिर से धर्म की भूमिका प्राप्त करने के लिए प्रतिक्रमण की क्रिया अमोघ उपाय है।

प्रतिक्रमण की चार भूमिकाएँ

प्रतिक्रमण की क्रिया में 'पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि'– शब्द बोले जाते हैं जो प्रतिक्रमण साधना की अनुक्रम से चार भूमिकाएँ हैं–

कोई प्रवृत्ति गलत, पापमय या सावद्य हो तो उसमें आगे बढ़ते हुए रूक

जाना चाहिए और 'मैं क्या कर रहा हूँ'? इस बिन्दु पर गंभीरता से विचार करना चाहिए तथा जीवन की दिशा बदलनी चाहिए। जीवन दिशा को परिवर्तित करना, उसे आत्माभिमुख करना 'पडिक्कमामि' पद का परमार्थ है।

यह आत्मा अनादिकाल से पाप कर्म कर रहा है इसलिए उसे पाप करने की आदत पड़ गई है। वह बार-बार पापकर्म न कर सकें, उस हेतु उपालम्भ देना चाहिए, उस पर अनुशासन रखना चाहिए। जैसे कि हे आत्मन्! तूं क्या कर रहा है, जहाँ नहीं जाना चाहिए उस ओर गमन कर रहा है, जहाँ जाना चाहिए वहाँ से उदासीन है, पाप का फल दुःख है, ऐसा जानते हुए पापमार्ग का त्याग कर और धर्म मार्ग की आराधना कर! इत्यादि बोध वाक्यों से आत्मा को अनुशासित करना 'निंदामि' पद का परमार्थ है।

पाप से पीछे हटने या आत्मा को नियन्त्रित करने मात्र से पाप की पूर्ण शुद्धि नहीं होती। उसके लिए पश्चात्ताप होना चाहिए और वह मस्तक पर एक प्रकार के भारी बोझ जैसा लगना चाहिए। पाप भार को हल्का करने के लिए गुरु सम्मुख आलोचना करनी चाहिए तथा उस योग्य प्रायश्चित्त ग्रहण करने की तत्परता दिखानी चाहिए, यही 'गरिहामि' पद का परमार्थ है।

प्रतिक्रमण, निंदा और गर्हा करने के पश्चात साधक की आत्मा कषाय युक्त न हो, तत्सम्बन्धी सावधानी रखनी चाहिए, क्योंकि समस्त प्रकार के पाप आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं और इसके माध्यम से ही विकास को प्राप्त करते हैं। कषायवान आत्मा का त्याग करना ही 'अप्पाणं वोसिरामि' पद का परमार्थ है।

इस प्रकार प्रतिक्रमण द्वारा आत्म शुद्धि की चार भूमिकाएँ हैं।

षडावश्यक क्रम की स्वाभाविकता एवं रहस्यमयता

जो अन्तर्दृष्टि वाले हैं, उनके जीवन का प्रधान उद्देश्य समभाव की प्राप्ति करना है। इसलिए उनके प्रत्येक व्यवहार में समभाव का दर्शन होता है। अन्तर्दृष्टि वाले जब किसी को समभाव की पूर्णता के शिखर पर पहुँचे हुए जानते हैं, तब वे उसके वास्तविक गुणों की स्तुति करने लगते हैं। इसी तरह वे समभाव स्थित साधु पुरुष को वन्दन-नमस्कार करना भी नहीं भुलते। अन्तर्दृष्टि से जागृत साधकों में ऐसी अप्रमत्तता होती है कि कदाचित वे पूर्व वासनावश या कुसंसर्गवश समभाव से गिर जाएं, तब भी उस अप्रमत्तता के कारण प्रतिक्रमण करके अपनी पूर्व-प्राप्त स्थिति को फिर से पा लेते हैं और कभी-कभी तो पूर्व

स्थिति से आगे भी बढ़ जाते हैं। ध्यान ही आध्यात्मिक जीवन के विकास की कुंजी है। इसके लिये अन्तर्दृष्टिवान बार-बार ध्यान-कायोत्सर्ग किया करते हैं। ध्यान द्वारा चित्त शुद्धि करते हुए वे आत्मस्वरूप में विशेषतया लीन हो जाते हैं। अतएव जड़ वस्तुओं के भोग का परित्याग-प्रत्याख्यान भी उनके लिये साहजिक क्रिया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि आध्यात्मिक पुरुषों के उच्च एवं स्वाभाविक जीवन का पृथक्करण ही 'आवश्यक क्रिया' के क्रम का आधार है।

जब तक सामायिक प्राप्त न हो, तब तक चतुर्विंशतिस्तव भावपूर्वक किया ही नहीं जा सकता, क्योंकि जो स्वयं समभाव को प्राप्त नहीं है, वह समभाव में स्थित महात्माओं के गुणों को जान नहीं सकता और न उनसे प्रसन्न होकर उनकी प्रशंसा कर सकता है। इसलिये सामायिक के पश्चात चतुर्विंशतिस्तव का अधिकारी वन्दन विधिपूर्वक कर सकता है। क्योंकि जिसने चौबीस तीर्थंकरों के गुणों से प्रसन्न होकर उनकी स्तुति नहीं की है, वह तीर्थंकरों के मार्ग के उपदेशक सद्गुरु को भावपूर्वक वन्दन कैसे कर सकता है? इसी कारण वन्दन को चतुर्विंशतिस्तव के बाद रखा गया है।

वन्दन के पश्चात प्रतिक्रमण को स्थान देने का आशय यह है कि आलोचना गुरु के समक्ष की जाती है। जो गुरु को वन्दन नहीं करता, वह आलोचना का अधिकारी ही नहीं। गुरु वन्दन के बिना की जाने वाली आलोचना नाममात्र की आलोचना है, उससे कोई साध्य सिद्धि नहीं हो सकती। सच्ची आलोचना करने वाले अधिकारी के परिणाम इतने नम्र और कोमल होते हैं कि जिससे वह मन ही मन गुरु के पैरों में सिर नमाता है।

कायोत्सर्ग की योग्यता प्रतिक्रमण कर लेने पर आती है। इसका कारण यह है कि जब तक प्रतिक्रमण द्वारा पाप की आलोचना करके चित्त शुद्धि न की जाए, तब तक धर्मध्यान या शुक्लध्यान के लिये एकाग्रता संपादन करने का, जो कायोत्सर्ग का उद्देश्य है, वह किसी तरह सिद्ध नहीं हो सकता। आलोचना के द्वारा चित्त शुद्धि किये बिना जो कायोत्सर्ग करता है, उसके दिल में उच्च ध्येय का विचार कभी नहीं आता। वह अनुभूत विषयों का ही चिन्तन किया करता है।

कायोत्सर्ग करके जो विशेष चित्त शुद्धि, एकाग्रता और आत्मबल प्राप्त करता है, वही प्रत्याख्यान का सच्चा अधिकारी है। जिसने एकाग्रता प्राप्त नहीं

की है और संकल्प बल भी पैदा नहीं किया है, वह यदि प्रत्याख्यान कर भी ले तो भी उसका समुचित निर्वाह नहीं कर सकता। प्रत्याख्यान सबसे ऊपर की 'आवश्यक क्रिया' है। उसके लिये विशिष्ट चित्त शुद्धि आवश्यक है, जो कायोत्सर्ग के बिना पैदा नहीं हो सकती। इसी अभिप्राय से कायोत्सर्ग के पश्चात प्रत्याख्यान आवश्यक रखा गया है।

षडावश्यक की क्रमिकता के कुछ रहस्य और भी कहे जा सकते हैं जैसे कि समभाव की प्राप्ति होना 'सामायिक' है। ममत्व बुद्धि के कारण आत्मा अनादिकाल से चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण कर रही है। ऐसी आत्मा को समभाव में स्थिर करने के लिए सावद्य योगों से निवृत्ति आवश्यक है, जो कि सामायिक से सम्भव है।

सरल शब्दों में सामायिक का निर्वचन है– आत्म स्वरूप में रमण करना। सम्यकदर्शन, सम्यकज्ञान, सम्यकचारित्र और सम्यकतप में तल्लीन होना। सम्यकदर्शन, सम्यकज्ञान, सम्यकचारित्र और सम्यकतप ही मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग में सामायिक मुख्य है यह बताने के लिए भी सामायिक आवश्यक को सबसे प्रथम रखा गया है।

दूसरी दृष्टि से आत्मोत्थान के लिए सामायिक मुख्य प्रयोग है। साथ ही समस्त धार्मिक क्रियाओं के लिए भी आधारभूत होने से सामायिक को प्रथम स्थान दिया गया है।

तीसरा कारण है कि सामायिक की साधना उत्कृष्ट है। अत: सामायिक के बिना आत्मा का पूर्ण विकास असंभव है। सभी धार्मिक साधनाओं के मूल में सामायिक रही हुई है। अत: समता भाव की दृष्टि से ही सामायिक आवश्यक को प्रथम स्थान प्राप्त है।[10]

सावद्य योग से निवृत्ति प्राप्त करने के लिए एवं जीवन को राग-द्वेष रहित बनाने के लिए साधक को सर्वोत्कृष्ट जीवन जीने वाले महापुरुषों के आलम्बन की आवश्यकता रहती है। इसी उद्देश्य से सामायिक के पश्चात चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक का क्रम रखा गया है। जो व्यक्ति अपने इष्टदेव तीर्थंकर भगवंतों की स्तुति करता है, गुण-स्मरण करता है वही तीर्थंकर भगवान के बताए हुए मार्ग पर चलने वाले, जिनवाणी का उपदेश देने वाले गुरुओं को भक्ति भाव पूर्वक

वंदन-नमस्कार कर सकता है अतएव चतुर्विंशतिस्तव के बाद वंदना आवश्यक को स्थान दिया गया है।

वंदना आवश्यक के पश्चात प्रतिक्रमण को रखने का आशय यह है कि जो राग-द्वेष रहित समभावों से गुरु की स्तुति करने वाले हैं, वे भव्य जीव ही गुरु साक्षी से अपने पापों की आलोचना कर सकते हैं। जो गुरु को वंदन ही नहीं करेगा, वह गुरु के प्रति बहुमान कैसे रखेगा और अपना हृदय स्पष्टतया खोलकर कृत पापों की आलोचना कैसे करेगा? जो पाप मन से, वचन से और काया से स्वयं किये जाते हैं, दूसरों से करवाये जाते हैं और दूसरों के द्वारा किए हुए पापों का अनुमोदन किया जाता है उन सब पापों की निवृत्ति के लिए कृत पापों की आलोचना करना, निन्दा करना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण करने से आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में आती है।

प्रतिक्रमण के द्वारा व्रतों के अतिचार रूपी छिद्रों को बंद कर देने वाला तथा पश्चात्ताप के द्वारा पाप कर्मों की निवृत्ति करने वाला साधक ही कायोत्सर्ग की योग्यता प्राप्त कर सकता है। जब तक प्रतिक्रमण के द्वारा पापों की आलोचना करके चित्त शुद्धि न की जाए, तब तक धर्मध्यान या शुक्लध्यान के लिए एकाग्रता संपादन करने का कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। अनाभोग आदि से लगने वाले अतिचारों की अपेक्षा अविवेक, असावधानी आदि से लगने वाले बड़े अतिचारों की शुद्धि कायोत्सर्ग द्वारा होती है इसीलिए कायोत्सर्ग को पांचवाँ स्थान दिया गया है।

अविवेक आदि से लगने वाले अतिचारों की अपेक्षा जानते हुए अहंकार आदि से लगे बड़े अतिचारों की शुद्धि प्रत्याख्यान करता है अत: प्रत्याख्यान को छठवाँ स्थान दिया गया है।

स्पष्ट रूप से कहा जाए तो प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग के द्वारा कृत अतिचार की शुद्धि हो जाने पर भी प्रत्याख्यान द्वारा तप रूप नया लाभ होता है।

जो साधक कायोत्सर्ग द्वारा विशेष चित्त शुद्धि, एकाग्रता और आत्म बल प्राप्त करता है वह प्रत्याख्यान का सच्चा अधिकारी है यानी प्रत्याख्यान के लिए विशिष्ट चित्तशुद्धि और विशेष उत्साह की अपेक्षा है, जो कायोत्सर्ग के बिना सम्भव नहीं है। अत: कायोत्सर्ग के पश्चात प्रत्याख्यान को स्थान दिया गया है।

प्रत्याख्यान के द्वारा साधक मन, वचन, काया को दुष्ट प्रवृत्तियों से रोककर शुभ प्रवृत्तियों पर केन्द्रित करता है। ऐसा करने से इच्छा निरोध, तृष्णा का

अभाव, सुख शांति आदि अनेक सद्गुणों की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि छह 'आवश्यकों' का जो क्रम है, वह विशेष कार्यकारण भाव की शृंखला पर स्थित है। उसमें उलट-फेर होने से उसकी वह स्वाभाविकता नहीं रहती, जो कि उसमें है।

आवश्यक क्रिया की आध्यात्मिकता

जो क्रिया आत्मा के विकास को लक्ष्य में रखकर की जाती है, वही आध्यात्मिक क्रिया है। आत्मा के विकास का तात्पर्य उसके चारित्र आदि गुणों की क्रमशः शुद्धि करने से है। इस कसोटी पर कसने से यह निर्विवादतः सिद्ध होता है कि सामायिक आदि छहों 'आवश्यक' आध्यात्मिक हैं। क्योंकि सामायिक का फल पाप जनक व्यापार की निवृत्ति है, जो कि कर्म निर्जरा द्वारा आत्मा के विकास का कारण है।

चतुर्विंशतिस्तव का उद्देश्य गुणानुराग की वृद्धि करते हुए गुणों को प्राप्त करना है, जो कि कर्म-निर्जरा द्वारा आत्मा के विकास का साधन है।

वन्दन क्रिया के द्वारा विनय की प्राप्ति होती है, मान खण्डित होता है, गुरुजनों की पूजा होती है, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन होता है और श्रुतधर्म की आराधना होती है, जो कि अन्त में आत्मा के क्रमिक विकास द्वारा मोक्ष के कारण होते हैं। वन्दन करने वालों को नम्रता के कारण शास्त्र सुनने का अवसर मिलता है। शास्त्र श्रवण के माध्यम से क्रमशः ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान, संयम, आस्रव, तप, कर्मनाश, अक्रिया और सिद्धि- इन नौ लाभों की प्राप्ति होती है। इसलिये वन्दन क्रिया आत्मा के विकास का असंदिग्ध कारण है।[11]

आत्मा वस्तुतः पूर्ण शुद्ध और पूर्ण बलवान है, परन्तु वह अनादिकाल से अनेक दोषों की तहों से दब गया है, इसलिये जब वह ऊपर उठने का कुछ प्रयत्न करता है, तो उसके द्वारा अनादि अभ्यासवश भूलें हो जाना सहज है। वह जब तक उन भूलों का संशोधन न करें, तब तक इष्ट सिद्ध हो ही नहीं सकता। इसलिए पग-पग पर की हुई भूलों को याद करके प्रतिक्रमण द्वारा फिर से उन्हें न करने के लिये निश्चय कर लेता है। इस तरह से प्रतिक्रमण क्रिया का उद्देश्य पूर्व दोषों को दूर करते हुए पुनः से उन दोषों को नहीं करने का संकल्प करना है, जिससे कि आत्मा दोष मुक्त होकर धीरे-धीरे अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाये। इसी से प्रतिक्रमण क्रिया आध्यात्मिक है।

कायोत्सर्ग, चित्त की एकाग्रता पैदा करता है और आत्मा को अपना स्वरूप विचारने का अवसर देता है जिससे आत्मा निर्भय बन कर अपने कठिनतम उद्देश्य को सिद्ध कर सकता है। इसी कारण कायोत्सर्ग क्रिया भी आध्यात्मिक है।

दुनियाँ में जो कुछ है, वह सब न तो भोगा जा सकता है और न भोगने के योग्य है तथा वास्तविक शान्ति अपरिमित भोग से भी सम्भव नहीं है। इसलिए प्रत्याख्यान क्रिया के द्वारा साधक अपने को व्यर्थ के भोगों से बचाते हैं और उसके द्वारा चिरकालीन आत्म शान्ति पाते हैं। अतएव प्रत्याख्यान क्रिया भी आध्यात्मिक ही है।

प्रतिक्रमण का अधिकारी और उसका विधि विमर्श

इस अध्याय में प्रतिक्रमण शब्द का अभिप्राय छह आवश्यकों से है। यहाँ उसके सम्बन्ध में मुख्य दो प्रश्नों पर विचार करेंगे– 1. प्रतिक्रमण के अधिकारी कौन हैं? और 2. प्रचलित प्रतिक्रमण शास्त्रीय एवं युक्तिसंगत है या नहीं?

प्रथम प्रश्न का उत्तर यह है कि साधु-श्रावक दोनों 'प्रतिक्रमण' के अधिकारी हैं, क्योंकि शास्त्र में साधु-श्रावक दोनों के लिये सायंकालीन और प्रात:कालीन अवश्य कर्त्तव्य रूप से 'प्रतिक्रमण' का विधान है[12] और अतिचार आदि लगे हो या नहीं, परन्तु प्रथम और चरम तीर्थंकर के शासन में 'प्रतिक्रमण' सहित ही धर्म बतलाया गया है।[13]

दूसरा प्रश्न साधु और श्रावक– दोनों की 'प्रतिक्रमण' विधि से सम्बन्ध रखता है। यद्यपि मुनियों का चारित्र विषयक क्षयोपशम अल्पाधिक हो सकता है परन्तु सामान्य रूप से वे पंच महाव्रत को त्रिविध-त्रिविध पूर्वक धारण करते हैं। अतएव सभी साधुओं को अपने पंच महाव्रतों में लगे हुए अतिचारों के संशोधन हेतु आलोचना या 'प्रतिक्रमण' नामक चौथा आवश्यक समान रूप से करना चाहिए और इसके लिये साधुओं को एक जैसा आलोचना सूत्र पढ़ना चाहिए। किन्तु श्रावकों के सम्बन्ध में तर्क पैदा होता है और वह यह कि श्रावक अनेक प्रकार के होते हैं। कोई अव्रती है, तो कोई व्रती है। इस प्रकार कोई अधिक से अधिक बारह व्रत तक धारण कर सकता है तो कोई संलेखना भी। व्रत भी किसी को द्विविध-त्रिविध से, किसी को एकविध-त्रिविध से, किसी को एकविध-द्विविध से, ऐसे अनेक प्रकार से दिलाया जाता है। अतएव श्रावक विविध अभिग्रह वाले

कहे गये हैं। भिन्न अभिग्रह वाले सभी श्रावक चौथे 'आवश्यक' के सिवाय शेष पाँच 'आवश्यक' जिस रीति से करते हैं और उनमें जो जो सूत्र पढ़ते हैं, इस विषय में तो शङ्का को स्थान नहीं है, परन्तु वे चौथे 'आवश्यक' को जिस प्रकार से करते हैं और उस समय जिन सूत्रों को पढ़ते हैं, उसके विषय में शङ्का अवश्य होती है।

शंका यह है कि चौथा 'आवश्यक' अतिचार संशोधन रूप है। ग्रहण किये हुए व्रत-नियमों में ही अतिचार लगते हैं और व्रत-नियम सबके समान नहीं होते। अतएव 'वंदित्तु सूत्र' के द्वारा सभी श्रावक– व्रती हो या अव्रती बारह व्रत आदि के अतिचारों का जो संशोधन करते हैं, वह न्याय संगत कैसे कहा जा सकता है? जिसने जो व्रत ग्रहण किया हो, उसको उसी व्रत के अतिचारों का संशोधन 'मिच्छामि दुक्कडं' द्वारा करना चाहिए। ग्रहण नहीं किये हुए व्रतों के सम्बन्ध में तो उनका संशोधन न करके व्रतों के गुणों का विचार करना चाहिए और गुण-भावना द्वारा उन व्रतों को स्वीकार करने के लिए आत्म सामर्थ्य पैदा करना चाहिए।

ग्रहण नहीं किये हुए व्रतों के अतिचारों का संशोधन यदि युक्त समझा जाए तो फिर श्रावक के लिए 'पंच महाव्रत' के अतिचारों का संशोधन भी युक्त मानना पड़ेगा। ग्रहण किये हुए या ग्रहण नहीं किए हुए व्रतों के सम्बन्ध में श्रद्धा-विपर्यास हो जाने पर 'मिच्छामि दुक्कडं' आदि द्वारा उसका प्रतिक्रमण करना, यह तो सब अधिकारियों के लिए समान है। परन्तु यहाँ जो प्रश्न है, वह अतिचार-संशोधन रूप प्रतिक्रमण के सम्बन्ध का ही है। इस शङ्का का समाधान यह है कि अतिचार-संशोधन रूप 'प्रतिक्रमण' तो ग्रहण किये हुए व्रतों का ही करना युक्ति संगत है और तदनुसार ही सूत्रांश पढ़कर 'मिच्छामि दुक्कडं' आदि देना चाहिए। ग्रहण नहीं किए हुए व्रतों के सम्बन्ध में श्रद्धा-विपर्यास का 'प्रतिक्रमण' भले ही किया जाए, पर अतिचार-संशोधन के लिए उस-उस सूत्रांश को पढ़कर 'मिच्छामि दुक्कडं' आदि देने की अपेक्षा उन व्रतों के गुणों की भावना करना एवं गुणानुराग को पुष्ट करना ही युक्ति संगत है।

अब प्रश्न यह है कि जब ऐसी स्थिति है, तब व्रती-अव्रती, छोटे-बड़े सभी श्रावकों में एक ही 'वंदित्तुसूत्र' के द्वारा समान रूप से अतिचार का संशोधन करने की जो प्रथा प्रचलित है, वह कैसे चल पड़ी है?

इसका खुलासा यह है कि प्रथम तो सभी को 'आवश्यक सूत्र' पूर्णतया याद नहीं होता और अगर याद भी हो, तब भी साधारण अधिकारियों के लिये अकेले की अपेक्षा समुदाय में सम्मिलित होकर 'आवश्यक' करना लाभदायक माना गया है। जब कोई वरिष्ठ श्रावक अपने लिये सर्वथा उपयुक्त सम्पूर्ण 'वंदित्तु सूत्र' पढ़ता है, तब प्राथमिक और माध्यमिक– सभी अधिकारियों के लिए उपयोगी आलोचना पाठ उसमें आ ही जाते हैं। इन कारणों से ऐसी सामुदायिक प्रथा चल पड़ी है कि एक व्यक्ति सम्पूर्ण 'वंदित्तु सूत्र' बोलता है और शेष अधिकारी श्रावक का अनुकरण करके सब व्रतों के सम्बन्ध में अतिचारों का संशोधन कर लेते हैं। इस सामुदायिक प्रथा के रूढ़ हो जाने के कारण जब कोई प्राथमिक या माध्यमिक श्रावक अकेला प्रतिक्रमण करता है, तब भी वह 'वंदित्तु सूत्र' को सम्पूर्ण ही पढ़ता है और ग्रहण नहीं किए हुए व्रतों के अतिचार का भी संशोधन करता है।

इस प्रथा के रूढ़ हो जाने का एक कारण यह भी मालूम होता है कि सामान्य जन समुदाय में पर्याप्त विवेक नहीं होता। इसलिये वंदित्तुसूत्र में से अपने-अपने लिये उपयुक्त सूत्रांशों को चुन कर बोलना और शेष सूत्रांशों को छोड़ देना, यह काम सर्व साधारण के लिए कठिन ही नहीं, अपितु विषमता पैदा करने वाला भी है। इस कारण यह नियम रखा गया है कि सूत्र अखण्डित रूप से ही पढ़ना चाहिए।[14] यही कारण है कि जब समुदाय को या किसी एक व्यक्ति को 'पच्चक्खाण' कराया जाता है, तब ऐसा सूत्र पढ़ा जाता है कि जिसमें अनेक 'पच्चक्खाणों' का समावेश हो और सभी अधिकारी अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार 'पच्चक्खाण' कर सकें।

इस दृष्टि से यह कहना होगा कि वंदित्तुसूत्र अखण्डित रूप से पढ़ना न्याय एवं शास्त्र संगत है। जहाँ तक अतिचार संशोधन में विवेक रखने का प्रश्न है, उसमें विवेकी अधिकारी स्वतन्त्र है। इसमें प्रथा बाधक नहीं है।

प्रतिक्रमण और शुद्धि

प्रतिक्रमण अर्थात पाप का प्रायश्चित्त। प्रतिक्रमण सम्बन्धी एक-एक सूत्रपाठ आत्मा को कर्मरूपी बन्धन से मुक्त करता है। वस्तुतः प्रतिक्रमण करते हुए यह जीव तीन प्रकार की शुद्धि करता है– 1. आचारशुद्धि 2. पापशुद्धि और 3. आत्मशुद्धि।

छः आवश्यकों में प्रथम सामायिक आवश्यक से चारित्राचार की शुद्धि होती है। सामायिक स्थित आत्मा साधु के समान कहलाती है अतः यह दो घड़ी की सामायिक भी सर्वविरति चारित्र प्रदान करने का सामर्थ्य रखती है।

द्वितीय चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक से दर्शनाचार की शुद्धि होती है। चौबीस तीर्थंकर भगवान की स्तुति के साथ सम्यक्त्व शुद्धि का महत्त्व इस लोगस्ससूत्र में समाविष्ट हैं।

तृतीय वन्दन आवश्यक ज्ञान आदि तीन आचारों की शुद्धि करता है। क्योंकि इस आवश्यक के अंतर्गत मुखवस्त्रिका के बोल द्वारा समग्र दोषों की शुद्धि का चिंतन तथा गुरु निश्रा एवं गुरु शरण के भावपूर्वक आशातनाओं का मिथ्यादुष्कृत दिया जाता है। उक्त तीनों आवश्यकों से आचारशुद्धि होती है।

चतुर्थ प्रतिक्रमण आवश्यक से पापशुद्धि होती है, क्योंकि कृत अतिचारों का भाव शुद्धि पूर्वक मिथ्या दुष्कृत देने से अधिक लाभ मिलता है। पंचम कायोत्सर्ग आवश्यक के द्वारा विशेष रूप से आत्मशुद्धि होती है। षष्ठम प्रत्याख्यान आवश्यक पापविराम रूप होने के कारण इससे भी आत्म शुद्धि होती है।

जैन शासन की इस पवित्र क्रिया द्वारा आत्मश्रेयार्थ सभी को तत्पर होना चाहिए।

प्रतिक्रमण का वैशिष्ट्य

जैनागमों में प्रतिक्रमण को आवश्यक कहा गया है। 'अवश्यं करणीयत्वाद् आवश्यकम्' अर्थात जो अवश्य करणीय हो, वह आवश्यक कहलाता है। यह साधु और श्रावक दोनों की आवश्यक क्रिया रूप है। साधु सर्वविरति और श्रावक देशविरति कहलाता है। इसलिए साधु के लिए तो प्रतिदिन दोनों समय प्रतिक्रमण करना अनिवार्य है, परन्तु श्रावक को भी प्रतिदिन उभय सन्ध्याओं में प्रतिक्रमण करना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि जिसने श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये हों उसे तो प्रतिक्रमण करना उचित है, परन्तु जिसने व्रत स्वीकार नहीं किया हो उसे तत्सम्बन्धित व्रतों के दोषों का लगना असम्भव है इसलिए अव्रती को प्रतिक्रमण करने की क्या आवश्यकता है? प्रज्ञावान पुरुषों ने इसका सुन्दर समाधान करते हुए कहा है कि व्रती एवं अव्रती दोनों को प्रतिक्रमण करना चाहिए, क्योंकि मात्र अतिचारों की शुद्धि के लिए ही

प्रतिक्रमण नहीं किया जाता, अपितु वंदित्तुसूत्र की 48वीं गाथा **'पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे अ पडिक्कमणं'** के अनुसार निषिद्ध कार्य करने पर, उपदिष्ट या करणीय कार्य न करने पर, जिनवचन में अश्रद्धा करने पर एवं जिनेश्वरों के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान के विरुद्ध विचारों का प्रतिपादन करने पर प्रतिक्रमण करना चाहिए। प्रतिक्रमण करने सम्बन्धी इन चारों हेतुओं में मिथ्यादृष्टि, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरति और सर्वविरति सब आ जाते हैं। अत: अविरति हो अथवा विरतिधर सबके लिए प्रतिक्रमण आवश्यक है। इस वर्णन से प्रतिक्रमण की सार्वकालिक महत्ता सिद्ध हो जाती है।[१५]

यदि गहराई से अनुचिन्तन किया जाए तो इस साधना का मूल्य विविध दृष्टियों से आंका जा सकता है–

दस कल्प की दृष्टि से– श्रमण के विविध कल्प हैं। कल्प का सामान्य अर्थ आचार या मुनि जीवन की सामाचारी प्रधान मर्यादा है। प्रशमरति के अनुसार जो कार्य ज्ञान, शील, तप आदि का उपग्रह करता है और दोषों का निग्रह करता है वह निश्चय दृष्टि से कल्प है और शेष अकल्प हैं।[16] तत्त्वार्थसूत्र की टीका में कल्प शब्द का अर्थ 'काल' भी किया है, किन्तु यहाँ पर इसका अर्थ–मुनि की आचार मर्यादा एवं साधु सामाचारी में अवस्थान है।[17] यह सुविदित है कि चौबीस तीर्थंकर के साधु एवं साध्वियों के लिए दस कल्प का विधान है, जिनका यथोक्त परिपालन सर्वकाल में अनिवार्य है। दस कल्प के नाम ये हैं– 1. आचेलक्य 2. औद्देशिक वर्जन 3. शय्यातरपिण्ड वर्जन 4. राजपिण्ड परिहार 5. कृतिकर्म 6. व्रत 7. ज्येष्ठ 8. प्रतिक्रमण 9. मासकल्प और 10. पर्युषणाकल्प।[18]

इन दशविध कल्पों में प्रतिक्रमण भी एक कल्प है। श्रमण अपने अपराध का निराकरण करने के लिए जो अनुष्ठान करता है, उसको 'प्रतिक्रमण' नाम का कल्प कहा गया है।

यहाँ यह भी स्पष्टत: ध्यातव्य है कि उक्त दस कल्पों में निम्न चार कल्प चौबीसों तीर्थंकरों के साधुओं के लिए अनिवार्य हैं– 1. शय्यातरपिण्ड वर्जन 2. व्रत 3. पर्याय ज्येष्ठ और 4 कृतिकर्म।

निम्न छह कल्प प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्यों के लिए अनिवार्य हैं किन्तु मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकर के साधुओं के लिए इनका परिपालन काल

सापेक्ष है– 1. अचेलक 2. औद्देशिक वर्जन 3. राजपिण्ड परिहार 4. प्रतिक्रमण 5. मासकल्प और 6. पर्युषणाकल्प। इस प्रकार आचारसंहिता के परिप्रेक्ष्य में प्रतिक्रमण की मूल्यवत्ता प्रत्यक्ष सिद्ध है।

प्रायश्चित्त की दृष्टि से– प्रतिक्रमण एक प्रकार का प्रायश्चित्त है। आभ्यन्तर तप में प्रायश्चित्त का मुख्य स्थान है। इसका तात्पर्य यह है कि आभ्यन्तर तप के द्वारा जितनी आत्म विशुद्धि होती है उतनी ही भाव विशुद्धि प्रतिक्रमण के द्वारा भी शक्य है।

प्रायश्चित्त शब्द में प्रायस् और चित्त इन दो का सांयोगिक मेल है। प्रायस् का अर्थ है– पाप या अपराध और चित्त का अर्थ है– उसका संशोधन अर्थात अपराध का संशोधन करना प्रायश्चित्त है। पूज्यपाद ने यही अर्थ किया है– वह प्रक्रिया जिसके द्वारा अपराध की शुद्धि होती है, प्रायश्चित्त कहलाता है।[19] दूसरे शब्दों में कहें तो जिससे पाप का छेदन हो, वह प्रायश्चित्त है। धवला टीका के अनुसार 'प्राय:' पद लोकवाची है अर्थात व्यक्ति का बोधक है और 'चित्त' से अभिप्राय उसका मन है अत: चित्त की शुद्धि करने वाला कर्म प्रायश्चित्त कहा जाता है।[20]

यहाँ 'प्रायश्चित्त' शब्द के अर्थ विश्लेषण का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार विवेक पूर्वक धर्माचरण करते हुए भी प्रमादवश व्रत आचरण में यदि किसी प्रकार का कोई दोष लग जाये तो उसका परिहार प्रायश्चित्त द्वारा किया जाता है उसी तरह पूर्वगत दोषों की शुद्धि प्रतिक्रमण के द्वारा भी होती है। प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त के तुल्य बलवाला एवं विशुद्धि करने वाला है। जैनागमों में प्रायश्चित्त दस प्रकार का कहा गया है– 1. आलोचना योग्य 2. प्रतिक्रमण योग्य 3. तदुभय योग्य 4. विवेक योग्य 5. व्युत्सर्ग योग्य 6. तप योग्य 7. छेद योग्य 8. मूल योग्य 9. अनवस्थापना योग्य 10. पारांचिक योग्य।[21]

इन दसविध भेदों में 'प्रतिक्रमण' का दूसरा स्थान है। इससे नितान्त स्पष्ट होता है कि प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त रूप है और यह प्रायश्चित्त के समान भव (जन्म-जन्मान्तर) और भाव दोनों का विशुद्ध कर्त्ता है।

प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त का अभिप्राय यह है कि अध्यात्म जगत में दोष (अपराध) को रोग कहा गया है और प्रायश्चित्त को उसकी 'चिकित्सा'। चिकित्सा का उद्देश्य रोगी को कष्ट देना नहीं होता है, अपितु उसके रोग का

निवारण करना होता है उसी तरह दोषयुक्त साधक को प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त करने का उद्देश्य कष्ट या क्लेश प्राप्ति नहीं है, अपितु उसे दोष मुक्त करना है।

इस प्रकार भावनात्मक उच्चस्तरीय परिवर्तन एवं मानसिक विशोधन की अपेक्षा भी प्रतिक्रमण का मूल्य सर्वोपरि सिद्ध होता है।

लौकिक-लोकोत्तर दृष्टि से– भाव आवश्यक यह लोकोत्तर-क्रिया है, क्योंकि यह क्रिया लोकोत्तर (मोक्ष) के उद्देश्य से उपयोग पूर्वक की जाती है। इसलिये पहले उसका समर्थन लोकोत्तर दृष्टि से करते हैं और उसके बाद व्यावहारिक दृष्टि से भी उसका समर्थन किया जायेगा। क्योंकि 'आवश्यक' है लोकोत्तर-क्रिया, पर उसके अधिकारी व्यवहारनिष्ठ होते हैं।

जिन तत्त्वों के होने पर मनुष्य का जीवन अन्य प्राणियों के जीवन से उच्च समझा जा सकता है और अन्त में विकास की पराकाष्ठा तक पहुँच सकता है वे तत्त्व निम्न हैं–

1. समभाव अर्थात शुद्ध श्रद्धा, सम्यक ज्ञान और सम्यक चारित्र का संमिश्रण। 2. जीवन को विशुद्ध बनाने के लिए सर्वोपरि जीवन जीने वाले महात्माओं को आदर्श रूप में स्वीकार करके उनकी ओर सदा दृष्टि रखना 3. गुणवानों का बहुमान एवं विनय करना 4. कर्त्तव्य की स्मृति और कर्त्तव्य पालन में होने वाली गलतियों का अवलोकन करके निष्कपट भाव से उनका संशोधन करना और फिर से वैसी गलतियाँ न हों, इसके लिए आत्मा को जागृत रखना 5. ध्यान का अभ्यास करके प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को यथार्थ रीति से समझने के लिए विवेक-शक्ति का विकास करना और 6. त्याग वृत्ति के द्वारा संतोष एवं सहनशीलता को बढ़ाना।

इन तत्त्वों के आधार पर आवश्यक क्रिया का महल खड़ा है। इसलिए शास्त्र कहता है कि 'आवश्यक क्रिया' आत्मा को प्राप्त भावों (शुद्धि) से गिरने नहीं देती, बल्कि अपूर्व भाव प्राप्त करवाती है तथा क्षायोपशमिक भाव पूर्वक की जाने वाली क्रिया से पतित आत्मा की भी फिर से भाव वृद्धि होती है। इस कारण गुणों की वृद्धि के लिये तथा प्राप्त गुणों से स्खलित न होने के लिए 'आवश्यक क्रिया' का आचरण अत्यन्त उपयोगी है।[22]

व्यवहार में आरोग्य, कौटुम्बिक नीति, सामाजिक नीति इत्यादि विषय सम्मिलित हैं। आरोग्य के लिए मुख्य मानसिक प्रसन्नता चाहिए। यद्यपि दुनियाँ

में ऐसे अनेक साधन हैं, जिनके द्वारा कुछ न कुछ मानसिक प्रसन्नता प्राप्त की जाती है, परन्तु विचार कर देखने से यह मालूम पड़ता है कि स्थायी मानसिक प्रसन्नता उन पूर्वोक्त तत्त्वों के सिवाय किसी तरह प्राप्त नहीं हो सकती, जिनके ऊपर 'आवश्यक क्रिया' का आधार है।

कौटुम्बिक नीति का प्रधान साध्य सम्पूर्ण कुटुम्ब को सुखी बनाना है। इसके लिये छोटे-बड़े सभी में एक दूसरे के प्रति यथोचित विनय, आज्ञा पालन, नियमशीलता और अप्रमाद का होना जरूरी है। ये सब गुण 'आवश्यक क्रिया' के आधारभूत पूर्वोक्त तत्त्वों के पोषण से सहज ही प्राप्त हो जाते हैं।

सामाजिक नीति का उद्देश्य समाज को सुव्यवस्थित रखना है। इसके लिए विचारशीलता, प्रामाणिकता, दीर्घदर्शिता और गम्भीरता आदि गुण जीवन में आने चाहिए, जो 'आवश्यक क्रिया' के प्राणभूत पूर्वोक्त छह तत्त्वों के सिवाय किसी तरह नहीं आ सकते।

इस प्रकार शास्त्रीय तथा व्यावहारिक– दोनों दृष्टि से 'आवश्यक क्रिया' का यथोचित अनुष्ठान परम लाभदायक है।

मैत्री आदि भावनाओं की दृष्टि से– प्रतिक्रमण पाप शुद्धि की क्रिया है। पाप का सम्बन्ध हिंसादि दोषों से है। इन दोषों का मुख्य कारण प्रज्ञापराध है और प्रज्ञापराध का निवारण करने के लिए मैत्री आदि चार भावनाओं जैसा उत्तम साधन अन्य कोई नहीं है इसलिए प्रतिक्रमण इच्छुक को मैत्री आदि चार भावनाओं का बार-बार आश्रय लेना चाहिए।

चार भावनाओं का मूल मैत्री भावना में रहा हुआ है और वह मैत्री भाव निम्न गाथा में सुस्पष्ट रूप से व्यक्त होता है इसलिए इस गाथा का बारम्बार स्मरण करना चाहिए।

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केणइ।।

संक्षेप में प्रतिक्रमण केवल सूत्र बोलने की क्रिया नहीं है, परन्तु पाप से मुक्त होने की एक गंभीर क्रिया है। प्रतिक्रमण का ध्येय निश्चित हो जाये तो इसके माध्यम से भवोदधि समुद्र को पार कर सकते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।

विविध दृष्टियों से– लेखिका डॉ. विमला भण्डारी ने एक अन्य विद्वान् के मत का उद्धरण देते हुए प्रतिक्रमण को ध्यान का पहला चरण बतलाया है।

उनके विचारों के आधार पर यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं होगा कि प्रतिक्रमण से ही जीवनचर्या में सच्ची सामायिक, सच्ची समता और सच्ची समाधि आती है। समता जीवन का पर्याय बनता है, व्यक्ति निज स्वरूप के उन्मुख प्रवृत्ति करता है, फलत: प्रवृत्ति भी उसे निवृत्ति की ओर अग्रसर करती है।[23]

प्रतिक्रमण के महत्त्व को आख्यायित करते हुए शास्त्रकारों ने कहा है कि इस भरत क्षेत्र के जम्बूद्वीप में मेरू आदि जितने पर्वत हैं वे सब सोने के बन जायें और जम्बूद्वीप क्षेत्रान्तर्गत जितनी बालू है वह सब रत्नमय बन जाये तथा उतने स्वर्ण और रत्न का सात क्षेत्रों में दान दिया जाये, तो भी आत्म परिणामों की उतनी शुद्धि नहीं होती, जितनी भावपूर्वक आलोचना करके प्रायश्चित्त वहन करने पर होती है।[24]

प्रायश्चित्त मूलक ग्रन्थों में कहा गया है कि किसी व्यक्ति ने आलोचना पूर्वक प्रायश्चित्त ग्रहण करने के लिए सद्गुरु की प्राप्ति हेतु प्रस्थान किया हो और प्रायश्चित्त लेने के पहले ही वह बीच मार्ग में मृत्यु को प्राप्त हो जाए, तो भी आराधक कहलाता है तथा अशुद्ध आलोचना करने वाला विराधक माना गया है।[25]

इसका सार यह है कि जब केवल अपराध शुद्धि का भाव रखने वाला व्यक्ति भी आराधक कहा जा सकता है ऐसी स्थिति में प्रायश्चित्त स्वीकार करने वाले के सम्बन्ध में तो जो कोई लज्जा से अथवा 'मैं इतना बड़ा हूँ' 'पाप प्रकट करने से मेरी लघुता होगी'– इस प्रकार गर्व से अथवा बहुश्रुत के मद से गुरु के समक्ष अपने दुश्चरित्र का निवेदन नहीं करता, वह वास्तव में आराधक नहीं कहलाता है।[26] इसका तथ्य यह है कि आलोचना एवं प्रायश्चित्त करने वाले ही आराधक की कोटि में आते हैं। प्रतिक्रमण में आलोचना और प्रायश्चित्त दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है। अत: आराधक भाव की दृष्टि से भी प्रतिक्रमण का मूल्य अनिर्वचनीय है।

शास्त्रकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के अनुसार प्रतिक्रमण की क्रिया सम्पूर्ण चारित्रगुण का संग्रह रूप है। ज्ञान, दर्शन या चारित्र धर्म से जुड़ी हुई कोई क्रिया ऐसी नहीं है जिसका प्रतिक्रमण आवश्यक में विचार न किया गया हो। इसलिए प्रतिक्रमण अति गंभीर अर्थ वाला है। इस क्रिया के रहस्य को समझने हेतु जिंदगी भी कम पड़ सकती है।

विविध मूल्यों के सन्दर्भ में प्रतिक्रमण की प्रासंगिकता

प्रतिक्रमण एक आवश्यक कर्म है। आत्म शुद्धि के लिए जो अवश्य करणीय है, उसे आवश्यक कहा गया है। आवश्यक छह माने गये हैं- 1. सामायिक (सावद्ययोग विरति) 2. चतुर्विंशतिस्तव (उत्कीर्तन) 3. वन्दना (गुणवत्प्रतिपत्ति) 4. प्रतिक्रमण (स्खलित निन्दा) 5. कायोत्सर्ग (व्रणचिकित्सा) और 6. प्रत्याख्यान (गुणधारणा)। इन छह आवश्यकों में प्रतिक्रमण का प्राधान्य होने से षडावश्यकों को 'प्रतिक्रमण' शब्द से अभिहित किया जाता है अत:प्रतिक्रमण में इन छहों आवश्यकों का समावेश है। प्रतिक्रमण की उपादेयता इस कथन से ही सिद्ध हो जाती है।

यदि हम विवेच्य विषय का गहराई से मूल्यांकन करें तो इसकी उपयोगिता विविध दृष्टियों से परिलक्षित होती है-

आध्यात्मिक मूल्य- जीव का स्वभाव से विभाव में जाना अतिक्रमण है तथा पुन: स्वभाव में स्थित होना प्रतिक्रमण है। अथवा दूसरों पर आक्रमण करना अतिक्रमण है और स्वयं पर आक्रमण करना प्रतिक्रमण है। जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं अशुभयोग के कारण स्वभाव से विभाव में गमन करता है उसे पुन: सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय एवं शुभ योग में लाना प्रतिक्रमण कहा जाता है। यह प्रतिक्रमण का वास्तविक स्वरूप है। इसके अनुसार जब तक आत्मा पूर्ण शुद्ध नहीं होती तब तक प्रतिक्रमण की आवश्यकता बनी रहती है।[27]

नगरपालिका द्वारा 'अतिक्रमण हटाओ' का अभियान कब से चल रहा है। आजकल माफिया के सहकार से अतिक्रमण निवारण का दौर चल रहा है किन्तु हमारी चेतना अनादिकाल से अतिक्रमण कर रही है। अतिक्रमण के मुख्य कारण मिथ्यात्वादि पाँच हैं। यदि इन्हें संख्या देकर 1,2,3,4,5 लिखें तो 12345 होता है। इसमें सबसे ज्यादा ताकत एक (मिथ्यात्व) की है, उसके हटते ही 2345 रह जाते हैं और अव्रत के हटते ही 345 रह जाते हैं। इसका सार यह है कि व्यक्ति के जीवन में सबसे अधिक अतिक्रमण मिथ्यात्व से होता है, जैसे शरीर को अपना मानना, धन-सम्पत्ति को अपना मानना, दैहिक सुख-सुविधा या धन-सम्पदा जुटाने के लिए जीवों का घात करना, स्वार्थ पूर्ति हेतु छल-कपट करना, एक व्यक्ति की गलती का बदला चुकाने के लिए स्थानीय नागरिकों को ही

अणुबम द्वारा धराशायी कर देना, अर्थ प्राप्ति के निमित्त पिता को जेल में डाल देना, बेटे का कत्ल करवा देना, बहू को स्टोव आदि से जला देना आदि मिथ्यात्व रूप, अतिक्रमण हैं। प्रतिक्रमण के द्वारा उक्त प्रकार की मनोवृत्ति को समाप्त किया जाता है।

जैन परम्परा के तत्त्वचिन्तक फूलचन्दजी मेहता प्रासंगिक विषय पर बल देते हुए कहते हैं कि सम्यक्त्व दृढ़ वज्रमय, उत्तम एवं गहरी आधार शिला रूप नींव है, इस पर चारित्र एवं तप का महान पर्वताधिराज सुदर्शन मेरू टिका हुआ है ऐसे रत्न के विषय में अनभिज्ञ रहना मिथ्यात्व है। पर पदार्थों के उपभोग करने का भाव एकांत पाप है और उनके भोग में आनन्द या सुख मानना एकांत मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व भाव से अतिक्रमण होता है। अतिक्रमण आस्रव रूप प्रक्रिया है जबकि प्रतिक्रमण संवर रूप प्रक्रिया है। एक संसार मार्ग को पुष्ट करती है और दूसरी मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करती है। प्रतिक्रमण के माध्यम से जीव वैभाविक राग, द्वेष, मोह, अज्ञान आदि भावों से रत्नत्रय रूप स्वभाव में प्रवेश करता है, जो संवर रूप है। प्रतिक्रमण संवर रूप होने के साथ प्रायश्चित्त तप का अंग होने से निर्जरा रूप भी है।[28]

पुनश्च उल्लेख्य है कि पापास्रव के पाँच द्वार हैं उनमें मुख्य स्थान मिथ्यात्व का है। संसारी जीव सबसे पहले मिथ्यात्व से जुड़ता है फिर क्रमशः अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से जुड़ता है तो छूटने का क्रम भी इसी तरह होता है। इस नियम के अनुसार सबसे पहले मिथ्यात्व से छूटने का पुरुषार्थ करना चाहिए, उसके लिए प्रतिक्रमण ही सशक्त उपाय है, क्योंकि मिथ्यात्व रूपी आस्रव का प्रतिरोधक तत्त्व एवं निर्जरा प्रधान तत्त्व प्रतिक्रमण ही है। प्रतिक्रमण होने पर संसार अल्प रह जाता है और मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है। प्रतिक्रमण के आध्यात्मिक मूल्य को समझ सकें, इस उद्देश्य से यह ज्ञात कर लेना भी आवश्यक है कि वह मात्र कुटुम्ब-परिवार, धन-वैभव आदि को छोड़ने की क्रिया नहीं है तथा पापाचार से पुण्याचार में आने की शुभ क्रिया भी नहीं है, बल्कि सर्व कषायों से क्रमशः छूटने की एवं आत्मा की शुद्ध परिणति की क्रिया है। यही पारमार्थिक प्रतिक्रमण है जब भाव प्रतिक्रमण सध जाता है तब वह जीव यथाख्यात चारित्र प्राप्त कर घाति कर्मों से मुक्त हो जाता है।[29]

भावनात्मक मूल्य– स्थानांगसूत्र में पाँच प्रकार के प्रतिक्रमण बताये गये

हैं। हर प्रतिक्रमण एक दूसरे का पूरक है, किन्तु कषाय का प्रतिक्रमण भाव शुद्धि की अपेक्षा विशिष्ट स्थान रखता है। हमारी राग-द्वेषात्मक परिणतियों का मूल सम्बन्ध कषाय से है। कषाय के मन्द होने पर राग-द्वेष जन्य वैभाविक परिणतियाँ भी मन्द हो जाती है कहा भी गया है 'कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव'। अत: कषाय भावों से निवृत्त होना जीवन शुद्धि की प्रयोगशाला है। आत्म-शुद्धि के लिए कषाय का प्रतिक्रमण आवश्यक है, क्योंकि कषाय ही जन्म-मरण रूप संसार वृक्ष को हरा-भरा रखता है और समस्या में वृद्धि करता है। इस कषाय के कारण से ही घर, परिवार और समाज में दूरियाँ बढ़ती जाती है और व्यक्तिश: जीवन अशान्त बनता जाता है। यदि गहराई से सोचा जाए तो शारीरिक रोगों का मूल कारण भी कषाय है। प्रसन्नता के भाग में आग लगाने वाला, समरसता की सरिता में विष घोलने वाला, धैर्य की धरती में भूकम्प लाने वाला यदि कोई है तो वह कषाय ही है। जीवन शान्त, प्रशान्त, समाधिवन्त बना रहे, उसका एकमात्र उपाय कषाय प्रतिक्रमण ही है।[30]

यदि वर्तमान स्थिति पर विचार करें तो ज्ञात होता है कि आज बाह्य धर्म साधना तो बहुत बढ़ती जा रही है। पहले इतनी तपश्चर्याएँ, शिविर, सामूहिक आयोजन आदि नहीं होते थे, जितने आज देखते हैं, किन्तु इसके परिणामस्वरूप भावनात्मक परिवर्तन बहुत कम नजर आ रहा है। मूल्य गणना का नहीं, गुणात्मक स्वरूप का है। मूल्य संख्या का नहीं, जीवन परिवर्तन का है। आज लक्ष्य साधन को साध्य समझने का नहीं, जीवन परिवर्तन का है। आज साधन को ही साध्य समझने की भूल हो रही है। आत्मलक्षी धर्म क्रियाएँ गौण हो रही हैं मात्र बाह्य क्रियाओं को ही प्रधानता देकर आदमी संतुष्ट हो जाता है कि हो गया धर्म। जबकि कषाय का प्रतिक्रमण अन्तश्चेतना को जागृत करता हुआ यह प्रेरणा देता है कि जो धर्म क्रियाएँ हम कर रहे हैं वे कितनी आत्मलक्षी बन पाई हैं? कितना कषाय मंद हुआ? कितना उपशांत भाव जगा? द्रव्य रूप से तो इस जीव ने द्रव्य क्रियाएँ करने में अनेक भवों में अनेक प्रयास किये, लेकिन भावशुद्धि के सूचक कषाय प्रतिक्रमण को लेकर अन्तरात्मा में कोई जागृति नहीं रही। यही कारण है कि धर्म-क्रियाएँ करते हुए भी साधना की सिद्धि में मंजिल नहीं मिल रही है। इन सबका मुख्य कारण कषाय की उपस्थिति है, जिसका निवारण प्रतिक्रमण के द्वारा ही सम्भव है।

प्रतिक्रमण पाठ के अन्तर्गत 'खामेमि सव्व जीवे' का पाठ बोलते हैं, वह वस्तुत: कषाय निरोध और भाव शुद्धि का पाठ है। इस पाठ के प्रथम चरण का भावार्थ है कि मैं सभी जीवों को क्षमा करता हूँ अथवा मेरे क्रोध भाव का शमन करता हूँ।

दूसरे चरण में वह चिन्तन करता है कि सभी जीव मुझे क्षमा करें। प्रथम भावार्थ तो यही कि दूसरों में दोष न देखने वाला, दूसरों के अवर्णवाद को याद न करने वाला ही विनम्र भाव से क्षमायाचना करने का अधिकारी है। यदि क्रोध भाव छूट जाये तो व्यक्ति स्वयं को सामान्य समझने लगेगा और स्वयं में ही दोष देखेगा, फलत: अहंकार छूट जायेगा और उसके छूटने पर विनम्रता का गुण प्रकट हो उठेगा। ऐसी स्थिति में ही क्षमायाचना और क्षमादान सार्थक बन सकता है।

तीसरे चरण में पहुँचने तक क्रोध छूट जाए, अहंकार विगलति हो जाए और स्वदोष दर्शन एवं परगुण दृष्टि विकसित हो जाए तो फिर माया को कहाँ स्थान मिल सकता है? दूसरों के गुणों का वर्णन एवं दूसरों के गुणों का चिन्तन करते ही जीव मात्र के साथ बंधुत्व भाव, मैत्री भाव स्थापित हो जाता है तब सहज ही नि:सृत होता है कि 'सभी जीव मेरे मित्र हैं' – 'मित्ती में सव्व भूएसु।'

चतुर्थ चरण सबसे महत्त्व का है। अधिकांश व्यक्ति स्वार्थपूर्ति में ही जीवन खपा देते हैं तथा स्वार्थपूर्ति के लिए ही परिवार, मित्र, पडौसी आदि से सम्बन्ध रखते हैं। उस स्वार्थपूर्ति में जो वस्तुएँ या व्यक्ति बाधक बनते हैं, वह जीव उसके साथ वैर कर लेता है, लेकिन जहाँ मैत्री भाव विकसित हो जाता है वहाँ संतोष वृत्ति जग उठती है और स्वार्थ भाव समाप्त हो जाता है। परिणामत: वह जीव लोभ का परिहार करता हुआ किसी के प्रति वैर भाव नहीं रखता है। उसके अन्तर्मन में ही यह आवाज उठती है कि 'मेरा किसी से वैरभाव नहीं हैं'– **वेरं मज्झं न केणई।**[31]

इस विवेचन का तात्पर्य यह है कि आत्म रोगों के उपचार का एक मात्र उपाय प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण साधना से ही चारों कषायों का अभाव होता है और कषाय के अभाव से ही संसार भाव का अभाव होता है। वस्तुत: संसार भाव का अभाव होना ही मोक्ष है, निर्वाण है। इस प्रकार प्रतिक्रमण का महत्त्व अनिर्वचनीय है। प्रतिक्रमण कर्त्ता इस साधना की उपयोगिता को समझते हुए यह

ध्यान रखें कि जब भी प्रतिक्रमण करें और 'मिच्छा मि दुक्कडं' दें तो आत्मा की आवाज के साथ दें। कहावत है कि 'खमतखामणा कार्ड से नहीं, हार्ट से होना चाहिए' –'लड़ाई तो हो भाई से और खमतखामणा करें ब्याही से' तो क्या मतलब? नियमत: जिसका दिल दु:खाया है उससे जाकर क्षमायाचना करनी चाहिए। खमतखामणा इस तरह हो कि प्रतिकूलता का वर्तन करने वाले के प्रति भी समरसता बढ़े, मधुरता बढ़े, मैत्री और अपनत्व में वृद्धि हो। यही कषाय प्रतिक्रमण है।

जैन सिद्धान्त के अनुसार कषाय देशविरति (श्रावकधर्म) और सर्वविरति (श्रमणधर्म) की प्राप्ति में भी बाधक माना गया है। कर्मग्रन्थ के अनुसार अनन्तानुबन्धी कषाय एवं दर्शन मोहनीय के रहते हुए सम्यग्दर्शन, अप्रत्याख्यान कषाय के रहते हुए श्रावक धर्म, प्रत्याख्यानावरण के रहते हुए संयतपना और संज्वलन कषाय के रहते हुए यथाख्यात चारित्र प्रकट नहीं होता। यथाख्यात चारित्र के पश्चात ही घातिकर्मों का क्षय और सिद्ध पद की प्राप्ति होती है। अत: कषाय प्रतिक्रमण द्वारा भावशुद्धि करना परमावश्यक है।

कषाय प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार से आत्मा के उपयोग गुण या शुद्ध स्वरूप को आच्छादित करते हैं। इसीलिए उत्तराध्ययनसूत्र में कषाय को अग्नि कहा गया है और उसको बुझाने के लिए श्रुत, शील, सदाचार और तप रूपी जल बताया है।[32] चतुर्विध कषाय पुनर्जन्म रूपी बेल को प्रतिक्षण खींचते रहते हैं[33] तथा क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों से क्रमश: प्रीति, विनय, सरलता और संतोष रूपी सद्गुणों का नाश होता है।[34] सद्गुणों का नाश होने पर आत्मा सर्वगुण को प्राप्त नहीं करता है।[35]

जैनागमों में जहाँ आत्मगुणों के घात की चर्चा की गई है, वहाँ आत्म गुणों के प्रकटीकरण के उपाय भी दर्शाये गये हैं– क्रोध को क्षमा से, मान को मृदुता से, माया को ऋजुता से और लोभ को संतोष से जीतना चाहिए। यदि अन्तर्मन से क्षमा-शांति, मृदुता-विनम्रता, ऋजुता-सरलता, संतोष को सम्यग् रूप से धारण किया जाये तो निश्चय ही हमारी आत्मा कषाय रहित हो सकती हैं और इस प्रकार का सम्यक् उपक्रम प्रतिक्रमण द्वारा ही अधिक संभव है।

सार रूप में कषाय प्रतिक्रमण द्वारा साधक अतीत काल में लगे दोषों का शोधन कर वर्तमान में पश्चात्ताप एवं भविष्य में नये पाप कर्म न करने का

संकल्प करता है। इस तरह का संकल्प करते हुए भावशुद्धि में यदि उत्कृष्ट रसायन आ जाये तो तीर्थंकर नामकर्म का बंध हो जाता है।

मनोवैज्ञानिक मूल्य– जैन अवधारणा के अनुसार विश्व एवं काल अनादि है, इसलिए जीव भी अनादिकाल से है। जीव अनादिकालीन होने से कर्मबंध भी अनादिकालीन है। यद्यपि जीव में अनन्त शक्ति है किन्तु जीव को बांधने वाले कर्म भी अनन्त शक्तिशाली है। अत: उसके प्रभाव से व्यक्ति के द्वारा किसी प्रकार का अपराध हो जाना पूर्णत: संभव है। प्रतिक्रमण दोष निवारण का अमोघ उपाय है। प्रतिक्रमण प्रायश्चित के द्वारा दोष परिमार्जन होने के साथ-साथ चित्तशुद्धि भी हो जाती है। जिसके फलस्वरूप मानसिक एवं शारीरिक बीमारियाँ भी उपशान्त हो जाती है।

वर्तमान में मनोवैज्ञानिक चिकित्सकों के द्वारा अनेक रोगों की चिकित्सा प्रतिक्रमण, प्रायश्चित, स्वदोष स्वीकार आदि विधि से की जा रही है। मूलत: अधिकांश रोग तनाव से उत्पन्न होते है। तनाव का मूल कारण असत आचरण, अनैतिक क्रियाकलाप, ईर्ष्या, घृणा, द्वेष आदि रूप चित्तवृत्तियाँ है। इन कारणों से अवचेतन मन में एक प्रकार का मानसिक असंतुलन एवं विक्षोभ उत्पन्न होकर कुण्ठित मानसिकता की एवं विकृत भावनाओं की ग्रन्थि पड़ जाती है। ये ग्रन्थियाँ ही शारीरिक एवं मानसिक रोगों का कारण बनती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जब तक आत्म निरीक्षण, स्वदोष स्वीकार, आत्म विश्लेषण, पश्चात्ताप, निन्दा, गुरू साक्षी पूर्वक आलोचना नहीं की जाती तब तक मानसिक तनाव, भावनात्मक ग्रन्थियाँ एवं तत्सम्बन्धी रोगों का निवारण मूलस्थान से नहीं हो सकता। एलोपैथिक आदि बाह्य उपचार से कुछ समय के लिए बीमारी शान्त हो सकती है किन्तु स्थायी रूप से कदापि संभव नहीं है। हम अज्ञान वश बाह्य उपचार को ही आभ्यन्तर उपचार मान बैठे हैं, यही कारण है कि अनन्तकाल से संसार की यात्रा करते-करते अब तक किनारे पर पहुँच नहीं पाये हैं असल तो यह है कि किनारा दिखा ही नहीं है।[36]

प्रतिक्रमण के द्वारा कृत भूलों को स्वीकार किया जाता है अत: प्रतिक्रमण कर्ता की अन्तश्चेतना अन्यायपूर्ण, अनुचित, अनैतिक, अधार्मिक कृत्यों को यथावत जान लेता है। उसके परिणामानुसार मानसिक तनाव एवं शारीरिक अस्वस्थता दोनों से भी मुक्त हो जाता है। इसलिए भाव परिष्कार ही यथार्थ

उपचार है। एक महिला अपने पति के कटु व्यवहार से अत्यन्त दु:खी थी। इस दु:ख के कारण उसकी मृत्यु हो गई। पति को मानसिक आघात लगा, जिससे वह क्षयरोग से ग्रस्त हो गया। मनोवैज्ञानिक परीक्षण हुआ। परीक्षण से पता चला कि इस रोग का कारण शारीरिक न होकर मानसिक है और मानसिक कारण है आत्मग्लानि। डाक्टरों ने मानसिक चिकित्सा से कुछ ही दिनों में उसे क्षयरोग से मुक्त कर दिया।[37]

आधुनिक विद्वानों ने अनुसंधान के आधार पर यह सिद्ध किया है कि भय से अतिसार रोग, चिंता से अपस्मार रोग एवं रक्तचाप में वृद्धि, तीव्र ईर्ष्या और घृणा से अल्सर रोग, आत्मग्लानि से क्षयरोग, अधिक स्त्री-संभोग से टी.वी, नपुंसकता, कुष्ठरोग आदि होते हैं। चिंता, क्रोध, घृणा भाव आदि से मानसिक विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं जिससे मनुष्य को अनेक शारीरिक रोगों के साथ-साथ पागलपन जैसा मानसिक रोग भी हो जाता है।[38]

वैज्ञानिक खोज के अनुसार गुस्सा, उदासी, चिन्ता, घृणा आदि भाव हमारी त्वचा पर गहरा प्रभाव डालते हैं। जिस समय क्रोध आता है उस समय शरीर के भीतर एक ऐसे रक्त का संचार शुरू हो जाता है जो चेहरे की तरफ के रक्त संचार को रोकता है, इसी के कारण त्वचा का रंग पीला या विवर्ण हो जाता है। अधिक क्रोध की स्थिति में चेहरे पर बहुत जल्दी झुर्रिया पड़ जाती हैं जबकि प्रसन्न रहने पर चेहरा ओज एवं तेज से चमकता रहता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि चिंता या तनाव से केवल शारीरिक क्षति ही नहीं होती, अपितु आन्तरिक व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त हो जाती है। फलत: पाचन क्रिया पर भी दुष्प्रभाव पड़ता है और पाचन क्रिया बिगड़ने लगती है। फलत: हृदय की अन्यान्य बीमारियाँ पैदा हो जाती है। इस प्रकार मानसिक दूषित भाव शरीर, मन, आत्मा और दूसरों पर भी दूषित प्रभाव डालते हैं। इन दूषित भावों से बहिर्लोक एवं अन्तर्लोक दोनों दु:खमय बनते हैं।[39]

तत्त्वज्ञपुरूषों ने इन समस्याओं के निराकरण हेतु प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त का विधान बतलाया है। प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त सर्वप्रथम मानसिक शुद्धि करता है। जहाँ मन शुद्ध है वहाँ किसी तरह के रोगों को स्थान मिल पाना ही असंभव है। अत: मनोवैज्ञानिक पक्ष से भी प्रतिक्रमण की उपादेयता सर्वाधिक है

शारीरिक मूल्य– प्रतिक्रमण स्वयं द्वारा स्वयं के दोषों का निरीक्षण,

परीक्षण और समीक्षा की व्यवस्थित प्रक्रिया है। भूल होना मानव का स्वभाव है, भूल को उस रूप में स्वीकार करना मानवता है। प्रतिक्रमण भूल को भूल रूप में मानने, जानने एवं छोड़ने का पुरूषार्थ है। मनोविज्ञान की दृष्टि से गलती को गलती रूप में स्वीकार करने पर भविष्य में पुन: गलतियाँ होने की संभावनाएँ कम रहती है।

यदि प्रतिक्रमण से शारीरिक स्वास्थ्य की तुलना की जाये तो उसके मूल मर्म को नहीं अपनाने वाला अन्तरंग दृष्टि से भयभीत, तनावग्रस्त एवं दु:खी रहता है।

स्वस्थ का अर्थ है– स्व में स्थित होना, स्वयं पर स्वयं का नियंत्रण। स्वास्थ्य का अर्थ है- रोगमुक्त जीवन। स्वास्थ्य तन, मन और आत्मोत्साह के समन्वय का नाम है। यदि शरीर, मन और आत्मा तीनों सम्मिलित रूप से कार्य करें, शरीर की सारी प्रणालियाँ एवं सभी अवयव सामान्य रूप से स्वतंत्रता पूर्वक कार्य करें, तब व्यक्ति स्वस्थ रहता है।

जैन परम्परा के स्वरूपज्ञ चंचलमलजी चोरडिया के अनुसार आत्मा की अभिव्यक्ति के तीन सशक्त माध्यम हैं– मन, वचन और काया। आत्मा ही जीवन का आधार है। आत्मा की अनुपस्थिति में शरीर, मन और मस्तिष्क का कोई अस्तित्व नहीं होता और न स्वास्थ्य की कोई समस्या होती है। आत्मा के विकार ही रोग के प्रमुख कारण होते हैं। आत्म विकार के निर्गमित होने पर शरीर, मन, वाणी और मस्तिष्क स्वत: स्वस्थ होने लगते हैं। प्रतिक्रमण आत्म विकार के निरसन का सबल साधन है

यह महत्त्वपूर्ण उल्लेख है कि आदमी जितने कष्ट भोगता है वस्तुत: दुनियाँ में उतने कष्ट नहीं है। वह स्वयं के अज्ञानवश कष्टों को भोगता है। ज्ञानी के लिए शरीर में, प्रकृति में, वातावरण में, वनस्पति जगत में, सम्यक् जीवन शैली में सब जगह समाधान है। किन्तु उस व्यक्ति को कहीं समाधान नहीं मिलता, जिसमें अज्ञान भरा हो। प्रतिक्रमण अज्ञान को दूर करने में सहायक है।[40]

छह आवश्यक की दृष्टि से– यहाँ विवेच्य यह है कि प्रतिक्रमण और स्वास्थ्य का घनिष्ट सम्बन्ध है। प्रतिक्रमण करते समय उसमें आवश्यकों का भी समावेश हो जाता है क्योंकि प्रतिक्रमण छ: आवश्यक रूप ही होता है। यदि एक भी आवश्यक कम हो, तो प्रतिक्रमण अधूरा कहलाता है। अत: षडावश्यकों के

सन्दर्भ में स्वास्थ्य का महत्त्व निम्न प्रकार है-

प्रतिक्रमण काल में प्रथम सामायिक आवश्यक में चित्त की एकाग्रता पूर्वक दोषों की समीक्षा की जाती है अर्थात आत्मिक रोगों के कारणों का निदान किया जाता है। दूसरे चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक में जो सर्व प्रकार के रोगों से पूर्णत: मुक्त हो चुके हैं, उन तीर्थंकरों के आलम्बन को समक्ष रखकर स्तुति करने से स्वस्थ बनने का उपाय समझ में आता है। तीसरे वन्दना आवश्यक में आत्म चिकित्सक पाँच महाव्रतधारी सद्गुरू को विनयपूर्वक वंदन कर आत्मा को विकार मुक्त बनाने एवं स्वस्थ रहने का मार्गदर्शन प्राप्त किया जाता है। चतुर्थ प्रतिक्रमण आवश्यक में मन, वचन और काया के योगों से जिन दोषों का सेवन स्वयं के द्वारा किया गया है, दूसरों से करवाया गया है एवं दूसरों द्वारा किये गये अकरणीय कार्यों का अनुमोदन किया गया है उन सब दोषों से निवृत्त होने के लिए कृत दोषों की निन्दा, गर्हा एवं आलोचना की जाती है। इसी के साथ प्राणीमात्र के साथ प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से किसी प्रकार का दुर्व्यवहार हुआ हो, तो क्षमायाचना कर मैत्री भाव विकसित किया जाता है जिससे तनाव, चिन्ता और भय दूर होते हैं तथा मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। पाँचवें कायोत्सर्ग आवश्यक के द्वारा संयम रूप शरीर के दोष रूपी घावों का मरहम किया जाता है। इसीलिए इसका शास्त्रीय नाम व्रण चिकित्सा है इस आवश्यक द्वारा आत्मा शल्य रहित हो जाता है। द्रव्यत: शरीर की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है, जिससे समस्त प्रकार की थकान दूर हो जाती है। शल्य रहित होने से हल्केपन का अनुभव होता है।

छठवें प्रत्याख्यान आवश्यक के द्वारा भविष्य में रोग के कारणों से बचने एवं स्वयं की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने हेतु प्रायश्चित्त के रूप में आत्मा का अहित करने वाली इच्छाओं का निरोध किया जाता है। इन्द्रियों के विषय भोगों से अनासक्त होने का संकल्प लेकर प्राणों का अपव्यय रोका जाता है। बाह्यत: इससे आवेग, उद्वेग, उन्माद आदि छूट जाते हैं और मन परम शांति का अहसास करता है।[41]

आसन-मुद्रादि की दृष्टि से– प्रतिक्रमण करते समय तद्विषयक सूत्र पाठों के उच्चारण करते हुए भिन्न-भिन्न आसनों में बैठने, झुकने अथवा खड़े होने के पीछे भी स्वास्थ्य का रहस्य समाया हुआ है। प्रत्येक आवश्यक के प्रारंभ

में उस आवश्यक क्रिया की अनुमति लेने हेतु वंदन किया जाता है। वंदन करने से जोड़ों के दर्द की संभावना कम रहती है। मांशपेशियों में लचीलापन बना रहता है, शरीर में ऊर्जा का प्रवाह संतुलित होता है एवं शरीर की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है।

पंचांग प्रणिपात पूर्वक नमस्कार मुद्रा में शरीर संतुलित एवं स्नायु संस्थान स्वस्थ हो जाता है।

बायाँ घुटना ऊँचा करके जो पाठ बोले जाते हैं उससे अहंकार विलिन होकर सकारात्मक सोच विकसित होती है तथा गुणग्राहकता में भी अभिवृद्धि होती है।

दायाँ घुटना खड़ा रखते हुए जो पाठ उच्चरित किये जाते हैं उससे मनोबल दृढ़, गृहित संकल्पों के पालन के प्रति उत्साह एवं प्रत्येक कार्य में सजगता बनी रहती है। खड़े होकर आलोचना आदि के पाठ बोलने से प्रमाद में न्यूनता, भावों में समरसता एवं शरीर में संतुलन बना रहता है।

कायोत्सर्ग (ध्यान) मुद्रा में स्थित होने से मन के सारे आवेग शांत हो जाते हैं, प्राण शक्ति का अपव्यय रूक जाता है और सहन शक्ति का उत्तरोत्तर विकास होता है।

मिथ्यात्व आदि प्रतिक्रमण की दृष्टि से– जैन चिन्तन में कर्मबंध के मुख्य पाँच कारण माने गये हैं- 1. मिथ्यात्व 2. अविरति 3. प्रमाद 4. कषाय और 5. योग। ये पाँचों हेतु पाप प्रवृत्ति रूप हैं एवं आत्मा को राग-द्वेषादि रूप आभ्यन्तर रोगों से विकारी बनाते हैं अत: इनका प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। मिथ्यात्व आदि पाँच का प्रतिक्रमण करने से आत्मा तो रोगमुक्त एवं निजस्वभाव में स्थिर बनती ही है किन्तु बाह्य दृष्टि से भी अनेक लाभ होते हैं।

1. सत्य को सत्य के रूप में स्वीकार करना मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण है। इस प्रतिक्रमण के द्वारा स्वदोषों को स्वीकार कर लेने से सहनशीलता एवं धैर्य अभिवृद्ध होता है, प्रतिकूलता में दूसरों पर दोषारोपण की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। व्यक्ति स्वयं के प्रति इतना सजग हो जाता है कि किसी प्रकार का बाह्य उपचार करने से पूर्व अहिंसक उपचार को सर्वाधिक मूल्य देता है। इसी के साथ कृत्य-अकृत्य का विवेक जागृत होने से तीनों योगों की असत्प्रवृत्तियाँ छूटने लगती हैं, जिससे देहस्तरीय रोगों की संभावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। मिथ्यात्व के प्रतिक्रमण से शरीर एवं आत्मा का भेदज्ञान होने लगता है और सम्यग्दृष्टि स्थिर होती है।

2. अहिंसा आदि व्रतों को सम्यक् रूप में स्वीकार करना अव्रत का प्रतिक्रमण है। विद्वद्वर्य चंदनमलजी के उल्लेखानुसार व्रत से शरीर एवं इन्द्रियाँ संयमित होती हैं। स्वच्छन्द वृत्तियों पर नियंत्रण होता है। संयम एवं मर्यादित जीवन स्वास्थ्य का मूलाधार है, जबकि स्वच्छन्दता रोगों का प्रमुख कारण है। अतः जो व्रत निर्वाह पूर्वक जीवन जीते हैं वे अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ होते हैं।

3. अनावश्यक, अनुपयोगी एवं अर्थहीन कार्यों से निवृत्त होना एवं क्षमताओं का पूर्ण सदुपयोग करना प्रमाद प्रतिक्रमण है। प्रमाद का प्रतिक्रमण करने से आत्मजागृति का संचार एवं आत्म विकार दूर होने लगते हैं, फिर आत्मा रूपी मालिक जागृत हो तो शरीर रूपी मकान में राग आदि रोग रूपी चोर के प्रवेश की कभी भी संभावना नहीं रहती है। इस प्रकार आभ्यन्तर रोगोत्पत्ति के कारणों का अभाव होने पर बाह्य रोग भी स्वयं समाप्त हो जाते हैं उससे स्वास्थ्य लाभ होता है।

4. क्रोध आदि भावों से निवृत्त होना कषाय प्रतिक्रमण है। कषाय का प्रतिक्रमण करते समय क्रोधादि के स्वरूप का चिन्तन करने से इन आवेगों के दुष्प्रभावों का बोध होता है, कषाय भावों में मंदता आती है, भाव विशुद्धि होने से कर्म निर्जरा होती है तथा सकारात्मक सोच का आविर्भाव होने से मानसिक रोगों का उदय नहीं होता है।

5. अशुभ योग का प्रतिक्रमण करने से अकरणीय अशुभ प्रवृत्तियाँ मन्द हो जाती हैं तथा करणीय शुभ कार्यों में प्रवर्त्तन होता है। करणीय शुभ कार्यों में प्रवृत्ति होने से अन्यों को प्रेरणा देने एवं सम्यक् पुरूषार्थ करने वालों की अनुमोदना करने का सहज अवसर उपलब्ध हो जाता है। इस तरह दूसरों पर अच्छा प्रभाव पड़ने से चैतसिक प्रसन्नता में दिन दुगुनी अभिवृद्धि और उसके परिणाम स्वरूप शारीरिक स्वस्थता में भी परिवर्धन होता है।[42]

सामाजिक आदि विविध पक्षों से– प्रतिक्रमण जीवन-शुद्धि का श्रेष्ठ उपक्रम है। इस उपक्रम में आत्म दोषों की आलोचना करने से पश्चात्ताप की भावना जागृत होने लगती है और उस पश्चात्ताप की अग्नि से सभी दोष जलकर नष्ट हो जाते हैं।

पापाचरण शल्य के समान है, यदि उसका उन्मूलन न किया जाए और अन्तर्मन में ही छिपाकर रखा जाए तो उसका विष अंदर ही अंदर वृद्धि पाता

हुआ समग्र जीवन को खण्डित कर सकता है। अत: पाप शल्य का उद्धरण करना अत्यावश्यक है और वह प्रतिक्रमण के द्वारा सहज हो जाता है।

प्रतिक्रमण करने से सर्वप्रथम काय योग की चंचलता का अवरोध होता है, फिर इन्द्रियों पर नियन्त्रण होता है। इसमें साधक समस्त वैभाविक परिणतियों से विरत होकर अन्तर्मुखी बन जाता है। प्रतिक्रमण आलोचना पूर्वक होता है। गुरु के समक्ष कृत दोषों को प्रकट करना आलोचना है। आलोचक को ज्ञात होना चाहिए कि वह छोटे-बड़े सभी अपराधों का गुरु को निवेदन करें। जैसे कोई रोगी चिकित्सक के पास जाकर यदि अपने रोग को साफ-साफ प्रकट नहीं करे तो वह अपना ही अनिष्ट करता है। इसी प्रकार जो साधक गुरु के निकट अपने दोषों को ज्यों का त्यों प्रकाशित नहीं करता है तो वह भी अपनी आत्मा का अनिष्ट करता है अत: पापशुद्धि के लिए आलोचना पूर्वक प्रतिक्रमण करना परम श्रेयस्कर है।

प्रतिक्रमण की उपयोगिता को समझने के लिए यह भी मननीय है कि जैसे पैर में कांटा चुभ जाये तो मनुष्य को चैन नहीं पड़ता है, वह सतत वेदना का अनुभव करता है और शीघ्र से शीघ्र उस कांटे को निकाल देना चाहता है उसी प्रकार सच्चे साधक के द्वारा गृहीत व्रतों में किसी प्रकार का अतिचार लग जाये तो उसे तब तक चैन नहीं लेना चाहिए जब तक अपने गुरु के समक्ष निवेदन कर प्रायश्चित्त न कर लें। अतिचार रूपी शल्य को निकालने वाला ही वास्तविक शान्ति का अनुभव करता है इसलिए प्रतिक्रमण करने वाला साधक ही चारित्र का अखंड परिपालन करते हुए केवलज्ञान को प्राप्त कर सकता है।

न्याय प्रणाली में अपराधी के दोष दूसरे बताते हैं, पर धर्म-शासन में दोषी स्वयं अपने दोष निश्छल भाव से गुरु के समक्ष कहकर आत्म शुद्धि करता है। धर्म-शासन में प्रायश्चित्त को भार नहीं माना जाता। आत्मार्थी शिष्य प्रायश्चित्त के द्वारा आत्म शुद्धि करने वाले गुरु को उपकारी मानता है और सहर्ष प्रायश्चित्त (दण्ड) का अनुपालन करता है। इससे प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त का महत्त्व निर्विवाद सिद्ध हो जाता है।[43]

इस अवसर्पिणी काल के अन्तिम तीर्थंकर प्रभु महावीर की अन्तिम देशना के रूप में संकलित उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन 29 की पृच्छा संख्या 11 में गौतम गणधर द्वारा पूछे गये प्रश्न का जवाब देते हुए कहा गया है कि अशुभ योग से व्रतों में छेद हो जाते हैं जो प्रतिक्रमण करने से पुन: निरूद्ध हो सकते हैं। प्रस्तुत

सूत्र में व्रत छेद के निरोध से होने वाले पाँच लाभ बतलाये गये हैं–

1. आस्रव का निरोध हो जाता है।
2. अशुभ प्रवृत्ति से होने वाले चारित्र के धब्बे समाप्त हो जाते हैं।
3. आठ प्रवचन माताओं में जागरूकता बढ़ जाती है।
4. संयम के प्रति एकरसता या समापत्ति सध जाती है।
5. समाधि की उपलब्धि होती है। जो इन्द्रियाँ बाह्योन्मुखी हैं वे अन्तर्मुखी हो जाती हैं और मन आत्मा में लीन हो जाता है। इस प्रकार जो प्रतिक्रमण वापस लौटने की प्रक्रिया से शुरू हुआ था, वह धीरे-धीरे आत्म स्वरूप की स्थिति में पहुँच जाता है। यही प्रतिक्रमण का पूर्ण फल है और पूर्ण उपलब्धि है।

समाहारत: प्रतिक्रमण नीड़ में लौटने की प्रक्रिया है। 'The coming back' आन्तरिक व्यक्तित्व के विकास की समग्रता है। भव रोग मिटाने की परम औषध है। यह औषधि इतनी मूल्यवान है कि जिसका प्रतिदिन सेवन करने से विद्यमान कषाय आदि रोग शान्त हो जाते हैं और यदि रोग नहीं हो, तो उस औषधि के सेवन से भविष्य में रोग नहीं होते और दोष नहीं लगे हों, तो प्रतिक्रमण भाव और चारित्र की विशेष शुद्धि करता है।

प्रतिक्रमण का हार्द

साधु एवं गृहस्थ दोनों के लिए प्रतिदिन करणीय छह आवश्यकों में प्रतिक्रमण एक श्रेष्ठ आवश्यक है।

जैन धर्म की मान्यता है कि व्यक्ति को अपने अतिक्रमी अर्थात असत व्यवहार का पता चल जाए तो उसका तुरन्त प्रतिक्रमण करना चाहिए। जिसके प्रति गलत व्यवहार हो, किसी प्रकार का मन-मुटाव हो गया हो या जिनके प्रति मन में दुर्भाव आए हों, उनसे प्रत्यक्ष में उपस्थित होकर क्षमा मांगनी चाहिए। यदि लज्जा या भय आदि के कारण वैसा न बन सकें तो गुरु के समक्ष कृत दोषों के लिए स्वयं को धिक् मानकर दंड (प्रायश्चित्त) लेना चाहिए। जो दोष व्यक्ति के स्वयं के भी ध्यान में न आयें अथवा जो स्वाभाविक रूप से हो रहे हैं अथवा जो अनचाहें भी करने पड़ रहे हैं इस प्रकार की दिनभर में हुई भूलों का स्मरण कर दिवसान्त (सायंकाल) में प्रतिक्रमण करना चाहिए। इसी तरह रात्रिकाल में हुए दोषों, स्वप्न आदि में किए गए दुर्विचारों एवं विषय-कषाय

आदि रूप दुष्कृत्यों को ध्यान में लाकर रात्रिकाल के अन्त (प्रातःकाल) में प्रतिक्रमण करना चाहिए। यदि ऐसा सम्भव न हों या जो भूलें प्रमादवश शेष रह गई हो तो उन्हें पन्द्रह दिन (पक्ष) के अंत में ध्यान में लाकर पाक्षिक प्रतिक्रमण करना चाहिए। यदि वह भी न हो पायें अथवा दैवसिक आदि प्रतिक्रमण करने के बावजूद भी भूलें रह गयी हों तो चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करना चाहिए। यदि यह भी सम्भव न हो अथवा पूर्वक्रम से प्रतिक्रमण करते हुए भी कुछ सूक्ष्म-स्थूल भूलें रह गई हों तो संवत्सरी प्रतिक्रमण कर स्वयं को निश्चित रूप से दोषमुक्त करना चाहिए।

इस प्रकार प्रतिक्रमण क्रिया के द्वारा अपने पुराने खाते को बराबर कर लेना, कषायों को उपशांत कर लेना तथा हृदय को सरल एवं विनम्र बनाकर सौम्यभाव की शीतल धारा में स्नान कर लेना– यही प्रतिक्रमण का हार्द है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि दोषमुक्ति की यह क्रिया दिल से हो, निश्छल भावों से हो, पवित्रतम विचारों से हो ताकि जिन दोषों का एक बार सेवन किया गया हो एवं जिन दोषों की निंदा-गर्हा कर स्वयं को धिक्कारा हो उन दोषों की पुनरावृत्ति न हो सकें, अन्यथा यह प्रतिक्रमण मात्र औपचारिक बनकर ही रह जायेगा। यदि प्रतिक्रमण करके भी फिर से उन्हीं दोषों की पुनरावृत्ति होती रहे तो वही कहावत चरितार्थ होगी कि

मक्का गया हज किया, बनकर आया हाजी।
आजमगढ़ में घुसते ही, फिर वही पाजी का पाजी।।

ऐसा प्रतिक्रमण आत्मशोधन की दृष्टि से किंचित मात्र भी अर्थकारी नहीं होता, वह तो प्रतिक्रमण के उच्च एवं पवित्र भाव के साथ खिलवाड़ और घिनौनी हरकत करना है।

उत्तराध्ययनसूत्र के 29वें अध्ययन में प्रायश्चित्त का आधार पापकर्मों से शुद्धि बताया है।[44] प्रायश्चित्त के तीन रूप हैं– 1. स्वालोचना 2. स्वनिंदना 3. स्वगर्हणा। इन तीनों तरीकों को अपनाकर स्वात्म शुद्धि करना ही प्रतिक्रमण का मर्म है। यदि सच्चे दिल से प्रायश्चित्त किया जाये तो जीवन के सारे शल्य समाप्त होकर व्यक्ति के परिणाम सरल एवं निर्मल बन जाते हैं फिर दुबारा पापयुक्त कर्म को दोहराते नहीं है। दशवैकालिकसूत्र की चूलिका के अनुसार हम निर्दोष इसलिए नहीं बन पाते कि प्रमाद दशा के वशीभूत होकर गलती करते

समय बेभान रहते हैं। हमें उस वक्त यह आभास ही नहीं होता कि हम कोई दोषपूर्ण प्रवृत्ति कर रहे हैं या हमारी वजह से किसी प्राणी का दिल दुःख रहा है? अतः यह सार्वभौम सिद्धान्त है कि हम स्वकृत दोषों को देखते ही तुरन्त उसका निवारण करें, उसे भविष्य पर न टालें।[45]

स्वयं के दोषों को जानना एवं तत्क्षण उनका निवारण कर आत्मा को शुद्ध, निर्मल और पावन बनाना ही प्रतिक्रमण का हार्द है। इसी को भाव प्रतिक्रमण कहते हैं।[46]

प्रतिक्रमण के बहुपक्षीय लाभ

जैन धर्म में प्रतिक्रमण आत्मशुद्धि हेतु एक उच्च आध्यात्मिक प्रक्रिया है। सामान्यतया यह उपक्रम समस्त आराधकों के लिए है। जिन्होंने किसी प्रकार के व्रत-नियम ग्रहण नहीं किये हैं, उनके लिए भी यह आवश्यक है। इस चतुर्थ आवश्यक का विधिवत पालन करने से निम्न लाभ होते हैं-

- प्रतिक्रमण कर्त्ता को मूलगुण रूपी बारह व्रत आदि के स्वरूप की जानकारी होती है तथा अव्रती में व्रत-ग्रहण करने की भावना बलवती बनती है।
- प्रतिक्रमण से व्रतों में स्थिरता एवं दृढ़ता आती है।
- कर्मादान आदि अकरणीय कार्यों की जानकारी एवं उनसे बचते रहने की भावना दृढ़ बनती है।
- चारित्र धर्म की विशेष अभिवृद्धि होती है।
- आवश्यकसूत्रों का उच्चारण एवं मनन करने से स्वाध्याय होता है।
- प्रचलित मान्यतानुसार नियतकाल में प्रतिक्रमण करने से तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन होता है।
- प्रतिक्रमण के लिए जितना समय व्यतीत होता है, उतने समय योगों की प्रवृत्ति शुभ रहती है तथा अशुभ कर्मों के बन्धन से भी उतने समय के लिए बचाव हो जाता है।
- छह आवश्यकों में चतुर्थ प्रतिक्रमण आवश्यक में ही व्रतों का प्राधान्य है। शेष पाँच आवश्यक अव्रती के लिए भी लागू होते हैं, किन्तु छह आवश्यक की क्रिया पूर्व परम्परा से एक ही काल में क्रमबद्ध रूप से की जाती रही है अर्थात छहों आवश्यक क्रमशः एक समय में पूर्ण किये जाते हैं इसलिए व्रती-अव्रती का भेद न रखते हुए सभी के लिए यह अनुष्ठान करणीय है।

- प्रतिक्रमण के पाठों में सम्यक्त्व, बारहव्रत एवं ज्ञान आदि पंचाचार के अतिचारों तथा अठारह पापस्थान की आलोचना आदि के पाठ हैं, प्रतिक्रमण द्वारा इन व्रत आदि में लगे दोषों की शुद्धि हो जाती है।
- प्रतिक्रमण से पापों का प्रायश्चित्त होने के अतिरिक्त इसमें देववन्दन, गुरुवन्दन, विनय, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग, ध्यान आदि धर्म क्रियाएँ भी की जाती है अत: उनके सुफल भी प्राप्त होते हैं।
- प्रतिक्रमण में प्रथम सामायिक आवश्यक होता है उसके परिपालन से समभाव की प्राप्ति और अनन्त जीवों के अभयदान का लाभ होता है। इसी तरह प्रतिक्रमण की प्रत्येक क्रिया से अनेक फायदे हैं।
- शुभ भावोल्लास के लिए प्रतिक्रमण क्रिया एक अद्भुत साधन है। प्रतिक्रमण में प्रभुभक्ति, गुरुविनय, समभाव,पापों का पश्चात्ताप, जीवदया, क्षमापना, उपशम, स्थिर शुभ ध्यान, संलीनता आदि शुभ भावों को अवकाश मिलता है।
- दिन या रात्रि सम्बन्धी दुष्कृत्यों से बंधे हुए पाप समूह का निर्गमन होता है।
- पाप कार्यों के प्रति सच्चा तिरस्कार उत्पन्न होता है।
- दोनों सन्ध्याओं के लिए धर्म आराधना निश्चित हो जाती है।
- दुष्कृत्यों के स्मरण और पश्चात्ताप से अच्छे संस्कारों का अंकुरण होता है।

प्रतिक्रमण याद करने के कुछ लाभ

प्रतिक्रमण– जैन अनुयायियों का आवश्यक कर्म है। उभय सन्ध्याओं में किया जाने वाला करणीय कर्म है अत: इसके मूल पाठ कण्ठाग्र होना आवश्यक है। प्रबुद्ध विचारकों का मानना है कि जो व्यक्ति प्रतिक्रमण सूत्र कण्ठस्थ कर लेता है, वह जीवन उपयोगी ज्ञानवर्द्धक एवं आगमिक अनेक तथ्यों का जानकार हो जाता है। प्रतिक्रमण के सूत्र पाठ मूलत: प्राकृत में हैं, क्योंकि यह पूर्व काल की मूल भाषा होने से तीर्थंकरों की वाणी इसी भाषा में प्रकट हुई। अत: उनका उच्चारण मंगलकारी माना जाता है। जहाँ नियमित सामायिक-प्रतिक्रमण की आराधना होती हो, वहाँ अनेक अशुभ टल जाते हैं। पूर्वाचार्यों ने जहाँ प्रथम सामायिक आवश्यक को ही द्वादशांगी का सार और चौदह पूर्व का

अर्थपिण्ड कहा है तो छह आवश्यक सहित सम्पूर्ण प्रतिक्रमण का महत्त्व नि:सन्देह बहुत अधिक है।

जिसे प्रतिक्रमणसूत्र याद हैं–

1. वह पंच परमेष्ठी के स्वरूप और उनके गुणों का ज्ञाता हो जाता है।
2. छह आवश्यक विधि एवं उसके तथ्यों का जानकार हो जाता है।
3. वह अठारह पापस्थानों का स्वरूप समझ लेता है।
4. उसे प्रत्याख्यान पाठ याद हो जाते हैं, जिससे वह स्वयं प्रत्याख्यान पूर्वक कोई नियम ले सकता है और गुरु आदि के अभाव में दूसरों को भी प्रत्याख्यान करवा सकता है।
5. प्रतिक्रमण का मूल पाठ वंदित्तुसूत्र याद होने से श्रावक के बारह व्रत (पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत) का विशिष्ट ज्ञाता हो जाता है।
6. बारहव्रत के स्वरूप की समग्र जानकारी होने से उनमें लगने वाले दोषों का भी परिज्ञाता हो जाता है। इससे वह कृतदोषों से शीघ्र मुक्त हो सकता है।
7. प्रतिक्रमण याद करने से आवश्यकसूत्र नाम का एक आगम कण्ठस्थ हो जाता है।
8. यदि अर्थ समझते हुए मूल पाठ याद किए जाएं तो छह आवश्यक रूप प्रतिक्रमण की आराधना समग्र रूप से सार्थक बन सकती है।[47]

किसने-कौनसा प्रतिक्रमण किया?

आचार्य आषाढ़ाभूति ने मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण किया था। एकदा आषाढ़भूति ने अंतिम समय में अपने शिष्यों को संलेखना करवायी और कहा– यदि देवगति को प्राप्त करो तो मुझे सूचित करना। उन शिष्यों ने गुरू वचन को विस्मृत कर दिया। इधर आषाढ़ाभूति की श्रद्धा विचलित हो गई। जिसके फलस्वरूप उन्होंने गृहस्थवास स्वीकार कर लिया। देव गति को प्राप्त हुए शिष्यों ने आकर सचेत किया। तो फिर से आषाढ़भूति की श्रद्धा दृढ़ बनी, यह मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण हुआ।

श्रेणिक राजा के पुत्र मेघकुमार परमात्मा महावीर की देशना सुनकर प्रव्रजित हुए। दीक्षा के पहले दिन ही सोने का स्थान आने-जाने के द्वार पर

मिला। रात्रिभर शारीरिक संज्ञा की निवृत्ति, ध्यान आदि के लिए मुनियों का आवागमन चलता रहा, मेघ मुनि को पल भर भी निद्रा न आई। विचार बदला और प्रात: होते ही रजोहरण आदि उपकरण भगवान महावीर को संभलाने गये। प्रभु के मुख से पूर्व जन्म की घटना सुनकर जातिस्मरण ज्ञान हो गया और फिर से महाव्रतों में स्थिर बने। इस प्रकार अव्रत का प्रतिक्रमण किया।

भगवान महावीर के शासनकाल में आनन्द श्रावक ने भिक्षार्थ पधारे हुए गौतम गणधर के चरणों में वन्दन कर पूछा– हे भगवन्! श्रावक को अवधिज्ञान हो सकता है? हाँ! हो सकता है। भगवन् मुझे भी इतने-इतने क्षेत्र परिमाण वाला अवधिज्ञान हुआ है। गौतम स्वामी ने उपयोग लगाये बिना कह दिया कि गृहस्थ को इतना विस्तृत अवधिज्ञान नहीं हो सकता। परमात्मा महावीर के समक्ष आलोचना करते हुए उनके मुखारविन्द से यथार्थ ज्ञान हुआ, तब बेले का पारणा किये बिना ही पुन: आनन्द श्रावक से क्षमायाचना करने पहुँचे और प्रमाद का प्रतिक्रमण करने के पश्चात पारणा किया।

प्रथम तीर्थंकर प्रभु आदिनाथ के पुत्र बाहुबली ने संयम जीवन स्वीकार किया। उनसे पहले उनके 98 भाई दीक्षित हो चुके थे। 'मैं उम्र में बड़ा हूँ किन्तु वे मुझसे पूर्व प्रव्रजित हुए हैं। यदि आदिनाथ भगवान के चरणों में जाता हूँ तो लघु भ्राताओं को वन्दन करना पड़ेगा।' इस मान कषाय वश बाहुबली एक वर्ष तक कठोर साधना करते रहे। अन्तत: दीक्षित बहिनें ब्राह्मी और सुन्दरी ने उन्हें सचेत किया। उनके अहंकार रूपी मद का विलय हुआ और ज्योंहि आगे बढ़ने के लिए कदम उठाया त्योंही कषाय का प्रतिक्रमण होने से केवलज्ञान उत्पन्न हो गया।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने अशुभ योग का प्रतिक्रमण किया था। वे दीक्षित बन एक पैर पर खड़े होकर एवं सूर्य के सम्मुख दृष्टि रखकर ध्यान कर रहे थे। मगधाधिपति श्रेणिक ने देखा, उन्हें विनय पूर्वक नमन किया। फिर भगवान महावीर के चरणों में पहुँचे। भगवान को सविनय वन्दन कर पूछा– हे भगवन्! नगरी के बाहर जो मुनि ध्यान में खड़े हैं, अभी आयु पूर्ण करें तो कौनसी गति में जायें? प्रभु ने कहा– सातवीं नरक में। श्रेणिक चकित हो गये। कुछ देर बाद फिर पूछा तो उत्तर मिला– छठीं, पाँचवीं, चौथी... सुनते-सुनते केवलज्ञान की दुंदुभियाँ बजने लगी। श्रेणिक ने पूछा– इतना अन्तर क्यों? प्रभु बोले– तुमने

पहले पूछा था तब ध्यानस्थ मुनि शत्रु के साथ मानसिक युद्ध कर रहे थे और बाद में भूलों के पश्चात्ताप पूर्वक अशुभ मन को शुभ योग में लगाने से इस प्रतिक्रमण का फल केवलज्ञान तक पहुँच गया।

आशय है कि मिथ्यात्व आदि में से एक-एक का प्रतिक्रमण करने वाली आत्माओं का भी जीवन सफल हो गया, तब जो पाँचों प्रकार के प्रतिक्रमण की सम्यक् साधना कर लेता है उसका जीवन नि:सन्देह धन्य एवं सार्थक होगा ही।

मिच्छामि दुक्कडं : एक विमर्श

जिन शासन में 'मिच्छामि दुक्कडं' का आदरणीय स्थान है। यह शास्त्र वचन जन सामान्य में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस सम्बन्ध में लोगों की भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। कुछ सोचते हैं कि 'मिच्छा मि दुक्कडं' के उच्चारण मात्र से किये गये पाप विनष्ट हो जाते हैं अत: प्रतिक्रमण आदि अन्य क्रियाएँ करना आवश्यक नहीं है। कुछ मानते हैं कि 'मिच्छामि दुक्कडं' जैनाचार का सार है। कुछ कहते हैं कि 'मिच्छा मि दुक्कडं' आत्मशुद्धि का सर्वोपरि मंत्र है इसलिए जब भी किसी प्रकार का अपराध हो या व्रत आदि खंडित हो, तो 'मिच्छामि दुक्कडं' कह देना चाहिए।

'मिच्छामि दुक्कडं' अपराधों की स्वीकृति एवं कृतदोषों को पुन: पुन: न दुहराने का बीज सूत्र है इसीलिए यह प्रतिक्रमण रूप प्रायश्चित्त का मुख्य अंग है।

जहाँ तक यह प्रश्न है कि 'मिच्छामि दुक्कडं' कहने मात्र से पूर्वबद्ध कर्म निर्जरित हो जाते हैं तो ऐसी बात नहीं है। इसका समाधान पाने के लिए यह निश्चित रूप से ज्ञातव्य है कि शब्द जड़ है, पुद्गल का एक भेद है, चैतन्य नहीं। शब्द जड़ रूप होने के कारण उसमें स्वयं में किसी को पवित्र या अपवित्र करने की शक्ति नहीं है। परन्तु शब्द के पीछे रहा हुआ मन का भाव ही सबसे बड़ी शक्ति है। वाणी को मन का प्रतीक कहा जा सकता है। अतएव 'मिच्छा मि दुक्कडं' इस वाक्य के पीछे जो आन्तरिक पश्चात्ताप का भाव रहा हुआ है, उसी में अचिन्त्य शक्ति निहित है। यदि साधक सच्चे मन से पश्चात्ताप करें, पापाचार के प्रति घृणा व्यक्त करें, तो वह कलुषित मन को सहज ही धोकर साफ कर सकता है, आत्मा पर लगे हुए पाप-मल को बहाकर साफ कर सकता है। अपराध के लिए किया जाने वाला तपश्चरण या अन्य किसी तरह का दण्ड भी

मूल में पश्चात्ताप ही है। यदि मन में पश्चात्ताप न हो और कठोर से कठोर प्रायश्चित्त स्वीकार भी कर लिया जाये तो आत्मशुद्धि नहीं हो सकती है। दण्ड का उद्देश्य देह-दण्ड नहीं है अपितु मन का दण्ड है अपनी भूल स्वीकार कर लेना और पश्चात्ताप कर लेना है। दण्ड प्राय: बाह्य स्तर पर आधारित होता है जबकि प्रायश्चित्त साधक की स्वयं अपनी तैयारी है।[48] प्रायश्चित्त करने वाला पाप का शोधन करने के लिए अन्तर्मन से उत्साहित होता है और उस आन्तरिक उत्साह के वेग से अपराधी की चेतना स्वयं विनम्र, सरल और निष्कपट बन जाती है। 'मिच्छा मि दुक्कडं' भी एक प्रायश्चित है।

यदि वर्तमान स्थिति पर विचार करें तो ज्ञात होता है कि आज प्रतिक्रमण का मूलभूत अभिप्राय समझने वाले अल्प रह गए हैं। कई जन ऐसे हैं जो प्रतिक्रमण तो करते हैं, 'मिच्छा मि दुक्कडं' भी देते हैं, परन्तु फिर उसी पाप को करते रहते हैं। उससे निवृत्त नहीं होते। पाप करना और 'मिच्छा मि दुक्कडं' देना, फिर पाप करना और 'मिच्छा मि दुक्कडं' देना, यह जीवन के अन्त तक चलता रहता है। परन्तु इससे आत्मशुद्धि के महामार्ग पर सामान्यत: प्रगति नहीं हो पाती है। इस प्रकार की बाह्य साधना को 'द्रव्य साधना' कहा जाता है।

उपाध्याय रमेशमुनि जी शास्त्री की वर्णन शैली के अनुसार केवल वाणी से 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहना और फिर उस पाप को करते रहना, उचित नहीं है। मन के मैल को साफ किए बिना और पुन: उस पाप को नहीं करने का दृढ़ निश्चय किए बिना खाली ऊपर से 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहने का कुछ अर्थ नहीं है। एक ओर दूसरों का दिल दु:खाने का काम करते रहें, हिंसा करते रहें, झूठ बोलते रहें और दूसरी ओर 'मिच्छा मि दुक्कडं' देते रहें। इस प्रकार का यह 'मिच्छा मि दुक्कडं' आत्मा को शुद्ध बनाने के बजाय अधिक अशुद्ध बना देता है।[49]

प्रस्तुत सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि पापकर्म करने के बाद जब प्रतिक्रमण अवश्य करणीय है तब सरल मार्ग तो यह है कि पापकर्म किया ही न जाए। आध्यात्मिक दृष्टि से यही सच्चा प्रतिक्रमण है।[50] आवश्यकनिर्युक्ति में कहा गया है कि जो साधक त्रिविध योग से प्रतिक्रमण करता है, जिस पाप के लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' देता है। फिर भविष्य में उस पाप को नहीं करता है, उसी का दुष्कृत्य निष्फल होता है अर्थात वही कृतदोषों से मुक्त होता है।[51] यदि

एक बार 'मिच्छामि दुक्कडं' देने के पश्चात पुन: उस पाप का आचरण कर लिया जाए तो वह प्रत्यक्षत: झूठ बोलता है, दम्भ का जाल बुनता है।[52] इस प्रकार के साधकों के लिए कठोर भाषा में भर्त्सना की गई है।[53] सिद्धान्तत: जो व्यक्ति जैसा बोलता है, यदि भविष्य में वैसा नहीं करता है तो वह सबसे बढ़कर मिथ्यादृष्टि है। वह तत्वत: कथनी-करनी में भेद रखता हुआ सीधे-सरल या नास्तिक लोगों के मन में शंका पैदा करता है और इस रूप में मिथ्यात्व की वृद्धि करता है अत: 'मिच्छा मि दुक्कडं' के अनुरूप आचरण करना चाहिए। वही वास्तव में प्रायश्चित्त और प्रतिक्रमण है, अन्यथा विपरीत आचरण करने पर मिथ्यात्व का दोष लगता है।

इस विवेचन के परिपार्श्व में 'मिच्छा मि दुक्कडं' का अक्षरश: अर्थ समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। आगमिक व्याख्या साहित्य का सर्वमान्य ग्रन्थ आवश्यकनिर्युक्ति में 'मिच्छामि दुक्कडं' का अर्थ इस प्रकार बतलाया गया है–

'मिच्छा मि दुक्कडं' में 'मि' के दो अर्थ हैं– मृदुता या मार्दव। शारीरिक नम्रता को मृदुता कहते हैं और भावात्मक नम्रता को मार्दव कहते हैं। अथवा काया की ऋजुता (सरलता) मृदुता है और भावों की ऋजुता मार्दव है।

'छा' का अर्थ है– असंयम योग रूप दोषों का निरोध करना, उन्हें रोक देना।

'मि' का अर्थ मर्यादा भी है अर्थात मैं चारित्र रूप मर्यादा में अवस्थित हूँ।

'दु' का अर्थ है– निन्दा। मैं दुष्कृत करने वाले भूतपूर्व आत्म पर्याय की निन्दा करता हूँ।

'क' का अर्थ– पाप कर्म की स्वीकृति है अर्थात मैंने पाप कर्म किया है।

'ड' का अर्थ– उपशमभाव है। आत्मा में कारणवश कर्म की शक्ति का अनुद्भूत होना, सत्ता में रहते हुए भी उदय प्राप्त न होना उपशम भाव कहलाता है। उपशम भाव के द्वारा पापकर्म का प्रतिक्रमण करना चाहिए।

इसका आशय है कि मैं संयम में स्थित हूँ। मेरे द्वारा जो अनाचीर्ण का आचरण हुआ है, उसे मैं काया और भावों की ऋजुता से स्वीकार कर उसका प्रायश्चित्त करता हूँ।[54]

समाहारत: प्रतिक्रमण जैन साधना की एक सर्वोत्कृष्ट Practical क्रिया है और इसके Best Result को पाने के लिए उसे एकदम Perfect करना बहुत

जरूरी है। इस योग साधना के अनेक ऐसे पक्ष हैं जिनका आस्वाद यदि एक बार साधक के द्वारा लिया जाए तो उसे अनेकशः रहस्यमयी अनुभूतियाँ स्वयमेव होने लगती है। किसी भी क्रिया के उद्देश्य आदि ज्ञात हो तो उसे करने का तरीका, नजरिया महत्वाकांक्षा बदल जाती है। प्रतिक्रमण के विविध पहलुओं का यह रहस्योद्घाटन साधकों के लिए एक अमृत निधि होगी।

सन्दर्भ-सूची

1. *जिनवाणी, पृ. 56*
2. *वही, पृ. 17-18*
3. *पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे पडिक्कमणं।*
   असद्दहणे य तहा, विवरीय परूवणाए य॥
   आवश्यकनिर्युक्ति, 1271
4. *जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन।*
   भा. 2, पृ. 401
5. *पडिलेहेउं पमज्जिय, भत्तं पाणं वा वोसिरेऊणं।*
   वसही कय वरमेव उ, णियमेण पडिक्कमे साहू॥
   हत्थसया आगंतु गंतुं च, मुहुत्तगं जहिं चिट्ठे।
   पंथे वा वच्चंतो णादिसंतरणे पडिक्कमइ॥
   आवश्यक हारिभद्रीय टीका, भा. 2, पृ. 50
6. *सहसा अण्णाणेण य, भीएण व पिल्लिएण व परेण।*
   वसणेणायंकेण व, मूढेण व रागदोसेहिं॥
   ओघनिर्युक्ति, 799
7. *जं किंचि कयम कज्जं, न हु तं लब्भा पुणो समायरिउं।*
   तस्स पडिक्कमियव्वं, न हु तं हियएण वोदव्वं॥
   वही, 800
8. *दिवसा असंभ विणोवि...विभावेज्जा।*
   आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 75
9. *जिनवाणी, पृ. 144*
10. *जिनवाणी, पृ. 142*
11. *आवश्यकनिर्युक्ति, 1215 की वृत्ति*

12. समणेण सावएण य, अवस्सकायव्वं हवइ जम्हा।
अन्ते अहोणिसस्स, तम्हा आवस्सयं नाम॥
आवश्यकनिर्युक्ति, पृ. 53

13. सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं, कारणजाए पडिक्कमणं॥
आवश्यकनिर्युक्ति, 1244

14. अखण्डं सूत्रं पठनीयमिति न्यायात्।
धर्मसंग्रह, पृ. 223

15. जिनवाणी, (प्रतिक्रमण विशेषांक), सन् 2006, नवम्बर, पृ. 98

16. प्रशमरति प्रकरण, श्लो. 143

17. तत्त्वार्थ-श्रुतसागरीय वृत्ति, 3/27

18. (क) आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 121 की मलयगिरि टीका
(ख) भगवती आराधना, 423

19. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 9/22, पृ. 620

20. प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत्।
तच्चित्तग्राहकं कर्म, प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्॥
धवलाटीका

21. (क) स्थानांगसूत्र, 10/73
(ख) मूलाचार, 362

22. गुणवद्बहुमानादे, र्नित्यस्मृत्या च सत्क्रिया।
जातं न पातयेद्भाव, मजातं जनेयदपि॥
क्षायोपशमिके भावे, या क्रिया क्रियते तया।
पतितस्यापि तद्भाव, प्रवृद्धिर्जायते पुनः॥
गुणवृद्ध्य ततः कुर्या, त्क्रियामस्खलनाय वा।
एकं तु संयमस्थानं, जिनानामवतिष्ठते॥
ज्ञानसार, क्रियाष्टक

23. जिनवाणी, पृ. 98

24. जंबुदीवे जे हुंति पव्वया, ते चेव हुंति हेमस्स।
दिज्जति सत्तखित्ते न, छुट्टए दिवस पच्छित्तं॥

जंबूद्दीवे जा हुज्ज बालुआ, ताउ हुंति रयणाई।
दिज्जति सत्त खित्ते न, छुट्टए दिवसपच्छित्तं।।

जिनवाणी, पृ. 99

25. आलोयण परिणओ सम्मं, संपट्ठिओ गुरु सगासे।
जइ अंतरा कालं, करेइ आराहओ तहवि।।

श्राद्धजीतकल्प, 39

26. लज्जा गारवेण बहुस्सुयमयेण वावि दुच्चरियं।
जे न कहंति गुरुणं, न हु ते आराहणा हुंति।।

श्राद्धजीतकल्प, गा. 24

27. जिनवाणी, प्रतिक्रमण विशेषांक, पृ. 9
28. वही, प. 111
29. वही, पृ. 111
30. वही, पृ. 232-233
31. वही, पृ. 237-238
32. उत्तराध्ययन, 23/53
33. चत्तारि कसाया सिचंति मूलाइं पुणब्भवस्स।

दशवैकालिकसूत्र, 8/40

34. दशवैकालिकसूत्र, 8/38
35. जिनवाणी, पृ. 241
36. जिनवाणी, पृ. 251
37. वही, पृ. 251
38. वही, पृ. 253
39. वही, पृ. 253-254
40. वही, पृ. 258
41. वही, पृ. 259
42. वही, पृ. 260-262 पर अवलम्बित
43. नमो पुरिसवरगंधहत्थीणं, पृ. 426
44. उत्तराध्ययनसूत्र, 29/16
45. दशवैकालिक चूलिका, 1/12, 13, 14

46. जिनवाणी, पृ. 67
47. जिनवाणी, पृ. 288
48. प्रतिक्रमण आवश्यक: स्वरूप और चिन्तन।
    रमेशमुनि शास्त्री, पृ. 41, उद्धृत जिनवाणी (प्रतिक्रमण विशेषांक)
49. वही, पृ. 42
50. आवश्यकनिर्युक्ति, 683
51. वही, 684
52. वही, 685
53. उपदेशमाला, 506
54. मित्ति मिउमद्दवत्ते छत्ति अ, दोसाण छायणे होइ।
    मित्ति य मेराए ठिओ, दुत्ति दुगुंछामि अप्पाणं॥
    कत्ति कडं मे पावं, डत्ति य डेवेमि तं उवसमेणं।
    एसो मिच्छा दुक्कड, पयक्खर त्थो समासेणं॥
    (क) आवश्यकनिर्युक्ति, 686-687
    (ख) प्रशमरतिप्रकरण, 219

●

अध्याय-3

प्रतिक्रमण सूत्रों का प्रयोग कब और कैसे?

सम्पूर्ण प्रतिक्रमण की आराधना में लगभग 30 से 40 सूत्रों का प्रयोग होता है। प्रत्येक सूत्र का अपना महत्त्व, उद्देश्य एवं रहस्य है। कुछ सूत्र परमात्म भक्ति के हैं तो कोई उनकी गुण गरिमा का गुंजन करता है। किसी सूत्र में अतिचारों का वर्णन किया गया है तो किसी में उन दोषों की क्षमायाचना का भाव गुम्फित है। किसी सूत्र के द्वारा गुरु को वंदना की जाती है तो किसी के द्वारा तीर्थों को। छहों आवश्यक में प्रवेश करने के सूत्र भी अलग-अलग हैं। इन सूत्रों का मार्मिक स्वरूप ज्ञात हो जाए तो प्रतिक्रमण की आराधना मोक्ष मार्ग की साधना के रूप में फलीभूत हो सकती है। इसी ध्येय को लक्ष्य में रखकर प्रस्तुत अध्याय में प्रतिक्रमण सूत्रों की प्रयोग विधि एवं उनके विविध पक्षों को उजागर किया जा रहा है।

प्रतिक्रमण सूत्रों के शास्त्रीय नाम

	प्रचलित नाम	शास्त्रीय नाम
1.	नमस्कार सूत्र	पंचमंगल महाश्रुतस्कन्ध सूत्र
2.	पंचिंदिय सूत्र	गुरु स्थापना सूत्र
3.	खमासमण सूत्र	थोभवंदन सूत्र एवं प्रणिपात सूत्र
4.	इच्छकारी भगवन् सूत्र	सुखपृच्छा सूत्र
5.	अब्भुट्ठिओ सूत्र	गुरु क्षमापना सूत्र
6.	ईरियावही सूत्र	ऐर्यापथिकी प्रतिक्रमण सूत्र
7.	तस्सउत्तरी सूत्र	कायोत्सर्ग हेतु सूत्र
8.	अन्नत्थ सूत्र	कायोत्सर्ग आगार सूत्र
9.	लोगस्स सूत्र	चतुर्विंशति जिनस्तव, उद्योतकर सूत्र
10.	करेमि भंते सूत्र	सामायिक ग्रहण सूत्र
11.	सामाइय वयजुत्तो सूत्र	सामायिक पारण सूत्र
12.	भयवं दसण्णभद्दो सूत्र	सामायिक पारण सूत्र

13. जगचिंतामणि सूत्र	प्रभात चैत्यवंदन सूत्र
14. जयउसामिय सूत्र	प्रभात प्रतिक्रमण सूत्र
15. जं किंचि सूत्र	तीर्थ वन्दना सूत्र
16. नमोत्थुणं सूत्र	शक्रस्तव सूत्र, प्रणिपात दण्डक सूत्र
17. जावंति चेइआइं सूत्र	सर्व चैत्यवंदन सूत्र
18. जावंत केविसाहू सूत्र	सर्व साधूवंदन सूत्र
19. नमोऽर्हत सूत्र	पंच परमेष्ठि नमस्कार सूत्र
20. उवसग्गहरं स्तोत्र	उपसर्गहर स्तोत्र
21. जयवीयराय सूत्र	प्रणिधान सूत्र
22. अरिहंत चेईयाणं सूत्र	चैत्यस्तव
23. कल्लाण कंदं स्तुति	पंच जिनेश्वर स्तुति
24. संसार दावानल स्तुति	श्री महावीर स्तुति
25. पुक्खरवरदी सूत्र	श्रुतस्तव
26. सिद्धाणं बुद्धाणं सूत्र	सिद्धस्तव
27. सव्वस्सवि सूत्र	प्रतिक्रमण स्थापना सूत्र
28. सुगुरु वन्दन सूत्र	द्वादशावर्त्त वन्दन सूत्र
29. इच्छामि ठामि सूत्र	अतिचार आलोचना सूत्र
30. वंदित्तु सूत्र	श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र
31. आयरिय उवज्झाय सूत्र	आचार्यादि क्षमापना सूत्र
32. नमोऽस्तु वर्धमानाय स्तुति	वर्धमान स्तुति
33. विशाल लोचन दलं स्तुति	प्राभातिक स्तुति
34. अड्ढाइज्जेसु सूत्र	साधुवन्दन सूत्र
35. लघुशान्ति पाठ	शान्ति स्तवः
36. चउक्कसाय सूत्र	पार्श्वनाथजिन स्तुति
37. मन्नह जिणाणं सज्झाय	श्रावक नित्य कृत्य स्वाध्यायः
38. सकलार्हत स्तोत्र	चतुर्विंशति जिन नमस्कार, पाक्षिक चैत्यवंदन सूत्र
39. जयतिहुअण स्तोत्र	पाक्षिक चैत्यवंदन सूत्र
40. अजितशांति	अजित शान्तिस्तवः
41. बड़ी शान्ति	बृहत्शान्ति

प्रतिक्रमण सम्बन्धी सूत्रों में प्रयुक्त छंद और उसका विवरण

छंद नाम	सूत्र नाम
1. श्लोक, अनुष्टुप्	श्री नवकार सूत्र के अंतिम चार पद, जयवीयराय सूत्र गा. 5, लोगस्स सूत्र गा. नं. 1, वंदित्तु सूत्र गा. नं. 38,39,49,50, नमोऽस्तुसूत्र गा. नं. 1, विशाल लोचन सूत्र गा. नं. 1, लघु शांति सूत्र गा. नं. 18, सकलार्हत स्तोत्र 1 से 27, 31 बृहत शांति स्तोत्र 13,14,23,24।
2. गीति/उद्गाथा	श्री पंचिंदिय सूत्र गा. नं. 1
3. गाहा, गाथा, आर्या	श्री पंचिंदिय सूत्र गा. नं. 2, लोगस्स सूत्र गा. नं. 2-7, सामाइयवयजुत्तो सूत्र गा. नं. 1-2, जगचिंतामणि सूत्र गा. नं. 4-5, जं किंचि सूत्र, नमुत्थुणं सूत्र गा. नं. 10, जावंति चेइयाइं सूत्र, जावंत केवि साहू सूत्र, उवसग्गहरं स्तोत्र, जयवीयराय सूत्र गा. नं. 1-4, पुक्खरवरदी सूत्र गा. नं. 1-2, सिद्धाणं बुद्धाणं सूत्र, वंदित्तु सूत्र गा. नं. 1-37, 40, 48, आयरिय उवज्झाय सूत्र, सुअदेवया सूत्र, खित्त देवया सूत्र, भुवनदेवया सूत्र, लघु शांति सूत्र, भरहेसर सूत्र, मन्नह जिणाणं सूत्र, नमोऽस्तु सूत्र गा. नं. 1, विशाल लोचन सूत्र गा. नं. 1, अड्ढाइज्जेसु सूत्र, सकलार्हत स्तोत्र गा. नं. 28, श्री संतिकर स्तोत्र।
4. रोला छंद	श्री जग चिंतामणि सूत्र गा. नं. 1
5. वस्तु (रड्डा) छंद	श्री जगचिंतामणि सूत्र गा. नं. 2-3
6. इन्द्रवज्रा छंद	श्री कल्लाण कंदं सूत्र गा. नं. 1
7. उपजाति छंद	श्री कल्लाण कंदं सूत्र गा. नं. 2,3,4
8. वसंततिलका छंद	श्री पुक्खरवरदी सूत्र गा. नं. 3, संसारदावा सूत्र गा. नं. 2

9. मन्दाक्रान्ता छंद	श्री संसारदावा सूत्र गा. नं. 3, बृहत् शांति स्तोत्र गा. नं.1
10. स्रग्धरा छंद	श्री संसारदावा सूत्र गा. नं. 4, स्नातस्या० स्तुति गा. नं. 3-4
11. शार्दूल विक्रीडित छंद	श्री पुक्खरवरदी सूत्र गा. नं. 4, स्नातस्या. स्तुति गा. नं. 1-2, श्री सकलार्हत स्तोत्र 29,32,33
12. औपच्छन्दसिक छंद	श्री नमोऽस्तु सूत्र गा. नं. 2 विशाल लोचन सूत्र गा. नं. 2
13. वंशस्थ छंद	श्री नमोऽस्तु सूत्र गा. नं. 3, विशाल लोचन सूत्र गा. नं. 3
14. पादा कुलक छंद	श्री चउक्कसाय सूत्र गा. नं. 1
15. अडिल्ल छंद	श्री चउक्कसाय सूत्र गा. नं. 2
16. चोपाई छंद	श्री सकल तीर्थ सूत्र गा. नं. 1-15
17. मालिनी छंद	श्री सकल कुशल वल्ली, श्री सकलार्हत स्तोत्र गा. नं. 30
18. श्री अजित शांति स्तव में अनेक छन्द हैं उनके नाम प्रबोध टीका से जानना चाहिए।	
19. गद्यात्मक सूत्र	श्री खमासमण, इच्छकार, अब्भुट्ठिओ, ईरियावहियं, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ, करेमि भंते, नमुत्थुणं, नमोऽर्हत, अरिहंत चेईयाणं, वेयावच्चगराणं, सव्वस्सवि, इच्छामि ठामि, सुगुरु वांदणा, सात लाख, अठारह पापस्थान, ज्ञान-दर्शन-चरित्र।

कौनसा सूत्र किस मुद्रा में और क्यों?

1. नमस्कार महामंत्र– यह सूत्र नमस्कार मुद्रा में बोला जाता है क्योंकि इस मुद्रा से हृदय में विनम्रभाव और लघुता प्रकट होती है जो सच्ची प्रार्थना एवं उसकी अच्छी फलश्रुति पाने के लिए परम आवश्यक है।

2. पंचिंदिय सूत्र– यह सूत्र किसी वस्तु को रखने या स्थापित करने की

मुद्रा में बोला जाता है। हथेली बाहर की तरफ कुछ झुकी हुई होती है। इस मुद्रा का प्रयोग करते समय आराधक के मन में साक्षी रूप में गुरु की उपस्थिति के भाव उत्पन्न होते हैं जिससे धर्म क्रिया में स्फूर्ति एवं जागृति रहती है।

3. खमासमण सूत्र– यह सूत्र पंचांग प्रणिपात मुद्रा में बोला जाता है क्योंकि यह मुद्रा अहंकार का विसर्जन कर नम्रता भाव उत्पन्न करती है तथा इससे समर्पण का गुण विकसित होता है।

4. सुखपृच्छा सूत्र– इसे अर्धावनत मुद्रा में बोलते हैं क्योंकि गुरु के तप-संयम-स्वास्थ्य का कुशल क्षेम किंचित झुककर ही पूछा जा सकता है। इस मुद्रा से अहंकार का नाश और विनय गुण का सर्जन होता है जो यथार्थ सुखपृच्छा के लिए आवश्यक है।

5. अब्भुट्ठिओमि सूत्र– यह सूत्र हथेली नीचे रखते हुए प्रणिपात मुद्रा में बोला जाता है। इस मुद्रा के द्वारा आतों और जठर की निर्बलता, यकृत की विकृति तथा स्वादुपिण्ड की शिथिलता दूर होती है। रीढ़ की स्थायित्व शक्ति बढ़ती है और पेट एवं सीने के स्नायु बलवान बनते हैं जो गुरुवन्दन आदि धर्म क्रियाओं के लिए उपयोगी है। इस मुद्रा से श्रद्धा गुण विकसित होता है जिससे गुरु के प्रति सही रूप में क्षमायाचना की जा सकती है। इस मुद्रा में दायीं हथेली को भूमि पर सीधा रखते हुए गुरु के चरण स्पर्श के भाव व्यक्त किये जाते हैं।

6. ईरियावही, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ, पुक्खरवरदी, सिद्धाणं बुद्धाणं, अरिहंत चेइयाणं आदि सूत्र– ये सभी सूत्र ऊर्ध्वस्थित (खड़े होने की) मुद्रा में बोले जाते हैं। इस मुद्रा से पीठ सशक्त और चेहरा तेजस्वी बनता है तथा इन सूत्रों के बीच-बीच में हृदय एवं मन को झुकाने से विनम्र गुण भी पैदा होता है जो देववन्दन एवं अतिचार विशुद्धि आदि के लिए अत्यन्त जरूरी है। इन सूत्रों को बोलते वक्त सीधे खड़े रहने से दुष्कृत की स्वीकृति में वीरता का भाव प्रकट होता है।

7. करेमिभंते सूत्र– यह सूत्र अर्धावनत अथवा याचक मुद्रा में बोला जाता है क्योंकि इस सूत्र के द्वारा अन्तर्मन से सावद्य व्यापार का त्याग और सामायिक चारित्र को ग्रहण करते हैं। इस मुद्रा से पाप कार्यों के प्रति ग्लानि एवं समता धर्म के प्रति अहोभाव सहज उत्पन्न होता है।

8. लोगस्स सूत्र– यह सूत्र नमस्कार मुद्रा और कायोत्सर्ग मुद्रा में बोला जाता है। कायोत्सर्ग मुद्रा में दृष्टि को नासिका के अग्र भाग पर केन्द्रित करने से

मन व्यापार का निरोध होता है, आत्म विश्वास में अभिवृद्धि तथा आभ्यन्तर व्यक्तित्व विकासोन्मुख होता है। साथ ही शरीर और मन स्वस्थ रहने से अतिचारों की पूर्ण विशुद्धि हो जाती है।

9. सामाइयवय जुत्तो, भयवंदसण्ण भद्दो एवं सव्वस्सवि सूत्र– ये तीनों पाठ दाहिने हाथ को मुट्ठी रूप बनाकर उसे भूमि पर रखते हुए प्रणिपात मुद्रा में बोले जाते हैं, क्योंकि मुट्ठी वीरता की सूचक है। उक्त तीनों सूत्र 'मिच्छामि दुक्कडं' से सम्बन्धित होने के कारण इन सूत्रों के द्वारा कृत अपराधों से मुक्त हुआ जाता है। साहसी एवं पराक्रमी पुरुष ही दोषों को स्वीकार एवं उनका परिहार कर सकता है अत: उपर्युक्त सूत्र पाठ अमुक मुद्रा में ही बोले जाते हैं।

10. जयउसामिय, जगचिंतामणि, जं किंचि, नमुत्थुणं, उवसग्गहरं, चउक्कसाय, जयतिहुअण, सकलार्हत्, अजितशांति आदि– ये सूत्र योग मुद्रा (चैत्यवंदन मुद्रा) में बोले जाते हैं। क्योंकि इस मुद्रा से मानसिक प्रसन्नता और आन्तरिक उल्लास का भाव पैदा होता है जो कि परमात्मा की स्तुति करते वक्त होना जरूरी है। हर्ष एवं उत्साह पूर्वक की गई स्तुति पूर्णत: सार्थक होती है। इस मुद्रा से वीर्य ऊर्ध्वरेतस् और ब्रह्मचर्य का नैष्ठिक पालन होता है। घुटने, पैर एवं पंजों का दर्द दूर होकर प्रमाद दशा कम होती है तथा अन्त:स्रावी ग्रन्थियाँ कार्यक्षम बनती हैं।

11. जावंति चेइआइं, जावंत केविसाहू एवं जयवीयराय सूत्र– ये सूत्र मुक्ताशुक्ति मुद्रा में बोले जाते हैं। इन सूत्रों के माध्यम से तीन लोक के चैत्यों और सर्व साधुओं को वन्दन किया जाता है तथा स्वयं के लिए श्रेष्ठ प्रार्थना की जाती है। इस तरह की धर्म क्रिया के लिए शरीर एवं मन का स्वस्थ होना जरूरी है जो मुक्ताशुक्ति मुद्रा से ही पूर्ण सम्भव है।

इस मुद्रा प्रयोग से प्राणों की ऊर्ध्वगति होती है, वीर्य नाड़ी के दोष दूर होते हैं तथा कण्ठ मधुर बनता है। इससे योग मुद्रा के लाभ भी प्राप्त होते हैं।

12. नमोऽर्हत् सूत्र– यह सूत्र बैठे हुए योग मुद्रा में तथा खड़े हुए सामान्य मुद्रा में बोला जाता है।

13. कल्लाण कंदं स्तुति– इस पाठ की चारों स्तुतियाँ खड़े होकर सामान्य मुद्रा में कही जाती है। स्तुति के समय एक जन मुख के आगे

मुखवस्त्रिका रखते हुए स्तुति बोलता है और शेष प्राय: कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित होकर सुनते हैं। इस मुद्रा से अन्त:स्रावी ग्रन्थियाँ क्रियाशील और चेहरा तेजस्वी बनता है तथा आत्मबल में वृद्धि एवं मन की कलुषिताएँ दूर होती है।

14. सुगुरुवन्दन सूत्र– यह सूत्र उत्कटासन (यथाजात) मुद्रा में बोला जाता है। यहाँ यथाजात का अभिप्राय जिस मुद्रा में बालक जन्मता है उस तरह की मुद्रा करने से है। यथाजात मुद्रा में वन्दनार्थी शिष्य सर्वथा नग्न तो नहीं होता, परन्तु चोलपट्ट, रजोहरण और मुखवस्त्रिका के अतिरिक्त अन्य कोई उपकरण अपने पास नहीं रखता है तथा दोनों हाथों को मस्तक से लगाकर वन्दन करने की मुद्रा में गुरु के समक्ष खड़ा रहता है।

प्राचीन काल में इसी मुद्रा में मुनि दीक्षा दी जाती थी। इस मुद्रा से हाथों की कलाईयाँ और पैरों के पंजे मजबूत बनते हैं, पैर के सभी जोड़ों और स्नायुओं का उचित व्यायाम होता है, प्राण सुषुम्ना में संचरित होने लगता है तथा कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है। इससे मलावरोध, उदर रोग, चर्मरोग, अजीर्ण, संधिवात आदि रोग नष्ट होते हैं। शरीर फूल की तरह हल्का हो जाता है। गुरु को विधियुक्त वंदन करने के लिए शरीर की निरोगता एवं हल्कापन आवश्यक है, जो प्रस्तुत मुद्रा से सहज संभव होता है।

15. इच्छामिठामि सूत्र– यह सूत्र किंचित विनम्र मुद्रा अथवा स्वदोष स्वीकृत करने की मुद्रा में बोला जाता है। क्योंकि इस सूत्र के द्वारा बारह व्रत आदि में लगे दोषों का स्मरण पूर्वक मिच्छामि दुक्कडं दिया जाता है। इस मुद्रा से मन शांत और तनाव दूर होते हैं तथा पीयूष ग्रंथि के सुचारू संचालन से आन्तरिक अनुभूतियाँ प्राप्त होती है। जिसके फलस्वरूप पापों की सम्यक आलोचना करने में सहयोग मिलता है।

16. वंदितु सूत्र– यह पाठ वीरासन या वीर मुद्रा में बोलते हैं क्योंकि इस सूत्र के द्वारा बारह व्रत आदि में लगे दोषों का प्रतिक्रमण किया जाता है, उसके लिए अन्तस् से शूरवीरता और साहस का होना जरूरी है। इस मुद्रा से वीरत्व के भाव स्वयं प्रकट हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस आसन में बैठने से वीर्यनाड़ी पर अच्छा प्रभाव पड़ता है, जिस कारण मधुप्रमेह जैसे विकार दूर होते हैं। इससे श्वास नियन्त्रण की शक्ति पैदा होती है, हकलाना-तुतलाना आदि वाणी सम्बन्धी रोग दूर होते हैं तथा जीवन शक्ति में वृद्धि होती है।

17. आयरिय उवज्झाय सूत्र– यह पाठ मस्तक झुकाकर नमस्कार मुद्रा में बोला जाता है, क्योंकि इस सूत्र के द्वारा आचार्य आदि श्रेष्ठ मुनियों एवं साधर्मी बन्धुओं से क्षमायाचना की जाती है और उसके लिए लघुता भाव उत्पन्न होना आवश्यक है। यह मुद्रा लघुता गुण की सूचक है। इस मुद्रा से मानसिक तनाव शांत होते हैं और आन्तरिक उल्लास में अभिवृद्धि होती है।

18. लघुशांति-बड़ीशान्ति– ये दोनों सूत्र पाठ सुखासन में बैठकर बोले-सुने जाते हैं। तपागच्छ आदि कुछ परम्पराओं में बड़ी शांति का पाठ कायोत्सर्ग मुद्रा में सुना जाता है।

इस मुद्रा में सुनने से वीर्य शक्ति का ऊर्ध्वारोहण होता है, मनस् केन्द्र की स्थिरता बढ़ती है और ग्रन्थियों का स्राव संतुलित होता है।

दैवसिक प्रतिक्रमण सम्बन्धी सूत्रों में छह आवश्यक कैसे?

1. करेमिभंते सूत्र	सामायिक आवश्यक
2. लोगस्स सूत्र	चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक
3. सुगुरुवंदना एवं इच्छामि खमासमणो सूत्र	वन्दन आवश्यक
4. पगाम सिज्झाय (मुनि सम्बन्धी), वंदित्तुसूत्र, इच्छामिठामिसूत्र, ईरियावहि आदि सूत्र	प्रतिक्रमण आवश्यक
5. पुक्खरवरदी, सिद्धाणं बुद्धाणं, अरिहंत चेईयाणं, तस्सउत्तरी, अन्नत्थसूत्र	कायोत्सर्ग आवश्यक
6. उग्गए सूरे नमोक्कारसहियं आदि सूत्र	प्रत्याख्यान आवश्यक

पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण सम्बन्धी सूत्रों में छह आवश्यक कैसे?

1. पाक्षिकसूत्र से पूर्वकथित करेमिभंते सूत्र	सामायिक आवश्यक
2. कायोत्सर्ग के पश्चात कहे जाने वाला लोगस्ससूत्र	चतुर्विंशति आवश्यक
3. द्वादशावर्त्तवन्दन सूत्र	वंदन आवश्यक

4. बृहद् अतिचार, श्रमणसूत्र, वंदित्तुसूत्र आदि	प्रतिक्रमण आवश्यक
5. 12,20 या 40 लोगस्स के कायोत्सर्ग के पूर्व कहे जाने वाला अन्नत्थ सूत्र	कायोत्सर्ग आवश्यक
6. पाक्षिक सूत्र	प्रत्याख्यान आवश्यक

पाक्षिक आदि प्रतिक्रमणों में पंचाचार कैसे?

1. ज्ञानी, गुणी एवं संबुद्ध मुनियों से क्षमायाचना करना ज्ञानाचार का पालन है।
2. कायोत्सर्ग करते समय एवं प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलना दर्शनाचार का पालन है।
3. अतिचार पाठ, पाक्षिक सूत्र, श्रमण सूत्र, वंदित्तु सूत्र, प्रत्येक खामणा सूत्र, समाप्ति खामणा सूत्र आदि बोलना चारित्राचार का पालन है।
4. प्रतिक्रमण में शरीर को हिलाना नहीं, सूत्रों को मनोयोग पूर्वक धारण करना, 12 लोगस्स का कायोत्सर्ग करना तपाचार का पालन है।
5. प्रतिक्रमण को यथोक्त विधिपूर्वक करना, क्रियाओं में अप्रमत्त भाव रखना आदि वीर्याचार का पालन है।

दैनिक जीवनचर्या में छह आवश्यक किस तरह?

दैवसिक आदि प्रतिक्रमण से तो छह आवश्यक का पालन होता ही है, किन्तु दैनिक जीवन में भी इसका अनुपालन किया जा सकता है वह इस प्रकार है–

1. दिन में एक, दो या तीन सामायिक करना, प्रथम सामायिक आवश्यक है।
2. दिन में सात बार चैत्यवन्दन करना, जिन पूजा, स्नात्र पूजा आदि करना, चतुर्विंशति आवश्यक है।
3. प्रातःकाल प्रत्याख्यान ग्रहण करने से पूर्व, प्रवचन सुनने से पूर्व, सामायिक लेने से पूर्व, सन्ध्याकालीन प्रत्याख्यान से पूर्व द्वादशावर्त्त वन्दन करना, इसी तरह त्रिकाल वन्दना करना, वन्दन आवश्यक है।
4. दिनकृत या पूर्वकृत दोषों का बार-बार पश्चात्ताप करना, मिच्छामि दुक्कडं देना, गमनागमन क्रिया का प्रतिक्रमण करना, उभय सन्ध्याओं में षडावश्यक का पालन करना, प्रतिक्रमण आवश्यक है।

5. ज्ञानाचार, दर्शनाचार एवं चारित्राचार की विशुद्धि निमित्त एक, दो, चार आदि लोगस्ससूत्र का चिन्तन करना, कायोत्सर्ग आवश्यक है।
6. प्रात:काल में नवकारसी आदि के, दिन के दूसरे भाग में गंठसी, मुट्ठसी आदि के तथा सन्ध्या में चौविहार, तिविहार आदि के प्रत्याख्यान करना, प्रत्याख्यान आवश्यक है।

प्रतिक्रमण सूत्रों का संक्षिप्त अर्थ एवं उनकी प्राचीनता

नमस्कार महामन्त्र– इस महामंत्र में अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँच परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है। इस मन्त्र को महामंगलकारी एवं पापों का नाश करने वाला कहा गया है। यह सूत्र गणधर द्वारा रचित है और इसे शाश्वत सूत्र माना जाता है।

पंचिंदिय सूत्र– इस सूत्र में आचार्य के 36 गुणों का वर्णन किया गया है। इस सूत्र के द्वारा परोक्ष आचार्य की साक्षी रूप में स्थापना की जाती है इसे भाव स्थापना कह सकते हैं। इसीलिए इसका दूसरा नाम गुरुस्थापना सूत्र है। प्रबोध टीका में यह सूत्र गणधर रचित कहा गया है अत: प्राचीन है।

खमासमण सूत्र– इस सूत्र के द्वारा शरीर के पाँचों अंगों को झुकाकर देव-गुरु को वंदन किया जाता है इसलिए इसे पंचांग प्रणिपात कहते हैं। इसके द्वारा क्षमाश्रमणों (साधु-साध्वियों) को वंदन किए जाने से इसे खमासमण सूत्र तथा यह सूत्र सामान्य वंदन में उपयोगी होने से इसे थोभवंदन सूत्र कहा जाता है।

प्रबोध टीकानुसार यह सूत्र गणधरकृत है तथा इसका सर्वप्रथम उल्लेख ओघनिर्युक्ति टीका में प्राप्त होता है।

सुखपृच्छा सूत्र– इस सूत्र के द्वारा साधु-साध्वी के तप, संयम एवं शरीर सम्बन्धी सुखपृच्छा की जाती है और आहार आदि से लाभान्वित होने हेतु निमंत्रण दिया जाता है। प्रबोध टीका के अनुसार यह सूत्र भी गणधर रचित माना जाता है। इसका उल्लेख सर्वप्रथम भगवतीसूत्र में गुरु निमंत्रण के रूप में किया गया है।

अब्भुट्ठिओमि सूत्र– इस सूत्र के माध्यम से हमारे द्वारा गुरु के साथ हुई छोटी-बड़ी अविनय आदि आशातनाओं की क्षमायाचना की जाती है अत: इसे क्षमापना सूत्र कहते हैं। गुरु के समक्ष क्षमापना हेतु उपस्थित होने के कारण इसे अब्भुट्ठिओमि सूत्र भी कहते हैं। प्रबोध टीकानुसार इस सूत्र का उल्लेख आवश्यक सूत्र के पाँचवें अध्ययन में प्राप्त होता है। अत: यह प्राचीन सूत्र है।

इरियावहि सूत्र– इस सूत्र के द्वारा गमनागमन सम्बन्धी क्रियाओं में 563 प्रकार के किसी भी जीवों की विराधना या हिंसा हुई हो तो उस पाप से निवृत्त होने के लिए 1824120 प्रकार से मिच्छामि दुक्कडं दिया जाता है।

यह पाठ आवश्यक सूत्र के चौथे अध्ययन में प्राप्त होता है, अत: यह गणधर रचित है।

तस्स उत्तरी सूत्र– इस सूत्र के द्वारा पाप कर्मों का प्रायश्चित्त करने के लिए, उसकी विशुद्धि करने के लिए, उन कर्मों से आत्मा को शल्य रहित करने के लिए और उनका नाश करने के लिए कायोत्सर्ग करने का संकल्प किया जाता है। इस सूत्र का उल्लेख आवश्यकसूत्र के पाँचवें कायोत्सर्ग अध्ययन में है।

अन्नत्थ सूत्र– इस सूत्र के द्वारा कायोत्सर्ग के समय अनैच्छिक (स्वाभाविक) रूप से होने वाली छींक, खांसी, जंभाई आदि शारीरिक क्रियाओं का आगार (छूट) रखा जाता है।

गणधर रचित यह सूत्र आवश्यक नामक आगम के पाँचवें अध्ययन में मिलता है।

लोगस्स सूत्र– इस सूत्र में चौबीस तीर्थंकरों को नाम स्मरण पूर्वक उनके वंदन किया गया है और उनसे आरोग्य बोधि एवं समाधि प्राप्ति हेतु प्रार्थना की गई है। इस सूत्र को गणधरकृत माना जाता है तथा महानिशीथ, आवश्यक, उत्तराध्ययन आदि कई सूत्रों में इसका उल्लेख मिलता है।

करेमि भंते सूत्र– इस सूत्र के द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए दो करण एवं तीन योग से सावद्य कार्यों का परित्याग किया जाता है। यह सूत्र गणधर रचित और शाश्वत माना जाता है।

सामाइयवयजुत्तो सूत्र– इस सूत्र के द्वारा सामायिक के दौरान ज्ञात-अज्ञात में लगे हुए दोषों का चिंतन कर उनकी निंदा की जाती है।

इस सूत्र की दूसरी गाथा विक्रम की 15वीं शती के आवश्यक निर्युक्ति में एवं पहली गाथा आचार दिनकर में प्राप्त होती है।

भयवं दसण्णभद्दो सूत्र– इस सूत्र में सामायिक व्रत एवं सामायिक कर्त्ता साधु एवं श्रावकों की महिमा बताते हुए सामायिक में लगे दोषों की आलोचना की गई है। इस सूत्र का प्रथम उल्लेख 14वीं शती के विधिमार्गप्रपा में मिलता है।

जगचिंतामणि सूत्र– इस चैत्यवंदन सूत्र में तीर्थंकरों का गुणगान करते हुए उनके चैत्य एवं प्रतिमाओं को वंदन किया गया है। इसी के साथ शाश्वत

प्रतिमाएँ और शाश्वत तीर्थों की संख्या बताई गई है। यह सूत्र प्रभाती चैत्यवंदन के रूप में सर्वप्रथम 14वीं शती के तरूणप्रभसूरिकृत षडावश्यक बालावबोध में प्राप्त होता है। गणधर गौतम स्वामी ने अष्टापद पर्वत पर इसी सूत्र से चैत्यवंदन किया था, ऐसा उल्लेख है।

जयउसामिय सूत्र– इस सूत्र में उत्कृष्ट 170 जिन, उत्कृष्ट केवलज्ञानियों साधु-साध्वियों, शाश्वत प्रतिमाओं एवं शाश्वत बिम्बों की संख्या बताते हुए उन्हें वंदन किया गया है।

खरतरगच्छ परम्परा में प्रात:काल प्रतिक्रमण करते समय चैत्यवंदन के रूप में यही पाठ बोला जाता है।

जं किंचि सूत्र– इस सूत्र के द्वारा सम्पूर्ण विश्व में रहे हुए जिन बिम्बों को वंदन किया जाता है।

नमुत्थुणं सूत्र– इस सूत्र में अरिहंत परमात्मा को अनेक विशेषणों से उपमित करते हुए तीनों काल में होने वाले तीर्थंकरों की स्तुति और उन्हें वंदन किया गया है। यह सूत्र शक्रेन्द्र द्वारा रचित है अत: इसे शक्रस्तव भी कहा जाता है। इसमें अरिहंत परमात्मा को विशिष्ट रूप से प्रणिपात (वंदन) किये जाने के कारण इसका दूसरा नाम प्रणिपात दण्डक है। यह प्राचीन एवं शाश्वत सूत्र है।

जावंति चेइआइं सूत्र– इस सूत्र में तीनों लोकों के समस्त चैत्यों को वंदन किया गया है।

जावंत केविसाहू सूत्र– इस सूत्र में भरत, ऐरावत एवं महाविदेह इन तीन क्षेत्रों में रहे हुए सभी साधु-साध्वियों को वंदन किया गया है।

उक्त दोनों पाठ वंदित्तुसूत्र पर आधारित है।

नमोऽर्हत् सूत्र– इस सूत्र में पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। यह नवकार मन्त्र का संक्षिप्त रूप है तथा 5वीं शती में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने इसकी रचना की है। इसका प्रथम उल्लेख विधिमार्गप्रपा में मिलता है।

उवसग्गहरं स्तोत्र– इस सूत्र में भगवान पार्श्वनाथ की अनेक विशेषणों से स्तुति करते हुए उनके नाम सुमिरण की महिमा बताई गई है। यह स्तोत्र ईसा पूर्व चौथी शती में चौदह पूर्वधर भद्रबाहु स्वामी द्वारा मरकी रोग निवारण हेतु रचा गया था। यह पाठ मूल रूप से सत्ताईस गाथाओं में गुम्फित है। उत्कृष्ट प्रभाव के कारण शेष गाथाओं को प्रक्षिप्त कर दिया गया है।

जयवीयराय सूत्र– इस सूत्र के द्वारा अरिहंत परमात्मा से भवनिर्वेद, इष्ट फल सिद्धि, लोक विरुद्ध कार्यों का त्याग, सद्गुरुओं की सेवा और परोपकार करने की प्रार्थना की जाती है। षड़ावश्यक बालावबोध के अनुसार इसकी प्रथम दो गाथाएँ गणधर कृत तथा शेष गाथाएँ पूर्वाचार्य रचित हैं।

अरिहंत चेइयाणं सूत्र– इस सूत्र के द्वारा तीन लोक के चैत्यों का वंदन-पूजन-सत्कार आदि करने के लिए बढ़ती हुई श्रद्धा आदि से कायोत्सर्ग करने का संकल्प किया जाता है।

यह सूत्रपाठ आवश्यकचूर्णि के पाँचवें कायोत्सर्ग अध्ययन में मिलता है। इससे यह सूत्र प्राचीन सिद्ध होता है।

संसारदावानल स्तुति– इसमें अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर की अनुपम विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उनका गुणगान किया गया है। यह स्तुति विक्रम की 8वीं शती के आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा रचित है तथा उनके द्वारा रचे गये 1444 ग्रन्थों में से यह अन्तिम कृति है।

पुक्खरवरदी सूत्र– इस सूत्र में ढाई द्वीप में विचरण कर रहे तीर्थंकरों को वन्दन तथा श्रुत का स्वरूप एवं उसके गुणों का वर्णन किया गया है। इसमें मुख्य रूप से श्रुतधर्म रूप आगम की स्तुति होने से इसका दूसरा नाम श्रुतस्तव है। इसका मूल पाठ आवश्यकसूत्र के पाँचवें अध्ययन में मिलता है इसलिए इसे गणधरकृत माना गया है।

सिद्धाणं-बुद्धाणं सूत्र– इस सूत्र के द्वारा समस्त सिद्धों, भगवान महावीर, भगवान नेमिनाथ एवं अष्टापद तीर्थ पर विराजित चौबीस तीर्थंकरों को वन्दन किया जाता है। प्रबोध टीका के अनुसार इस सूत्र की आदिम तीन गाथाएँ गणधरकृत तथा शेष दो पूर्वाचार्य रचित हैं।

सव्वस्सवि-सूत्र– इस सूत्र के द्वारा तीन योगों से जो कुछ अशुभ किया हो उसका मिच्छामि दुक्कडं दिया जाता है। यह सूत्र पूर्वाचार्य कृत है।

सुगुरुवंदन सूत्र– इस सूत्र में गुरु के चरण स्पर्श आदि करने के भाव से बारह प्रकार की आवर्त्त विधि कही गई है। इसी के साथ गुरु सम्बन्धी आशातनाओं की क्षमायाचना की गई है। इस पाठ का उल्लेख आवश्यसूत्र के तीसरे वंदन आवश्यक में है। इससे यह प्राचीन-गणधरकृत सिद्ध होता है।

इच्छामिठामि सूत्र– इस सूत्र के द्वारा अहोरात्रि में लगे हुए पाँच आचार एवं बारह व्रत सम्बन्धी दोषों की आलोचना की जाती है। यह गणधरकृत

आलोचना पाठ आवश्यकसूत्र के चौथे अध्ययन में प्राप्त होता है।

वंदित्तु सूत्र– इस सूत्र के माध्यम से गृहस्थ के 12 व्रतों में लगने वाले 124 अतिचारों का प्रतिक्रमण किया जाता है। यह सूत्र विक्रम की 10वीं शती के परवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

आयरिय उवज्झाय सूत्र– इस सूत्र के द्वारा आचार्य, उपाध्याय, संघ एवं समस्त जीवराशि से क्षमायाचना की जाती है। प्रबोध टीकानुसार इस सूत्र की प्रथम दो गाथा आवश्यकचूर्णि एवं तीनों गाथाएँ आवश्यक हारिभद्रीय टीका में प्राप्त होती है।

नमोऽस्तु वर्धमानाय स्तुति– इसमें चरम तीर्थंकर भगवान महावीर की स्तुति की गई है। यह स्तुति छह आवश्यक रूप प्रतिक्रमण के पूर्ण होने पर हर्ष अभिव्यक्ति के निमित्त बोली जाती है। इस स्तुति पाठ को पूर्वों से उद्धृत किया गया मानते हैं तथा यह 13वीं शती की तिलकाचार्य सामाचारी में प्राप्त होती है।

विशाललोचनदलं स्तुति– इसमें भगवान महावीर की विशेष उपमाओं द्वारा स्तुति की गई है। यह सूत्र पूर्वों से उद्धृत एवं परम्परागत माना जाता है। यह स्तुति प्रभातकालीन छह आवश्यक रूप प्रतिक्रमण के पूर्ण होने पर प्रसन्नता की अभिव्यक्ति के लिए बोली जाती है।

अड्ढाइज्जेसु सूत्र– इस सूत्र के द्वारा ढाई द्वीप में विराजित सर्व साधु-साध्वियों को वंदन किया जाता है। इस सूत्र का उल्लेख आवश्यक सूत्र के चौथे अध्ययन में श्रमणसूत्र के एक विभाग रूप में प्राप्त होता है।

चउक्कसाय सूत्र– इस सूत्र में पार्श्वनाथ भगवान की स्तुति करते हुए उनकी महिमा का वर्णन किया गया है। यह पार्श्वनाथ प्रभु का अति प्राचीन सूत्र माना जाता है।

मन्नह जिणाणं सज्झाय– इस पाठ में श्रावक-श्राविकाओं के करने योग्य छत्तीस कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है। इसके रचयिता लगभग विक्रम की 13वीं शती के आचार्य महेन्द्रसूरि हैं।

लघु शान्ति– इस स्तव में मन्त्र गर्भित पदों के द्वारा शान्तिनाथ भगवान की स्तुति एवं उनके नाम स्मरण मात्र से अभिमन्त्रित जल का छिड़काव करने पर महामारी जैसे उपद्रवों की शान्ति हो जाती है तत्सम्बन्धी वर्णन किया गया है। साथ ही अधिष्ठायिका देवियों के रूप में विजया,पद्मा, जया और अपराजिता का नामोल्लेख है। इस स्तोत्र की रचना वीर निर्वाण की 7वीं शती के मानदेवसूरि

ने शाकम्भरी नगरी में शाकिनी देवी द्वारा किये गये महामारी जैसे भयंकर उपद्रव को मिटाने हेतु की थी।

सकलार्हत् स्तोत्र– इस चैत्यवंदन सूत्र में चौबीस तीर्थंकरों की अलग-अलग स्तुतियाँ की गई है। यह सूत्र आचार्य हेमचन्द्र (12वीं शती) द्वारा रचित है। त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र का प्रारम्भ इसी सूत्र के श्लोकों से किया गया है।

जयतिहुअण सूत्र– इस सूत्र में पार्श्वनाथ भगवान के नाम स्मरण की महिमा एवं उनके अद्वितीय गुणों का वर्णन है। यह सूत्र नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि (11-12वीं शती) द्वारा रचित है। इस स्तोत्र की रचना करते हुए स्तंभन पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई थी, जो आज भी खंभात में विराजमान है। इसके 32 श्लोकों में से दो महाप्रभावी गाथाओं को लुप्त कर दिया गया है।

श्री सेढ़ी सूत्र– इस चैत्यवंदन सूत्र में पार्श्वनाथ प्रभु का गुणगान है। इसके रचयिता भी आचार्य अभयदेवसूरि हैं। इस सूत्र के स्मरण पूर्वक स्तंभन पार्श्वनाथ का किये गए अभिषेक जल से उनकी शारीरिक पीड़ा शान्त हुई थी।

सकलतीर्थ वंदना– इस स्तोत्र के नामानुरूप इसमें शाश्वत-अशाश्वत सभी चैत्यों, तीर्थों, सिद्ध भगवन्तों एवं साधुओं को वंदना की गई है। इसकी रचना प्राचीन गाथाओं के आधार पर मुनि जीवविजयजी (18वीं शती) ने की है। यह स्तोत्र तपागच्छ आदि कुछ परम्पराओं में रात्रिक प्रतिक्रमण के समय बोला जाता है।

सद्धक्त्या सूत्र– इस सूत्र के द्वारा तीन लोकों के समस्त शाश्वत-अशाश्वत जिन प्रतिमाओं एवं तीर्थों को वंदन किया जाता है। खरतरगच्छ परम्परा में प्राभातिक प्रतिक्रमण के दौरान सकलतीर्थ वंदना के रूप में यही सूत्र बोला जाता है।

श्रुतदेवता स्तुति– (कमलदल)– इसमें श्रुतदेवी के अलौकिक स्वरूप की स्तुति की गई है। इसकी रचना मल्लवादी (5वीं शती) ने की है।

(सुवर्ण शालिनी)– इसमें श्रुतदेवी के अध्यात्म स्वरूप को बताते हुए उनसे श्रुतदान की प्रार्थना की गई है। इस स्तुति का उल्लेख प्राचीन सामाचारी में मिलता है।

क्षेत्रदेवता स्तुति– इसमें क्षेत्र अधिष्ठायक देवों से चतुर्विध संघ की रक्षा करने का अनुरोध किया गया है। यह प्राचीन सामाचारी से उद्धृत स्तुति आचार दिनकर में मिलती है।

भवनदेवता स्तुति– इस स्तुति में भवन में रहने वाले चारों जाति के देवों से दूरितों का नाश एवं अक्षत सुख देने की प्रार्थना की गई है।

पाक्षिक अतिचार– इस सूत्र के द्वारा श्रावक के सम्यक्त्वव्रत, बारहव्रत एवं पंचाचार सम्बन्धी अतिचारों की आलोचना की जाती है।

वैयावच्चगराणं सूत्र– इस सूत्र के द्वारा वैयावृत्य करने वाले, उपद्रव शान्त करने वाले, समाधि प्राप्त करवाने वाले सम्यग्दृष्टियों की आराधना निमित्त कायोत्सर्ग करने की भावना व्यक्त की जाती है।

अजितशान्तिस्तव– इस स्तव में अजितनाथ एवं शान्तिनाथ भगवान की स्तुति की गई है।

इसकी रचना 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ भगवान के गणधर नंदिषेण मुनि ने की है।

बृहद्शान्ति– इस स्तव में शांति, तुष्टि और पुष्टि करने वाले तीर्थंकरों, यक्ष-यक्षिणियों, विद्यादेवियों, नवग्रहों आदि का नामोल्लेख किया गया है। इसके रचयिता वादिवेताल शांतिसूरि है। कुछ प्रतियों में इसके बृहच्छान्ति-पर्वस्तव, बृहच्छान्ति-स्तोत्र, वृद्ध-शांतिस्तव नाम भी प्राप्त होते हैं। यह सूत्र जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा, रथयात्रा और स्नात्र पूजा के अन्त में बोला जाता है, ऐसा उल्लेख इसी पाठ में है। यह पाठ मंगल वृद्धि की कामना से पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण की समाप्ति पर भी बोला जाता है।

निष्कर्षत: प्रतिक्रमण एक शाश्वत क्रिया है जिसमें प्रयुक्त कुछ सूत्र अनादि शाश्वत हैं, कुछ गणधर रचित तो कुछ पूर्वाचार्यों की कृति हैं। इन सूत्रों के शब्दों की रचना ही इसकी एक विशिष्टता है। पूर्वाचार्यों ने छोटे-छोटे सूत्रों में अपने विशद ज्ञान को समाहित कर दिया है अत: सूत्रों के अर्थ एवं भावों को ध्यान में रखते हुए इन सूत्रों का पठन और श्रवण करना चाहिए।

प्रात:कालीन प्रतिक्रमण में छह आवश्यक कहाँ से कहाँ तक?

प्रथम सामायिक आवश्यक– सामायिक विधि, प्रारम्भिक चैत्यवंदन, धम्मोमंगल, भरहेसर सज्झाय अथवा तीन नमस्कार मन्त्र रूप सज्झाय,

प्रतिक्रमण की स्थापना, नमुत्थुणं सूत्र, खड़े होकर करेमिभंते सूत्र कहने तक सामायिक आवश्यक है।

दूसरा चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक– चारित्राचार की शुद्धि निमित्त एक लोगस्स का कायोत्सर्ग और प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलना, चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक है।

तीसरा वंदन आवश्यक– तीसरे आवश्यक के निमित्त मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन एवं दो बार द्वादशावर्त्त वन्दन करना, वंदन आवश्यक है।

चौथा प्रतिक्रमण आवश्यक– द्वादशावर्त्त वन्दन के पश्चात रात्रिक आलोचना से लेकर आयरिय उवज्झाय सूत्र तक, प्रतिक्रमण आवश्यक है।

पांचवाँ कायोत्सर्ग आवश्यक– छहमासी तप आदि का चिंतन करना, कायोत्सर्ग आवश्यक है।

छठवाँ प्रत्याख्यान आवश्यक– कायोत्सर्ग करने के पश्चात मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन, दो बार द्वादशावर्त्त वन्दन, सकलतीर्थ वन्दना स्तव और प्रत्याख्यान ग्रहण करना, छठवाँ आवश्यक है।

दैवसिक प्रतिक्रमण से छह आवश्यक कहाँ से कहाँ तक?

प्रथम सामायिक आवश्यक– 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! देवसिय पडिक्कमणे ठाउं' इस सूत्र से प्रतिक्रमण का प्रारम्भ होता है। उसके बाद करेमिभंते सूत्र से अतिचार की आठ गाथा के कायोत्सर्ग तक, पहला सामायिक आवश्यक है।

इस आवश्यक के द्वारा चारित्राचार में लगे दोषों की शुद्धि होती है। सामायिक में पाप प्रवृत्ति के त्याग की प्रतिज्ञा करने से विरतिधर्म और संकल्पपूर्वक समभाव की आराधना होती है। साधक के द्वारा प्रतिक्रमण क्रिया के माध्यम से दुष्कृत का पश्चात्ताप किया जाता है जो समभाव में स्थित होने पर ही संभव है इसलिए पहला सामायिक आवश्यक है।

द्वितीय चतुर्विंशति आवश्यक– अतिचार चिंतन की आठ गाथा या आठ नवकार मन्त्र का कायोत्सर्ग करने के पश्चात लोगस्ससूत्र बोला जाता है वह दूसरा आवश्यक है।

इस आवश्यक के माध्यम से महान उपकारी तीर्थंकर प्रभु के अद्भुत गुणों की स्तवना और प्रार्थना होती है जिससे दर्शनाचार में लगे दोषों की शुद्धि और सम्यग्दर्शन निर्मल होता है।

तृतीय वन्दन आवश्यक– लोगस्ससूत्र के पश्चात मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर दो बार वन्दन किया जाता है यह तीसरा आवश्यक है।

इस आवश्यक के माध्यम से ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप आदि गुण रत्नों के भंडार गुरु को वंदन होता है जिससे स्वयं के ज्ञान आदि गुणों की शुद्धि होती है। आशातनाओं की क्षमा मांगने पूर्वक वंदन करने से अहंकार आदि कषायों का नाश और चित्तवृत्ति शुभ होती है।

चतुर्थ प्रतिक्रमण आवश्यक– गुरु को वंदन करने के पश्चात दैवसिक आलोचना के पाठ से लेकर आयरिय उवज्झाय सूत्र तक चौथा आवश्यक है। पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण चौथे आवश्यक में समाविष्ट होते हैं।

इस आवश्यक के द्वारा आत्मा के मूलगुणों एवं उत्तर गुणों में हुई स्खलनाओं की विधिपूर्वक निंदा, गर्हा और प्रायश्चित्त होता है, जिससे मूल-उत्तर गुणों की शुद्धि होती है। मिथ्यात्व की ओर प्रेरित करने सम्बन्धी पापानुबन्ध का नाश होता है जिससे सम्यग्दर्शन और सर्वविरति के भाव दृढ़ बनते हैं।

पंचम कायोत्सर्ग आवश्यक– आयरिय उवज्झाय सूत्र के पश्चात क्रमशः दो, एक, एक लोगस्स का कायोत्सर्ग किया जाता है। इसी के साथ एक-एक नमस्कार मन्त्र का स्मरण भी करते हैं यह पांचवाँ आवश्यक है।

इस पाँचवें कायोत्सर्ग के द्वारा चारित्राचार की विशेष शुद्धि होती है। कायोत्सर्ग में निश्चित ध्यान और मन, वचन, काया की प्रवृत्ति का प्रतिज्ञा पूर्वक निरोध होता है जिससे कायोत्सर्ग में ज्ञान, दर्शन, चारित्र की और कुछ अंश में अयोग अवस्था की आराधना भी होती है।

षष्ठम प्रत्याख्यान आवश्यक– कायोत्सर्ग आवश्यक के पश्चात प्रत्याख्यान आवश्यक किया जाता है, परन्तु दैवसिक प्रतिक्रमण में उस समय प्रत्याख्यान का समय बीत गया होने से प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में ही प्रत्याख्यान कर लेते हैं। इसलिए इस समय छट्ठे आवश्यक के निमित्त मुखवस्त्रिका का पडिलेहण कर 'वन्दन पूर्वक प्रत्याख्यान किया है' ऐसा गुरु को ज्ञापित किया जाता है।

प्रत्याख्यान गुणों का आधार रूप है इस कारण छठें आवश्यक से तपाचार की शुद्धि होती है। उपवास आदि तपों का संकल्प होने से तप धर्म और विरति धर्म की साधना होती है। छहों आवश्यक से वीर्याचार की शुद्धि होती है।

प्रतिक्रमण सूत्रों पर रचित टीकाएँ

वर्तमान परम्परा में मान्य 45 आगमों में आवश्यकसूत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। छह आवश्यक रूप प्रतिक्रमण के मूल पाठ इसी सूत्र में गुम्फित है, इसीलिए इस आगम का नाम आवश्यक सूत्र है। यदि इस सूत्र की टीकाओं का अनुशीलन किया जाए तो इससे सम्बन्धित कई टीका ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, जिनका नामोल्लेख निम्न प्रकार है-

1. आवश्यकनिर्युक्ति 2. आवश्यकचूर्णि- आचार्य भद्रबाहु एवं आचार्य हरिभद्र ने इस टीका साहित्य में छह आवश्यक सम्बन्धी सूत्रों का विस्तृत प्रतिपादन किया है। इसमें निर्युक्ति गाथा प्राकृत में और चूर्णि संस्कृत में है।

3. ललित विस्तरा- आचार्य हरिभद्रसूरि रचित इस ग्रन्थ में नमुत्थुणं आदि चैत्यवन्दन एवं लोगस्स आदि देववन्दन सम्बन्धी सूत्रों का विवेचन किया गया है। इसमें नमुत्थुणं सूत्र के प्रत्येक शब्द की विशद व्याख्या है। इस पर आचार्य मुनिचन्द्रसूरि ने रहस्य प्रकाशक नामक 'पंजिका' टीका रची है।

4. षडावश्यक बालावबोध वृत्ति- आचार्य तरुणप्रभसूरि (14वीं शती) कृत यह टीका ग्रन्थ अपने नाम के अनुसार बाल जीवों को समझाने के उद्देश्य से छह आवश्यक पर रची गई है। इसमें 949 गाथाओं की व्याख्या गुजराती भाषा में की गई है जिसे हर प्रान्त भाषी सुलभता से समझ सकता है।

5. श्री श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र- तपागच्छीय सोमसुंदरसूरि के प्रशिष्य उपाध्याय रत्नशेखरगणि ने यह ग्रन्थ अर्थ दीपिका नाम की टीका के आधार पर रचा है तथा इसमें केवल वंदित्तुसूत्र पर ही विश्लेषण किया गया है। इसका सर्व ग्रंथाग्र 6644 है।

●

अध्याय-4

प्रतिक्रमण की मौलिक विधियाँ एवं तुलनात्मक समीक्षा

प्रतिक्रमण कहने को एक छोटा सा नाम है या कहें तो श्रावक की एक दैनिक क्रिया है परंतु जो लोग इसकी नित्य आराधना करते हैं वे इसकी सूक्ष्मताओं एवं विविधताओं के विषय में जानते हैं। जैसे कि सुबह का प्रतिक्रमण अलग होता है और शाम का अलग। शाम के प्रतिक्रमण में भी पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक में अंतर है। इसी के साथ विविध जैन परम्पराओं में भी अनेक प्रकार के भेद देखे जाते हैं। प्रस्तुत अध्याय में इन्हीं विधियों के अंतर आदि को स्पष्ट करने हेतु इसके तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक पक्षों पर विचार किया जा रहा है।

रात्रिक प्रतिक्रमण विधि

आवश्यकनिर्युक्ति, पंचवस्तुक, प्रवचनसारोद्धार, योगशास्त्र, तिलकाचार्य सामाचारी, सुबोधासामाचारी, यतिदिनचर्या, विधिमार्गप्रपा, आचारदिनकर, साधुविधिप्रकाश आदि में उल्लिखित एवं वर्तमान परम्परा में प्रचलित रात्रिक प्रतिक्रमण विधि इस प्रकार है–

प्रतिक्रमण से पूर्व की विधि

- मुनि स्थापनाचार्य अथवा गुरु के समक्ष एक खमासमण देकर गमनागमन में लगे दोषों से निवृत्त होने के लिए ईर्यापथ प्रतिक्रमण करें। गृहस्थ विधिवत प्रातःकालीन सामायिक ग्रहण करें।

- उसके बाद एक खमासमण देकर **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! कुसुमिण दुसुमिण ओहडावणियं राइय पायच्छित्त विसोहणत्थं काउस्सग्ग करूं? इच्छं' कुसुमिण दुसुमिण राइय पायच्छित्त विसोहणत्थं करेमि काउस्सग्गं'** पूर्वक **अन्नत्थसूत्र** कहकर चार लोगस्स (सागरवरगंभीरा तक)

अथवा सोलह नवकार का कायोत्सर्ग करें। फिर 'नमो अरिहंताणं' पूर्वक कायोत्सर्ग पारकर प्रकट में लोगस्स सूत्र कहें।

• तदनन्तर एक खमासमण देकर **इच्छाकारेण संदिसह भगवन् चैत्यवन्दन करूँ?** गुरु– **करेह।** शिष्य– **इच्छं** कहकर एवं बायां घुटना ऊँचा करके **जयउ सामिय·, जं किंचि·, नमुत्थुणं·, जावंति चेइआइं., जावंत केविसाहू., नमोऽर्हत्., उवसग्गहरं.** और **जयवीयराय.** तक सूत्र पाठ बोलें

• उसके बाद एक खमासमण देकर शिष्य कहे– **'इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय संदिसाउं?** गुरु– **संदिसावेह।** शिष्य– **इच्छं** कहे। पुनः दूसरा खमासमण देकर कहे– **'इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय करूं?** गुरु– **करेह।** शिष्य– **इच्छं** कहकर यदि गुरु हो तो एक नवकार मन्त्र बोलकर 'धम्मोमंगल मुक्किट्ठं' की पाँच गाथा और फिर से एक नवकार मन्त्र कहें।[1]

तदनन्तर प्रतिक्रमण करने का अभी समय न हुआ हो तो ध्यान, जाप अथवा स्वाध्याय करें।

प्रथम सामायिक एवं द्वितीय चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक– प्रतिक्रमण का समय होने पर चार खमासमणसूत्र के द्वारा प्रतिक्रमण की स्थापना करें। पहला खमासमण देकर कहें– आचार्य मिश्रं, दूसरा खमासमण देकर कहें– उपाध्याय मिश्रं, तीसरा खमासमण देकर कहें– वर्तमान गुरु मिश्रं, चौथा खमासमण देकर कहें– सर्व साधु मिश्रं।[2] उसके बाद घुटने के सहारे मस्तक झुकाकर, दाहिनी हथेली को मुट्ठी रूप में रजोहरण या चरवले पर रखें तथा बायें हाथ में मुहपत्ति ग्रहण कर उसे मुख के आगे रखते हुए **'सव्वस्स वि राइय सूत्र'** बोलें। परन्तु इस सूत्र के आगे 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! इच्छं' इतना पद नहीं बोलना चाहिए।

• उसके बाद बायां घुटना ऊँचा करके 'नमुत्थुणंसूत्र' कहे। • फिर खड़े होकर चारित्राचार की शुद्धि के लिए करेमि भंते, इच्छामिठामि, तस्स उत्तरी, अन्नत्थसूत्र कहकर एक लोगस्स अथवा चार नवकार का कायोत्सर्ग करें। • फिर कायोत्सर्ग पूर्णकर दर्शनाचार की शुद्धि के लिए लोगस्स, सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं, अन्नत्थसूत्र बोलकर एक लोगस्स अथवा चार नवकार का कायोत्सर्ग करें। • फिर कायोत्सर्ग पूर्णकर ज्ञानाचार की शुद्धि के लिए पुक्खरवरदी,

वंदणवत्तियाए, अन्नत्थसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग में रात्रिकृत अतिचारों का अनुक्रम से चिंतन करें।

यहाँ साधु-साध्वी साधुविधिप्रकाश (पृ. 2) के अनुसार निम्न गाथा का एक या तीन बार अर्थ सहित चिंतन करें।

सयणा सणऽन्न पाणे, चेइ जइ सिज्ज काय उच्चारे।
समिइ भावणा गुत्ति, वितहायऽरणे य अइयारो।।

वर्तमान परम्परा में आठ नवकार गिनने की प्रवृत्ति है। कायोत्सर्ग पूर्णकर सिद्धाणं बुद्धाणं सूत्र पढ़ें।

तृतीय वन्दन आवश्यक– तदनन्तर शरीर प्रमार्जना करते हुए उत्कटासन में बैठें और तीसरे आवश्यक के परिलापन हेतु 50 बोल पूर्वक मुखवस्त्रिका एवं शरीर की प्रतिलेखना करें। फिर स्थापनाचार्य के आगे दो बार द्वादशावर्त्त वन्दन करें।

चतुर्थ प्रतिक्रमण आवश्यक– उसके बाद खड़े होकर **'इच्छा. संदि. भगवन् राइयं आलोउं?'** गुरु कहे– **'आलोएह'**। शिष्य– **इच्छं आलोएमि जो मे राइयो सूत्र** पढ़कर पूर्व कायोत्सर्ग में धारण किए गए रात्रिक अतिचारों की गुरु के समक्ष आलोचना करें। • उसके बाद साधुविधिप्रकाश (पृ. 5) एवं परवर्ती परम्परानुसार साधु-साध्वी **संथारा उवट्टणकी पाठ** तथा गृहस्थ **सात लाख पृथ्वीकाय, अठारह पापस्थानक, ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि आलोचना पाठ** बोलें। • फिर 'सव्वस्सवि राइय दुचिंतिय दुब्भासिय दुचिट्ठिय.' इतना कहने के बाद 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्!' यह वाक्य बोलकर आलोचित अतिचारों का प्रायश्चित्त मांगे। तब गुरु 'पडिक्कमेह' शब्द कहते हुए प्रायश्चित्त देते हैं। उसके बाद शिष्य **'इच्छं तस्स मिच्छामि दुक्कडं'** कहें।

• तदनन्तर संडाशक स्थानों की प्रमार्जना कर दोनों पंजों के बल बैठते हुए दाहिने घुटने को ऊँचा करें। फिर रजोहरण या चरवला और मुखवस्त्रिका को दोनों हाथों से मुख के आगे रखकर शिष्य कहें– **भगवन्! सूत्र कड्डुं?** गुरु कहे– **कड्ढेह।** तब शिष्य– **इच्छं** कहे।

• साधु-साध्वी द्वारा **'श्रमणसूत्र संदिसाहूं' 'श्रमणसूत्र भणूं'** तथा गृहस्थ के द्वारा **'श्रावक सूत्र संदिसाहूं' 'श्रावक सूत्र भणूं'**– ऐसे दो आदेश लेने की परिपाटी भी है।

• उसके बाद साधु-साध्वी वर्तमान परम्परानुसार तीन नवकार, तीन करेमि भंते; चत्तारिमंगल; इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे राइयो; इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए इत्यादि सूत्र बोलकर पगामसिज्झाय का पाठ कहें।

• यहाँ गृहस्थ तीन नवकार, तीन करेमि भंते एवं इच्छामि ठामि. का पाठ पढ़कर वंदित्तुसूत्र बोलें। वंदित्तुसूत्र की 43 वी गाथा में 'अब्भुट्ठिओमि' पद आने पर शेष वंदित्तु सूत्र को खड़े होकर पूर्ण करें।

❁ साधुविधिप्रकाश (पृ. 2) में नवकार मन्त्र और करेमि भंते के लिए एक बार अथवा तीन बार ऐसे दोनों संख्याओं का उल्लेख है। वर्तमान की खरतर परम्परा में उक्त दोनों पाठ सूत्र तीन बार एवं तपागच्छ आदि सम्प्रदायों में एक बार बोलते हैं।

• उसके बाद स्वकृत अपराधों की क्षमायाचना करने के लिए स्थापनाचार्य को दो बार द्वादशआवर्त्त से वन्दन करें। फिर गुरु या ज्येष्ठ साधु अब्भुट्ठिओमि सूत्र बोलकर स्थापनाचार्य से क्षमायाचना करें। उसके बाद शिष्य मस्तक झुकाकर अब्भुट्ठिओमि सूत्र द्वारा उपस्थित गुरु से क्षमायाचना करें।

❁ यहाँ इतना विशेष है कि प्रतिक्रमण में पाँच से अधिक साधु हो तो गुरु सहित तीन साधुओं से क्षमायाचना करें तथा सामान्य साधु वर्ग हो तो भी स्थापनाचार्य से क्षमायाचना करने के बाद तीन साधुओं से क्षमापना करें। वर्तमान में स्थापनाचार्य सहित तीन से मिच्छामि दुक्कडं देने की प्रवृत्ति देखी जाती है। उसके पश्चात दो बार द्वादशावर्त्त वन्दन करें।

पंचम कायोत्सर्ग आवश्यक– तदनन्तर जुड़े हुए दोनों हाथों को मस्तक से लगाकर 'आयरिय उवज्झाय' की तीन गाथाएँ बोलें।

❁ आचार दिनकर (पृ. 326) एवं साधुविधिप्रकाश (पृ. 3) के अनुसार कुछ साधु उक्त तीन गाथाएँ बोलते हैं और कुछ परम्परा के साधु नहीं बोलते हैं। इसका रहस्य ज्ञानीगम्य है। सामाचारी शतक में तो मुनियों के लिए 'आयरिय उवज्झाय' पाठ बोलने का ही निषेध है किन्तु आजकल प्रायः सभी साधु-साध्वी यह सूत्र बोलते ही हैं।

• उसके बाद प्रतिक्रमण कर्त्ता करेमि भंते, इच्छामि ठामि, तस्सउत्तरी, अन्नत्थसूत्र बोलकर तप चिंतन का कायोत्सर्ग करें। उस कायोत्सर्ग में भगवान महावीर कृत छह मासिक तप का चिन्तन इस प्रकार करें–

हे चेतन! संयम योग की हानि न हो वैसा तप करना चाहता हूँ। स्वयं अपने मन से ही प्रश्न करें कि छ: मास में एक दिन कम छमासी तप करोगे? शक्ति नहीं है... दो दिन कम छमासी तप करोगे? शक्ति नहीं है... तीन दिन कम का तप करोगे? शक्ति नहीं है... इसी तरह चार दिन कम...पाँच दिन कम यावत 29 दिन कम छमासी तप करोगे? शक्ति नहीं है... पाँच मासी तप करोगे? शक्ति नहीं है... 1,2,3,4,5 दिन कम पाँच मासी तप करोगे? शक्ति नहीं है... 6,7, 8, 9,10 दिन कम पाँच मासी तप करोगे? शक्ति नहीं है... इसी तरह पाँच पाँच दिन एक साथ कम करते करते 26,27,28,29 दिवस कम पाँच मासी तप करोगे? शक्ति नहीं है.. फिर चार मासी तप करोगे? शक्ति नहीं है.. फिर से पाँच-पाँच दिन कम करते हुए तीन मासी तप, दो मासी तप यावत मासखमण करोगे? शक्ति नहीं है... 1 उपवास न्यून मासखमण करोगे? शक्ति नहीं है... 2 उपवास न्यून मासखमण करोगे? शक्ति नहीं है... इसी तरह 13 उपवास न्यून मासखमण करोगे? शक्ति नहीं है... फिर 34 अब्भत्तट्ठ करोगे? शक्ति नहीं है... फिर दो-दो अब्भत्तट्ठ कम करते जाना अर्थात 32 अब्भत्तट्ठ करोगे? शक्ति नहीं है... 30 अब्भत्तट्ठ करोगे?... इस प्रकार छट्ठ अब्भत्तट्ठ करोगे?... चउत्थ अब्भत्तट्ठ करोगे?... फिर क्रमश: आयंबिल एकासणा, बियासणा, पुरिमड्ढ, साढ पोरिसी, पोरिसी, नवकारशी करोगे?

इनमें से जो तप पूर्व में कर चुके हो वहाँ से क्रमश: शक्ति है ऐसा कहना। यदि आज के दिन वह तप नहीं करना हो तो परिणाम नहीं है ऐसा भी कहते रहना.. अर्थात शक्ति है पर परिणाम नहीं।

• ऐसा कहते हुए जिस तप को करने का सामर्थ्य हो उसे हृदय में अवधारित कर कायोत्सर्ग पूर्ण करें और प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें। वर्तमान में तप चिंतन के स्थान पर छह लोगस्स या चौबीस नवकार गिनने की परिपाटी भी है।

षष्ठम प्रत्याख्यान आवश्यक– उसके बाद उत्कटासन में बैठकर 50 बोल पूर्वक मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें और स्थापनाचार्य को द्वादशावर्त्त वन्दन करें। • उसके बाद खरतरगच्छ की वर्तमान परम्परा में सकल तीर्थ वंदना के रूप में 'सद्भक्त्या' स्तोत्र तथा तपागच्छ आदि आम्नायों में 'सकलतीर्थ वंदू कर जोड़' स्तवन बोला जाता है।

• उसके बाद (साधुविधिप्रकाश के अनुसार 'जाइं जिण बिंबाइं ताइं सव्वाइं वंदामि' इतना कह) 'इच्छकार भगवन्! पसाय करी पच्चक्खाण करावो जी' ऐसा बोलकर मनोनिर्धारित प्रत्याख्यान गुरु के मुख से या स्थापनाचार्य के समक्ष स्वयं करें।

• तदनन्तर शिष्य 'इच्छामो अणुसट्ठिं' कहकर चैत्यवन्दन मुद्रा में बैठ जायें। फिर गुरु के द्वारा 'नमोऽर्हत्' पूर्वक 'परसमयतिमिर तरणिम्' पाठ की एक स्तुति कह दी जाए उसके पश्चात सभी शिष्य 'नमो खमासमणाणं' इस वाक्य पद पूर्वक 'परसमयतिमिरतरणिम्' पाठ की तीनों गाथाएँ बोलें। वर्तमान में यह स्तुति गुरु और शिष्य दोनों के द्वारा एक साथ भी बोली जाती है। यहाँ स्त्रियों के लिए 'संसारदावानल' स्तुति बोलने की परम्परा है।

• तत्पश्चात बायाँ घुटना ऊँचा कर नमुत्थुणंसूत्र कहे। फिर खड़े होकर चार स्तुतियों से देववन्दन करें। पुनः नमुत्थुणंसूत्र बोलकर तीन खमासमण के द्वारा क्रमशः आचार्य, उपाध्याय एवं सर्व साधुओं को वन्दन करें।

यहाँ रात्रिक प्रतिक्रमण विधि समाप्त हो जाती है।

परवर्ती काल में सम्मिलित की गई विधि

पूर्वोक्त विधि करने के पश्चात यदि स्थिरता हो तो मंगल के लिए उत्तर दिशा या ईशान कोण की तरफ मुख करके तीन खमासमण देकर कहे– 'इच्छा. संदि. भगवन्! सीमंधर स्वामी आराधनार्थं चैत्यवन्दन करूँ? इच्छं' कहकर सीमंधर स्वामी का चैत्यवन्दन करें। तदनन्तर जं किंचि., नमुत्थुणं., जावंति चेइआइं., जावंत केविसाहू., नमोऽर्हत्., स्तवन, जयवीयराय., अरिहंत चेइयाणं., अन्नत्थसूत्र कहकर एक नवकार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। पूर्णकर 'नमोऽर्हत्' पूर्वक सीमंधर स्वामी की स्तुति कहें। इसी तरह तीन खमासमण पूर्वक सिद्धाचलजी का चैत्यवन्दन करें। इसमें सिद्धाचल का स्तवन और स्तुति कहें।

• उक्त दोनों चैत्यवन्दन प्रातःकालीन प्रतिक्रमण का मुख्य भाग नहीं है किन्तु प्रचलित परम्परा में इन्हें आवश्यक मान लिया गया है। जीत व्यवहार के अनुसार दोनों चैत्यवन्दन करना चाहिए। कुछ आराधक ज्ञानपद, सम्मेत शिखर तीर्थ, सिद्धचक्र आदि की आराधना निमित्त भी चैत्यवंदन करते हैं।

तदनन्तर साधु या पौषधधारी हो तो वस्त्र, वसति आदि की प्रतिलेखना करें।

तुलना– जब हम वर्तमान प्रचलित प्रतिक्रमण विधि का पूर्व-परवर्ती ग्रन्थों से तुलना करते हैं तो उनमें समानता और भिन्नता क्या है? कौनसी विधि कब जुड़ी? किन ग्रन्थों में प्रतिक्रमण का क्या स्वरूप है? तथा इसमें कालक्रम से क्या-क्या परिवर्तन आए? इत्यादि जानकारी भी स्पष्ट हो जाती है।

सर्वप्रथम षडावश्यक से सम्बन्धित आवश्यक सूत्र में छह आवश्यक रूप प्रतिक्रमण सम्बन्धी सूत्रों के मूल पाठ ही प्राप्त होते हैं। इस आगम में प्रतिक्रमण विधि की चर्चा नहीं है।

तदनन्तर उत्तराध्ययनसूत्र में रात्रिक प्रतिक्रमण विधि का स्वरूप बतलाते हुए यह कहा गया है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप सम्बन्धी रात्रिक अतिचार का अनुक्रम से चिन्तन करें। कायोत्सर्ग को पूर्णकर गुरु को वन्दना करें। फिर अनुक्रम से रात्रिक अतिचार की आलोचना करें। प्रतिक्रमण से निःशल्य होकर गुरु को वन्दना करें, फिर सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करें आदि।[3] इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि उत्तराध्ययनसूत्र में रात्रिक प्रतिक्रमण का मूल स्वरूप मात्र दिखलाया गया है तत्सम्बन्धी विधि की चर्चा नहीं है।

इसके पश्चात आचार्य हरिभद्रसूरि रचित पंचवस्तुक में यह विधि किंचित विस्तार से प्राप्त होती है। किस आचार की शुद्धि निमित्त कितने उच्छ्वासों का कायोत्सर्ग करना चाहिए? किस कायोत्सर्ग में क्या चिन्तन करना चाहिए? इस विषयक चर्चा आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक हरिभद्रीय टीका के पश्चात इसी ग्रन्थ में प्राप्त होती है।

वर्तमान में प्रतिक्रमणविधि का जो स्वरूप प्रचलित है वह लगभग पंचवस्तुक में प्राप्त है। इसमें प्रतिक्रमण स्थापना, सकलतीर्थ वंदना आदि कुछ क्रियाओं का निर्देश नहीं है।[4]

तत्पश्चात हेमचन्द्राचार्यकृत योगशास्त्र में प्रतिक्रमण स्थापना (सव्वस्सविसूत्र) से लेकर देववन्दन पर्यन्त की विधि पूर्ववत ही कही गई है। इसमें प्रारम्भिक कुस्वप्न-दुःस्वप्न का कायोत्सर्ग, जयउसामिय का चैत्यवंदन आदि एवं परवर्ती सीमंधर स्वामी का चैत्यवंदन आदि क्रियाओं का उल्लेख नहीं है।[5]

इसके पश्चात आचार्य नेमिचन्द्रकृत प्रवचनसारोद्धार में भी प्रतिक्रमण स्थापना से देववन्दन तक की विधि पूर्ववत ही है केवल पूर्ववर्ती एवं परवर्ती चैत्यवंदन तथा आचार्य आदि चार को वन्दन करने का निर्देश नहीं है।[6]

इसी क्रम में श्रीचन्द्राचार्यकृत सुबोधा सामाचारी का उल्लेख किया जा सकता है। इसमें रात्रिक प्रतिक्रमण विधि तीन गाथाओं में निबद्ध है जिसे वर्तमान प्रचलित-विधि के लगभग समरूप कहा जा सकता है। जैसे कि इसमें ईर्यापथ प्रतिक्रमण, कुसुमिणदुसुमिण का कायोत्सर्ग, चैत्यवन्दन, गुरुवन्दन, सज्झाय, सव्वस्सवि आदि से.... देववंदन तक का निरूपण है।[7]

इसमें अन्तर्गत क्रियाओं एवं सूत्र विशेषों का निर्देश न होते हुए भी अद्य प्रवर्तित प्रतिक्रमण-विधि का सामान्य स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इससे परवर्ती तिलकाचार्य सामाचारी में यह विधि सुबोधा सामाचारी के अनुरूप ही कही गई है, उपरान्त कुछ विशेषताएँ निम्न हैं–

1. प्रतिक्रमण की स्थापना करते समय यदि श्रावकवर्ग भी साथ हो तो 'श्रावकों को वन्दूं' ऐसा कहना चाहिए। यह उल्लेख सर्वप्रथम इसी सामाचारी ग्रन्थ में देखा जाता है। कुछ परम्पराओं में आज भी यह वाक्य बोलते हैं।
2. इसमें कुसुमिण दुसुमिण का कायोत्सर्ग चैत्यवन्दन के पश्चात करने का निर्देश है।[8] वर्तमान की कुछ परम्पराओं में यह कायोत्सर्ग पहले भी किया जाता है। अपनी-अपनी सामाचारी के अनुसार दोनों विधियाँ युक्त है।

तदनन्तर जिनप्रभसूरिकृत विधिमार्गप्रपा में आचार्य आदि चार को वन्दन करने से लेकर पुन: अन्तिम में चार को वन्दन करने तक की विधि कही गई है जो यथावत रूप से वर्तमान परम्परा में भी प्रचलित है।

प्रतिक्रमण की स्थापना करने से पूर्व आचार्यादि चार को वन्दन करने का उल्लेख सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में प्राप्त होता है। इससे पूर्ववर्ती योगशास्त्र आदि में प्रतिक्रमण स्थापना का ही निर्देश है।[9]

इसके बाद आचार्य वर्धमानसूरिकृत आचार दिनकर में रात्रिक प्रतिक्रमण की विधि, विधिमार्गप्रपा के समान ही कही गई है। कुछ विशेषताएँ इस प्रकार है–

1. प्रतिक्रमण से पूर्व कु:स्वप्न-दु:स्वप्न सम्बन्धी दोषों की निवृत्ति के लिए कायोत्सर्ग करने का उल्लेख सामाचारी ग्रन्थों के बाद इसी में देखा जाता है।

2. आयरिय उवज्झाय का पाठ गृहस्थ के लिए है। साधु के सम्बन्ध में वैकल्पिक कथन करते हुए कहा गया है कि गच्छ परम्परा के अनुसार कहीं-कहीं साधु भी ये तीन गाथाएँ बोलते हैं। इस प्रकार मुनियों के लिए यह पाठ आवश्यक नहीं माना है।
3. तप चिंतन सम्बन्धी कायोत्सर्ग में छह मासिक एवं वर्धमान तप दोनों के सम्बन्ध में एक बार चिन्तन करने का उल्लेख है।[10]

शेष विधि प्रचलित विधि के सदृश ही है। तत्पश्चात क्षमाकल्याणोपाध्याय विरचित साधुविधिप्रकाश में कही गई रात्रिक प्रतिक्रमण की विधि वर्तमान प्रचलित विधि के समान ही है।[11]

वर्तमान में रात्रिक प्रतिक्रमण करते समय प्रारम्भ में 'जयउ सामिय' का चैत्यवन्दन करते हैं, उसके बाद सज्झाय बोलते हैं, प्रत्याख्यान से पूर्व सकल तीर्थों को वंदन करते हैं, अन्त में सीमंधरस्वामी एवं सिद्धाचलजी का चैत्यवंदन करते हैं। इन क्रियाओं एवं पाठों का उल्लेख सर्वप्रथम इसी प्रति में किया गया है। तदनुसार कहा जा सकता है कि प्रचलित प्रतिक्रमण विधि पूर्ववर्ती ग्रन्थों का अनुसरण करते हुए साधुविधिप्रकाश के आधार पर की जाती है।

गृहस्थ एवं साधु-साध्वी की रात्रिक प्रतिक्रमण विधि प्रायः समान है, केवल सूत्र पाठों में कुछ भिन्नताएँ इस प्रकार है–

1. दोनों में करेमिभंते सूत्र एवं इच्छामिठामि सूत्र के पाठ भिन्न हैं।
2. गृहस्थ चतुर्थ आवश्यक में वंदित्तुसूत्र बोलता है और साधु-साध्वी 'पगामसिज्झाय सूत्र' बोलते हैं।
3. छट्ठे आवश्यक के अनन्तर श्रावक वर्ग 'परसमयतिमिर' और श्राविकाएँ 'संसारदावानल' की स्तुति बोलती हैं तथा साधु-साध्वी 'परसमय तिमिर' की स्तुति बोलते हैं।

शेष पाठ एवं विधि में लगभग समानता है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक की अन्य परम्पराओं में रात्रिक प्रतिक्रमण

तपागच्छ– इस परम्परा में रात्रिक प्रतिक्रमण की विधि पूर्व कथित खरतर गच्छ परम्परा के अनुसार ही है। कुछ सूत्र पाठों में इस प्रकार भेद हैं–

1. प्रारम्भ में 'जयउसामिय' के स्थान पर 'जगचिंतामणि' का पाठ बोलते हैं।
2. खरतर परम्परा में चैत्यवन्दन के बाद गृहस्थ सज्झाय के रूप में तीन

नमस्कारमन्त्र और साधु 'धम्मोमंगल' की 5 गाथा बोलते हैं जबकि तपागच्छ परम्परा में गृहस्थ 'मन्नह जिणाणं' सज्झाय और साधु 'धम्मो मंगल' की ही 5 गाथा कहते हैं।

3. खरतर परम्परा के अनुसार प्रतिक्रमण की स्थापना करते समय निम्न चार को वन्दन किया जाता है– 1. आचार्य मिश्रं 2. उपाध्याय मिश्रं 3. वर्तमान मिश्रं 4. सर्वसाधु मिश्रं। जबकि तपागच्छ परम्परा में निम्नोक्त चार को वन्दन करते हैं–

   1. भगवानहम् 2. आचार्यहम् 3. उपाध्यायहम् और 4. सर्वसाधुहम्। प्रतिक्रमण विधियों में यह अन्तर जानना चाहिए।

4. खरतर आम्नाय में चारित्राचार की शुद्धि निमित्त किये जाने वाले कायोत्सर्ग में अतिचारों का चिन्तन करते हैं अथवा आठ नमस्कार मन्त्र का ध्यान करते हैं वहाँ तपागच्छ आम्नाय में पंचाचार विषयक निम्नोक्त आठ गाथाओं का स्मरण किया जाता है–

नाणम्मि दंसणम्मि अ, चरणम्मि तवम्मि तह य वीरियम्मि।
आयरणं आयारो, इअ एसो पंचहा भणिओ।।1।।
काले विणए बहुमाणे, उवहाणे तह अनिण्हवणे।
वंजण-अत्थ-तदुभए, अट्ठविहो नाण मायारो।।2।।
निस्संकिय निक्कंखिअ, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ।।3।।
पणिहाण जोग-जुत्तो, पंचहिं समिईहिं तीहिं गुत्तीहिं
एस चरित्तायारो, अट्ठविहो होइ नायव्वो।।4।।
बारसविहम्मि वि तवे, सब्भिंतर-बाहिरे कुसल-दिट्ठे।
अगिलाइ अणाजीवी, नायव्वो सो तवायारो।।5।।
अणसणमूणोअरिआ, वित्ती संखेवणं रस च्चाओ।
काय-किलेसो संलीणया य, बज्झो तवो होइ।।6।।
पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ
झाणं उस्सग्गो विअ, अब्भिंतरओ तवो होइ।।7।।
अणिगूहिअ बल वीरिओ,परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो।
जुंजइ अ जहाथामं, नायव्वो वीरिआयारो।।8।।

उपर्युक्त आठ गाथाएँ वस्तुतः पंचाचार से सम्बन्धित हैं, किन्तु अतिचारों का चिंतन करने में परम हेतुभूत होने से अतिचार की गाथाएँ मानी जाती है।

6. खरतर परम्परा में आलोचना सूत्रों के अन्तर्गत सातलाख, अठारह-पापस्थान एवं ज्ञान दर्शन चारित्र– ये तीन पाठ कहे जाते हैं वहाँ तपागच्छ सम्प्रदाय में सात लाख और अठारह पापस्थान– ये दो पाठ ही बोले जाते हैं।
7. खरतर आम्नाय में वंदित्तुसूत्र से पूर्व तीन-तीन बार नमस्कार मन्त्र एवं करेमि भंते सूत्र कहा जाता है वहाँ तपागच्छ परम्परा में नमस्कार मन्त्र एवं करेमि भंते सूत्र एक-एक बार पढ़ा जाता है। यह नियम पाक्षिक आदि सभी प्रतिक्रमण विधियों में जानना चाहिए।
8. खरतर परम्परा के अनुसार कायोत्सर्ग आवश्यक में भगवान महावीर के छह मासी तप का चिंतन अथवा 24 नमस्कार मन्त्र का चिंतन किया जाता है वहाँ तपागच्छ परम्परा में तपचिंतन अथवा सोलह नमस्कार मन्त्र का स्मरण करते हैं।
9. खरतर परम्परा में छठें आवश्यक के अनन्तर 'सद्भक्त्या देवलोके' ऐसा संस्कृत स्तोत्र बोला जाता है वहाँ तपागच्छ परम्परा में सकल तीर्थों को वन्दना करने निमित्त 'सकलतीर्थ वन्दूं कर जोड़' ऐसा हिन्दी पाठ कहा जाता है।
10. खरतर आम्नाय में छह आवश्यक पूर्ण होने के पश्चात मंगल स्तुति के रूप में श्रावक 'परसमयतिमिर०' एवं श्राविकाएँ 'संसारदावानल०' बोलती हैं वहाँ तपागच्छ परम्परा में श्रावक 'विशाललोचन०' और श्राविकाएँ 'संसारदावानल०' बोलती हैं।
11. खरतर परम्परा में छह आवश्यक रूप प्रतिक्रमण क्रिया पूर्ण होने के बाद अड्ढाइज्जेसु पाठ बोलने की सामाचारी नहीं है, जबकि तपागच्छ सामाचारी के अनुसार यह पाठ बोला जाता है।

शेष विधि लगभग समान है।[12]

अचलगच्छ– इस परम्परा में रात्रिक प्रतिक्रमण की दूसरे आवश्यक तक की विधि इसी आम्नाय में प्रचलित दैवसिक प्रतिक्रमण के समान जाननी चाहिए। • उसके बाद एक खमासमण पूर्वक खड़े होकर कहते हैं कि

'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! अभिभव अशेष दुक्खखय कम्मक्खय निमित्तं करेमि काउस्सग्गं' फिर अन्नत्थसूत्र बोलकर पाँच लोगस्स का कायोत्सर्ग करते हैं। • तत्पश्चात पुनः एक खमासमण पूर्वक खड़े होकर कहते हैं कि 'इच्छाकारेण संदि. भगवन्! कुसुमिण दुसुमिण उड्डामणी निमित्तं राई पायच्छित्त विसोहणत्थं करेमि काउस्सग्गं' फिर अन्नत्थसूत्र कहकर 'सागरवरगंभीरा' तक चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करते हैं।

• चौथे आवश्यक के बाद आंचल प्रतिलेखना से लेकर सज्झाय तक की विधि इनमें प्रचलित दैवसिक प्रतिक्रमण के समान की जाती है। विशेष इतना है कि स्तवन के स्थान पर 'केवलनाणी' का स्तवन तथा सज्झाय के स्थान पर 'भरहेसर बाहुबली' की सज्झाय बोलते हैं।[13]

पायच्छंदगच्छ– इस आम्नाय में रात्रिक प्रतिक्रमण लगभग तपागच्छ परम्परा के अनुसार ही किया जाता है। कुछ भिन्नताएँ निम्नोक्त हैं–

1. इस परम्परा में वंदित्तु सूत्र के पूर्व नवकार मन्त्र एवं करेमिभंते सूत्र के पश्चात चत्तारि मंगलं, इच्छामि ठामि सूत्र और इरियावहि सूत्र भी बोले जाते हैं।
2. वंदित्तु सूत्र की 43वीं गाथा ही बोलते हैं।
3. पाँचवें आवश्यक में प्रवेश करने से पूर्व सुगुरु वंदन नहीं करते हैं।
4. तीर्थ वंदना करने के पश्चात विशाल लोचन का चैत्यवंदन, वर्तमान जिन स्तुति की 10 गाथा, जंकिंचि, नमुत्थुणंसूत्र बोलकर सम्मेतशिखर तीर्थ का स्तवन और अन्त में आचार्य आदि चार को वंदन पूर्वक प्रतिक्रण करते हैं।[14]

त्रिस्तुतिकगच्छ– इस परम्परा में रात्रिक प्रतिक्रमण की विधि प्रायः तपागच्छ के समान ही की जाती है। इन दोनों में पाठ भेद या विधि भेद भी नहींवत है।[15]

दैवसिक प्रतिक्रमण विधि

उत्तराध्ययन, आवश्यकनिर्युक्ति, पंचवस्तुक, योगशास्त्र, प्रवचनसारोद्धार सुबोधासामाचारी, यतिदिनचर्या, विधिमार्गप्रपा, आचारदिनकर, साधुविधिप्रकाश आदि में प्रतिपादित एवं वर्तमान परम्परा में दैवसिक प्रतिक्रमण-विधि का प्रवर्तित स्वरूप यह है–

प्रतिक्रमण से पूर्व की क्रिया

सन्ध्याकालीन प्रतिक्रमण प्रारम्भ करने से पूर्व साधु-साध्वी चौबीस मांडला (स्थंडिल प्रतिलेखन) विधि एवं गोचरचर्या प्रतिक्रमण विधि सम्पन्न कर लें। गृहस्थ सन्ध्याकालीन सामायिक ग्रहण करें।

दिवस चरिम प्रत्याख्यान– यदि उपवास हों और पानी पिया हो, तो एक खमासमणसूत्र से वन्दन करके कहे– 'इच्छा० संदिसह भगवन्! मुहपत्ति पडिलेहुं? इच्छं' कह मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। यदि एकासन आदि हो या खुले मुँह भोजन किया हो, तो मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करने के पश्चात दो बार द्वादशावर्त्त वंदन करें। फिर खड़े होकर 'इच्छकारी भगवन्! पसाय करी पच्चक्खाण कराओ जी' ऐसा कहें। यदि इस समय गुरु हो तो गुरुमुख से अथवा अनुभवी ज्येष्ठ व्यक्ति के मुख से अथवा स्वयं ही दिवस चरिम का पाठ बोलकर प्रत्याख्यान ग्रहण करें।

उसके बाद उपस्थित मुनिगण बड़े-छोटे के क्रम से दो खमासमण पूर्वक सुखपृच्छा करते हुए प्रतिक्रमण मण्डली में आकर ईर्यापथ प्रतिक्रमण करें।

गुरु महाराज का योग हो तो शिष्यों एवं गृहस्थों को उनके साथ ही प्रतिक्रमण करना चाहिए। आचार्य हरिभद्रसूरि ने सामूहिक प्रतिक्रमण पर बल देते हुए कहा है कि गुरु उपदेश आदि कार्यों से निवृत्त हो तो सभी शिष्य गुरु के साथ ही आवश्यक करें। यदि गुरु निवृत्त न हो तो बाद में भी प्रतिक्रमण मंडली के स्थान पर आकर ही प्रतिक्रमण करें।[16] यहाँ निर्जरा की इच्छा रखने वाले अशक्त, बाल, वृद्ध या रोगी साधु भी मंडली में आकर ही प्रतिक्रमण करें। हाँ! शक्ति न हो तो बैठकर भी कर सकते हैं।[17]

देववन्दन– इसी सामाचारी के अनुसार मुनि या गृहस्थ गुरु महाराज के साथ अथवा एकाकी एक खमासमण पूर्वक बायां घुटना ऊँचा करके कहें– **'इच्छा. संदि. भगवन्! चैत्यवन्दन करूँ?'** गुरु– **करेह**, शिष्य- **इच्छं** कहे। उसके बाद 'जयतिहुअण स्तोत्र' की पाँच गाथा योग मुद्रा में और 'जयमहायस' पाठ मुक्ताशुक्ति मुद्रा में बोलें। • पुनः योगमुद्रा में नमुत्थुणंसूत्र कहने के पश्चात खड़े होकर अरिहंतचेइयाणं सूत्र एवं अन्नत्थ सूत्र कहकर एक नवकार का कायोत्सर्ग करें। पूर्णकर 'नमोऽर्हत्०' पूर्वक एक साधु प्रथम स्तुति कहें, शेष कायोत्सर्ग मुद्रा में सुनें तथा स्तुति के अन्त में सभी 'नमो अरिहंताणं' बोलें। यह

नियम प्रत्येक कायोत्सर्ग के अन्त में जानना चाहिए।

• तदनन्तर लोगस्स, सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं, अन्नत्थसूत्र कहकर एक नवकार का कायोत्सर्ग करें, पूर्णकर दूसरी स्तुति कहें। • उसके बाद पुक्खरवरदी, सुअस्स भगवओ, अन्नत्थसूत्र कहकर एक नवकार का कायोत्सर्ग करें, पूर्णकर तीसरी स्तुति कहें। • तदनन्तर सिद्धाणं बुद्धाणं, वैयावच्चगराणं, अन्नत्थसूत्र कहकर एक नवकार का कायोत्सर्ग करें, पूर्णकर 'नमोऽर्हत्०' पूर्वक चौथी स्तुति बोलें। उसके बाद योगमुद्रा में बैठकर नमुत्थुणंसूत्र कहे।

प्रतिक्रमण स्थापना– तत्पश्चात चार खमासमण के द्वारा प्रतिक्रमण की स्थापना करें अर्थात प्रतिक्रमण में उपस्थित होने का संकल्प करें। यहाँ प्रथम खमासमण से-आचार्य मिश्रं, द्वितीय खमासमण से-उपाध्याय मिश्रं, तृतीय खमासमण से वर्तमान गुरूं मिश्रं तथा चतुर्थ खमासमण से-सर्वसाधू मिश्रं कह कर आचार्य आदि चारों को वन्दन करें।

• तदनु हेतुगर्भ (पृ. 4) एवं धर्मसंग्रह टीका (भा. 2, पृ. 249) के अनुसार एक ज्येष्ठ श्रावक 'इच्छकारि समस्त श्रावकों को वंदूं' ऐसा बोलें। वर्तमान की कुछ परम्पराओं में यह वाक्य आज भी बोला जाता है।

• उसके बाद घुटनों के बल स्थित होकर, मुखवस्त्रिका को मुख के आगे धारणकर एवं मस्तक झुकाकर 'सव्वस्स वि देवसिय सूत्र' बोलें, किन्तु 'इच्छाकारेण संदिसह इच्छं' इतना पद न कहें।

❁ वर्तमान में मुँहपत्ति पूर्वक बायें हाथ को मुख के आगे एवं दायें हाथ को चरवला पर रखते हुए 'सव्वस्सवि सूत्र' बोलते हैं। यह परवर्ती परम्परा मालूम होती है।

पहला एवं दूसरा आवश्यक– तदनन्तर खड़े होकर करेमि भंते, इच्छामि ठामि, तस्सउत्तरी, अन्नत्थसूत्र बोलकर चारित्राचार की विशुद्धि के लिए दोनों भुजाओं को फैलाकर, कोहनियों को चोलपट्ट या धोती से सटाते हुए, 19 दोषों से रहित होकर कायोत्सर्ग करें।

• इस कायोत्सर्ग में मुनि 'सयणा सणन्न' इस गाथा के आधार पर प्राभातिक प्रतिलेखन से लेकर दिनकृत सर्व अतिचारों का चिन्तन करें और उन्हें मन में धारण करें।

❁ आचार्य हरिभद्रसूरि (पंचवस्तुक, 450) ने इस सम्बन्ध में कहा है कि

गुरु दैवसिक अतिचारों का दो बार और अन्य साधु एक बार चिंतन करें, क्योंकि गुरु के गमनागमन आदि की प्रवृत्ति अधिक नहीं होती है इसलिए शेष मुनि दोषों का एक बार चिंतन करें उतने समय में गुरु दो बार स्मरण कर सकते हैं।

• गृहस्थ भी दिवसकृत अतिचारों का ही चिंतन करें। वर्तमान में अतिचार चिंतन के स्थान पर आठ नवकार या पंचाचार की आठ गाथाओं का स्मरण करने की भी प्रवृत्ति है।

'नमो अरिहंताणं' शब्द पूर्वक कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्स सूत्र बोलें।

तीसरा आवश्यक– तदनन्तर संडाशक आदि स्थानों की प्रमार्जना करते हुए उत्कटासन में बैठकर एवं दोनों भुजाओं से शरीर का स्पर्श न करते हुए, गुरु वन्दन के लिए मुखवस्त्रिका और शरीर की 25-25 बोलों से प्रतिलेखना करें। फिर सुगुरुवंदन सूत्र पूर्वक दो बार द्वादश आवर्त्त पूर्वक वन्दन करें।

चौथा आवश्यक– उसके बाद वन्दारूवृत्ति आदि ग्रन्थों के अनुसार अवग्रह में ही स्थित होकर, शरीर को किंचित झुकाते हुए 'इच्छा. संदिसह भगवन्! देवसियं आलोउं? इच्छं' जो मे देवसियो सूत्र का उच्चारण करते हुए पूर्व कायोत्सर्ग में अवधारित दैवसिक अतिचारों की गुरु के समक्ष आलोचना करें।

• उसके पश्चात साधु-साध्वी 'ठाणे कमणे सूत्र' बोलें तथा गृहस्थ के लिए सात लाख, अठारह पापस्थान, ज्ञान दर्शन चारित्र आदि आलोचना सूत्र बोलने की परम्परा है। तदनु 'सव्वस्सवि देवसिय' से 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्' तक कहें। गुरु– 'पडिक्कमेह' शब्द द्वारा प्रतिक्रमण रूप प्रायश्चित्त का आदेश दें।

• तत्पश्चात संडाशक स्थानों की प्रमार्जना पूर्वक दोनों पंजों के बल बैठते हुए दाहिने घुटने को ऊँचा करें तथा रजोहरण (चरवला) और मुखवस्त्रिका को दोनों हाथों से मुख के आगे धारण करते हुए शिष्य कहें– 'भगवन्! सूत्र कड्ढुं?' गुरु बोले– 'कड्ढेह'।

• उसके बाद साधु-साध्वी प्रचलित सामाचारी के अनुसार तीन बार नवकार, तीन बार करेमिभंते, चत्तारि मंगलं, इच्छामि ठामि, इच्छामि पडिक्कमिउं, पगामसिज्झाय इत्यादि सूत्र बोलें। यहाँ गृहस्थ तीन बार नवकार, तीन बार करेमिभंते एवं वंदित्तुसूत्र कहें।

• उसके बाद स्वकृत अपराधों की क्षमायाचना करने के लिए स्थापनाचार्य गुरु को द्वादशावर्त्त वन्दन करें।

• उसके बाद गुरु या ज्येष्ठ साधु अब्भुट्ठिओमि सूत्र बोलकर स्थापनाचार्य गुरु से क्षमायाचना करें। तदनन्तर ज्येष्ठ शिष्य अब्भुट्ठिओमि सूत्र द्वारा उपस्थित गुरु से क्षमायाचना करें।

• यहाँ इतना विशेष है कि पाँच से अधिक साधु हों तो गुरु सहित तीन से क्षमायाचना करें तथा सहवर्ती साधुओं की अपेक्षा स्थापनाचार्य के अतिरिक्त तीन मुनियों से क्षमायाचना करें, यह पूर्वाचार्य विहित सामाचारी है।

• उसके पश्चात पुनः स्थापनाचार्यजी को द्वादश आवर्त्त पूर्वक दो बार वन्दन करें।

पांचवाँ आवश्यक– तदनन्तर खड़े होकर गृहस्थ आयरिय उवज्झाय पाठ की तीन गाथा बोलें। गच्छ-परम्पराएँ होने से कुछ साधु भी यह सूत्र बोलते हैं। किन्तु वर्तमान परम्परा में लगभग सभी गच्छों के साधु-साध्वी यह सूत्र बोलते हैं।

• उसके बाद करेमि भंते, इच्छामि ठामि, तस्स उत्तरी, अन्नत्थसूत्र कहकर चारित्राचार की शुद्धि निमित्त दो लोगस्स अथवा आठ नवकार का कायोत्सर्ग करें।

• फिर पूर्णकर दर्शनाचार की शुद्धि निमित्त लोगस्स, सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं, अन्नत्थसूत्र बोलकर एक लोगस्स या चार नवकार का कायोत्सर्ग करें।

• फिर पूर्णकर ज्ञानाचार की शुद्धि निमित्त पुक्खरवरदी, सुअस्स भगवओ, अन्नत्थसूत्र कहकर एक लोगस्स या चार नवकार का कायोत्सर्ग करें।

• फिर पूर्णकर ज्ञान आदि का निरतिचार आचरण करने से परमात्मा रूपी फल को प्राप्त हुए सिद्धात्माओं को वन्दन करने हेतु सिद्धाणं बुद्धाणं सूत्र बोलें।

• उसके बाद श्रुतसमृद्धि के लिए श्रुतदेवता की आराधना निमित्त अन्नत्थसूत्र बोलकर एक नवकार का कायोत्सर्ग करें। फिर गुरु भगवन्त 'नमोऽर्हत्.' पूर्वक 'सुवर्णशालिनी' स्तुति कहें, शेष सभी कायोत्सर्ग मुद्रा में ही स्तुति को सुनें और उसके बाद कायोत्सर्ग पूर्ण करें। फिर क्षेत्र देवता की आराधना हेतु अन्नत्थसूत्र बोलकर एक नवकार का कायोत्सर्ग करें। फिर उसे पूर्णकर गुरु भगवन्त 'नमोऽर्हत्' पूर्वक 'यासां क्षेत्रगताः' स्तुति पढ़ें। फिर ऊर्ध्वस्थित (खड़ी) मुद्रा में ही एक नवकार मन्त्र का उच्चारण करें।

छठा आवश्यक– तदनन्तर संडाशक स्थानों की प्रमार्जना करते हुए उत्कटासन मुद्रा में विधियुक्त मुखवस्त्रिका और शरीर की प्रतिलेखना करें। फिर गुरु को द्वादशावर्त्त पूर्वक वन्दन करें। उसके बाद यदि प्रतिक्रमण प्रारम्भ करने से पूर्व प्रत्याख्यान न किया हो और सूर्यास्त होने वाला हो तो पहले प्रत्याख्यान करें। फिर प्रचलित परम्परानुसार 'सामाइयं, चउव्विसत्थो, वंदणयं, पडिक्कमणं, काउस्सग्गो, पच्चक्खाणं'– इन छह आवश्यक क्रियाओं को करते हुए अविधि हुई हो तो मन, वचन, काया से मिच्छामि दुक्कडं, ऐसा कहें।

मंगल स्तुति– फिर 'इच्छामो अणुसट्ठिं' बोलकर एवं बायें घुटने के बल स्थित होकर 'नमोऽर्हत्.' पूर्वक साधु एवं श्रावक 'नमोस्तु वर्धमानाय' की तीन गाथाएँ बोलें। यहाँ गुरु द्वारा एक स्तुति बोल दी जाए उसके पश्चात शेष सभीजन मस्तक पर अंजलि करके 'नमो खमासमणाणं' शब्द बोलें, फिर जिसमें अक्षर और स्वर बढ़ते हुए हों वैसी पूर्वोक्त तीन स्तुतियाँ कहें।

यहाँ परम्परानुसार साध्वीजी एवं श्राविकाएँ संसारदावानल की तीन गाथाएँ बोलती हैं।

उसके बाद नमुत्थुणंसूत्र पढ़ें। फिर एक खमासमण देकर 'इच्छा. संदि. भगवन्! स्तवन भणुं? इच्छं' कह 'नमोऽर्हत्.' पूर्वक मधुर स्वर से ग्यारह गाथाओं से अधिक एक सौ आठ श्लोक तक गुणगर्भित स्तवन बोलें। अन्य सभी हाथ जोड़े हुए सावधान चित्त से उसे सुनें। वर्तमान में कम से कम 11 गाथा का स्तवन बोलने की परिपाटी है।

तत्पश्चात एक-एक खमासमण देकर क्रमशः आचार्य मिश्रं, उपाध्याय मिश्रं, सर्वसाधून् मिश्रं कहकर इन तीनों को वन्दन करें।

दैवसिक प्रतिक्रमण में प्रक्षिप्त की गई विधि

इसके पश्चात कुछ परम्पराओं में स्तोत्र की समाप्ति के अनन्तर निम्न गाथा भी बोलते हैं–

वरकनकशंखविद्रुम, मरकतघनसन्निभं विगत मोहं।
सप्ततिशतं जिनानां, सर्वामर पूजितं वन्दे।।

तदनन्तर कुछ गृहस्थ दाहिने हाथ को चरवले पर रखकर और मुखवस्त्रिका को बायें हाथ से मुँह के आगे रखकर अड्ढाइज्जेसु का पाठ बोलते हैं। किन्तु प्रतिक्रमण सम्बन्धी विधि ग्रन्थों में इस विषयक कोई उल्लेख नहीं है।

प्रायश्चित्त विशुद्धि कायोत्सर्ग– तत्पश्चात एक खमासमण देकर 'इच्छा. संदि. भगवन्! देवसियपायच्छित्त विसोहणत्थं काउस्सग्गं करूँ? इच्छं' कहकर पुनः 'देवसिय पायच्छित्त विसोहणत्थं करेमि काउस्सग्गं' पूर्वक अन्नत्थसूत्र बोलकर चार लोगस्स अथवा सोलह नवकार का कायोत्सर्ग करें। पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र कहें। उसके बाद गीतार्थ आचरणा वश एक खमासमण देकर 'इच्छा. संदि. भगवन्! खुद्दोपद्दव ओहडावणत्थं काउस्सग्गं करूं? इच्छं' कहकर पुनः 'खुद्दोपद्दव ओहडावणत्थं करेमि काउस्सग्गं' पूर्वक अन्नत्थसूत्र कहकर चार लोगस्स अथवा सोलह नवकार का कायोत्सर्ग करें। पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें।

सज्झाय– तत्पश्चात शिष्य या गृहस्थ एक खमासमण देकर कहें– 'इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झायं संदिसावेमि? इच्छं' पुनः दूसरा खमासमण देकर कहें– 'इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झायं करेमि?' इस प्रकार सज्झाय बोलने की अनुमति प्राप्त कर साधु-साध्वी हों तो एक नवकार मन्त्र पूर्वक आगम सूत्र सम्बन्धी स्वाध्याय करें और पुनः एक नवकार मन्त्र बोलें।

वर्तमान में साधु-साध्वी लगभग महापुरुषों, सतियों एवं औपदेशिक पद से सम्बन्धित सज्झाय बोलते हैं तथा गृहस्थ स्वाध्याय के रूप में तीन नवकार मन्त्र कहते हैं।

चैत्यवन्दन– तदनन्तर विघ्नों को दूर करने के लिए योगमुद्रा में श्री सेढीतटिनीतटे०, नमुत्थुणं०, जावंति चेइआइं०, जावंत केविसाहू०, नमोऽर्हत्०, उवसग्गहरं०, मुक्ताशुक्ति मुद्रा में जयवीयराय आदि सूत्र बोलें। उसके बाद एक खमासमण पूर्वक मस्तक झुकाकर एवं मुख के आगे मुखवस्त्रिका रखकर 'सिरिथंभणट्ठियपास सामिणो' पाठ की दो गाथाएँ बोलें और वंदणवत्तियाए सूत्र एवं अन्नत्थसूत्र कहकर चार लोगस्स अथवा सोलह नवकार का कायोत्सर्ग करें। पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र पढ़ें।

गुरुदेव कायोत्सर्ग– उसके बाद उपकारी गुरुदेवों की आराधना निमित्त एक खमासमण देकर 'श्री चौरासी गच्छ श्रृंगारहार जंगम युग प्रधान भट्टारक श्री जिनदत्तसूरि, मणिधारी जिनचन्द्रसूरि, जिनकुशलसूरि, अकबरप्रतिबोधक जिनचन्द्रसूरि आराधवा निमित्तं करेमि काउस्सग्गं' पूर्वक अन्नत्थसूत्र बोलकर चार लोगस्स अथवा सोलह नवकार का कायोत्सर्ग करें। पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र

कहें। यहाँ प्रत्येक गुरुदेव के निमित्त पृथक्-पृथक् एक-एक लोगस्स का कायोत्सर्ग भी कर सकते हैं।

चैत्यवन्दन एवं शान्ति पाठ– परवर्ती परम्परानुसार गृहस्थ श्रावक बायाँ घुटना ऊँचा कर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! चैत्यवन्दन करूँ? इच्छं' कहकर चउक्कसाय चैत्यवंदन, अर्हन्तोभगवन्त स्तुति, फिर नमुत्थुणं से जयवीयराय तक सूत्र बोलें। फिर सुखासन में बैठकर 'लघुशांति' कहें।

फिर पूर्वोक्त विधि से सामायिक पूर्ण करें।

तुलना– यदि वर्तमान प्रचलित दैवसिक प्रतिक्रमण-विधि का आगमिक एवं आगमेतर ग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन किया जाए तो कुछ विशेषताएँ निम्न प्रकार स्पष्ट होती हैं–

जहाँ तक आगम ग्रन्थों का सवाल है वहाँ आवश्यक सूत्र में दैवसिक प्रतिक्रमण के सूत्र पाठों का ही उल्लेख मिलता है। तत्पश्चात उसके टीका साहित्य में उन सूत्रों पर विस्तृत चर्चा की गई है किन्तु वर्तमान प्रचलित विधि का निर्देशन नहीं है।

तदनन्तर उत्तराध्ययनसूत्र में इस विधि का संक्षिप्त रूप प्राप्त होता है। तदनुसार दैवसिक प्रतिक्रमणकर्त्ता ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप सम्बन्धी दैवसिक अतिचारों का अनुक्रम से चिन्तन करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर गुरु को वन्दना करें। फिर अनुक्रम से दैवसिक अतिचार की आलोचना करें। प्रतिक्रमण से निःशल्य होकर गुरु को वन्दन करें। फिर सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करें।[18]

जहाँ तक आगमेतर साहित्य का प्रश्न है वहाँ सर्वप्रथम पंचवस्तुक में यह विधि चारित्रातिचार सम्बन्धी कायोत्सर्ग से लेकर मंगल स्तुति (नमोस्तु वर्धमानाय) पर्यन्त कही गई है। इसमें प्रतिक्रमण स्थापना से पूर्व एवं छह आवश्यक पूर्ण होने के बाद की विधि का उल्लेख नहीं है। इसी तरह 'आयरिय उवज्झाय' के पहले वन्दन करने का निर्देश भी नहीं है तथा श्रुतदेवता, क्षेत्रदेवता और भवन देवता का कायोत्सर्ग गीतार्थ आचरणा से करने का निरूपण है।[19]

तदनन्तर प्रवचनसारोद्धार में यह विधि प्रतिक्रमण स्थापना से लेकर स्तवन तक यथावत देखी जाती है। इससे पूर्व एवं परवर्ती विधि-पाठों का उल्लेख नहीं

है।[20] तत्पश्चात योगशास्त्र टीका में यह विधि प्रारम्भिक चैत्यवन्दन से लेकर दैवसिक प्रायश्चित्त सम्बन्धी कायोत्सर्ग पर्यन्त यथावत कही गई है।[21]

तदनु श्री चन्द्राचार्यकृत सुबोधा सामाचारी में चैत्यवन्दन से स्तवन तक दैवसिक प्रतिक्रमण करने का निर्देश है। इसमें यह विधि गाथाओं के द्वारा संक्षेप में दर्शायी गई है जो वर्तमान प्रचलित विधि की तुलना में क्षेत्रदेवता के कायोत्सर्ग को छोड़कर शेष विधि-क्रम में समान है।[22]

तत्पश्चात तिलकाचार्य की विधि सामाचारी में दैवसिक प्रतिक्रमण चैत्यवन्दन से लेकर सज्झाय तक बतलाई गई है। उसमें क्षेत्र देवता की आराधना को आवश्यक नहीं माना है। इसी के साथ स्तवन के पश्चात दैवसिक प्रायश्चित्त सम्बन्धी कायोत्सर्ग के स्थान पर दुःख क्षय कर्म क्षय का कायोत्सर्ग, फिर आचार्यादि तीन को वन्दन, फिर दो आदेश पूर्वक सज्झाय– इस क्रम से बाद की विधि का उल्लेख है। शेष विधि इससे पूर्ववर्ती ग्रन्थों एवं प्रचलित स्वरूप के अनुरूप ही उपदिष्ट है।[23]

इसी क्रम में विधिमार्गप्रपाकार ने चैत्यवन्दन से लेकर श्री सेढ़ी तटिनी तटे चैत्यवन्दन तक दैवसिक प्रतिक्रमण का निर्देश किया है।[24]

तदनन्तर आचारदिनकर में चैत्यवंदन से लेकर सज्झाय तक दैवसिक प्रतिक्रमण बतलाया गया है तथा इसमें क्षेत्रदेवता के कायोत्सर्ग स्थान पर गच्छान्तर परम्परा से शासनदेवता, वैरोट्या आदि के कायोत्सर्ग एवं स्तुति करने का भी निर्देश किया है।[25]

भावदेवसूरिकृत यतिदिनचर्या में दैवसिक विधि मुनि सामाचारी के अनुसार चैत्यवन्दन से सज्झाय तक कही गई है।[26]

उसके पश्चात साधुविधिप्रकाश में यह विधि वर्तमान में प्रचलित विधि के समान ही दर्शायी गई है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस समय में प्रवर्तित दैवसिक-प्रतिक्रमण विधि प्राचीन ग्रन्थों के आधार से संयोजित साधुविधिप्रकाश के अनुसार की जाती है। पूर्ववर्ती ग्रन्थों की अपेक्षा इसमें कुछ नवीन तथ्य इस प्रकार हैं–

1. प्रारम्भिक चैत्यवन्दन के रूप में जयतिहुअण स्तोत्र बोलना।
2. देववन्दन करते समय पहली-चौथी स्तुति के पूर्व 'नमोऽर्हत्.' कहना।
3. नमोस्तु वर्धमानाय स्तुति के पहले 'नमोऽर्हत्.' कहना।

4. छह आवश्यक की क्रिया पूर्ण होने के पश्चात आचार्यादि तीन को ही वन्दन करना।
5. दोनों हाथ जोड़ते हुए एवं भूमि पर मस्तक रखते हुए प्रतिक्रमण की स्थापना करना। वर्तमान में दायें हाथ को मुट्ठी रूप में स्थापित करने की परम्परा परवर्ती मालूम होती है।
6. तीसरे एवं छठे आवश्यक में प्रवेश करने हेतु मौन पूर्वक मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करना इत्यादि सामाचारियों का उल्लेख सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतिक्रमण की उपविधियाँ कालक्रम से सम्मिलित हुई हैं जिन्हें आज मुख्य विधि के रूप में भी मान लिया जाता है।[27]

यहाँ यह अवगत कर लेना भी परमावश्यक है कि गृहस्थ एवं साधु दोनों की दैवसिक प्रतिक्रमण विधि लगभग एक समान है यद्यपि प्रतिक्रमण प्रारम्भ के पूर्व की और षडावश्यक क्रिया के बाद की विधियों एवं सूत्र पाठों को लेकर क्वचित भेद इस प्रकार हैं-

1. प्रतिक्रमण प्रारम्भ करने से पूर्व गृहस्थ सामायिक ग्रहण करता है और उत्कृष्ट (द्वादशावर्त्त) वन्दन पूर्वक दिवसचरिम चौविहार आदि के प्रत्याख्यान लेता है वैसा मुनि के लिए नहीं है, क्योंकि साधु-साध्वी के यावज्जीवन के लिए सामायिक होती हैं अत: उन्हें पृथक से सामायिक लेने की जरूरत नहीं होती तथा चौविहार आदि प्रत्याख्यान सायंकालीन प्रतिलेखना विधि के अन्त में करने का आचार है।
2. साधु-साध्वी दैवसिक प्रतिक्रमण करने से पूर्व दिवस सम्बन्धी आहार आदि क्रियाओं में लगे दोषों की आलोचना एवं उसके प्रति जागरूक रहने के प्रयोजन से निम्न विधि करते हैं-

एक खमासमणसूत्र से वन्दन कर 'इच्छा. संदि. भगवन्! गोयरचरियाई पडिक्कमुं-इच्छं' कहे। पुन: एक खमासमणसूत्र से वंदन कर 'इच्छा. संदि. भगवन्! गोअर चरियाइ पडिक्कमणत्थं करेमि काउस्सग्गं' एवं अन्नत्थसूत्र बोलकर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर एवं प्रकट में एक नमस्कार मन्त्र बोलकर निम्न गाथा बोलें-

कालो गोयरचरिया थंडिल्ला वत्थ पत्त पडिलेहा।
संभरउ सो साहू, जस्स वि जं किंचिणुवउत्तं।।

आचार्य हरिभद्रसूरि के मतानुसार प्रतिक्रमण के पूर्व एक मुनि के द्वारा उक्त गाथा बुलवाकर यह उद्घोषणा की जाती है कि दैवसिक प्रतिक्रमण का समय हो चुका है, किसी भी श्रमण की दिन सम्बन्धी स्थंडिल प्रेक्षा, वस्त्रादि प्रतिलेखना, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण आदि कोई भी क्रिया शेष रह गई हो,तो वह उसके प्रति उपयोगवान बने तथा शेष रही क्रिया स्मृति में आ जाये तो उसे पूर्ण कर ले– इस प्रकार दिवस सम्बन्धी आवश्यक क्रियाओं को सम्पन्न कर सकें तद्हेतु यह गाथा बोली जाती है। वर्तमान में यह उद्देश्य नहींवत रह गया है।

3. गृहस्थ दूसरे आवश्यक के अन्तर्गत दिनकृत या पंचाचार सम्बन्धी अतिचारों का चिन्तन अथवा आठ नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करते हैं वहाँ साधु-साध्वी 'सयणासणन्न' गाथा का अर्थ सहित एक बार अथवा मूल पाठ का तीन बार चिन्तन करते हैं।
4. गृहस्थ चौथे आवश्यक में 'वंदित्तु सूत्र' बोलते हैं वहाँ साधु-साध्वी 'पगामसिज्झाय सूत्र' बोलते हैं।
5. गृहस्थ छह आवश्यक पूर्ण होने के पश्चात, चउक्कसाय का चैत्यवन्दन और शांतिपाठ बोलते हैं जबकि साधु-साध्वी रात्रि में संथारा पौरूषी की विधि करते समय चउक्कसाय का चैत्यवन्दन करते हैं।

शेष विधि एवं पाठ लगभग समान है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक की अन्य परम्पराओं में दैवसिक प्रतिक्रमण विधि

तपागच्छ– इस परम्परा में दैवसिक प्रतिक्रमण खरतर परम्परा की विधि के अनुसार ही किया जाता है किन्तु कुछ सूत्र-पाठों एवं प्रक्षिप्त विधि में इस प्रकार अन्तर है–

1. यहाँ 'जयतिहुअण स्तोत्र' के स्थान पर 'सकल कुशलवल्ली' एवं दूज आदि तिथि के अनुसार चैत्यवन्दन बोलते हैं।
2. जयमहायस का पाठ नहीं बोलते हैं।
3. वंदित्तुसूत्र के पूर्व नवकार मन्त्र और करेमिभंते सूत्र एक बार बोलते हैं। आचार्य मिश्रं, उपाध्याय मिश्रं, वर्तमान मिश्रं, सर्वसाधु मिश्रं के स्थान पर

भगवानहं, आचार्यहं, उपाध्यायहं, सर्वसाधुहं ऐसा कहकर वन्दन करते हैं।

4. श्रुतदेवता एवं क्षेत्रदेवता के कायोत्सर्ग में क्रमश: पुरुष वर्ग सुअदेवया भगवई' एवं श्राविकावर्ग 'कमलदल विपुल नयना' की स्तुति बोलते हैं तथा दूसरे में पुरुष वर्ग 'जिसे खित्ते' एवं श्राविका वर्ग 'यस्या क्षेत्र' की स्तुति बोलते हैं।
5. इसमें प्रक्षिप्त विधि के अन्तर्गत 'खुद्दोपद्दव उड्डावणी' का कायोत्सर्ग न करके सज्झाय के पश्चात दु:खक्षय-कर्मक्षय निमित्त चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करते हैं।
6. इस परम्परा में श्रीसेढ़ी का चैत्यवंदन और गुरुदेव का कायोत्सर्ग नहीं करते हैं।
7. इस आम्नाय में लघुशांति पाठ पहले और चउक्कसाय का चैत्यवंदन बाद में करते हैं। शेष क्रिया विधि लगभग समान है।[28]

अचलगच्छ– इस परम्परा की मान्यतानुसार खण्ड-11 के अध्याय-2 में कही गई विधि पूर्वक सामायिक ग्रहण करना, प्रतिक्रमण का प्रथम आवश्यक है। सामायिक लेते समय ईर्यापथ प्रतिक्रमण में लोगस्स सूत्र बोलना दूसरा आवश्यक है। तीसरे आवश्यक में आदेश पूर्वक उत्तरीय वस्त्र का छेड़ा या रूमाल की 50 बोल पूर्वक प्रतिलेखना कर गुरु को द्वादशावर्त्त वंदन करते हैं और आत्म साक्षी से चउविहार आदि का प्रत्याख्यान लेते हैं। चौथे आवश्यक में अनुमति पूर्वक खड़े-खड़े एक नवकार मन्त्र गिनकर लघु अतिचार पाठ बोलते हैं। पाँचवें आवश्यक में गुर्वानुमति पूर्वक योगमुद्रा में 'जय-जय महाप्रभु' का चैत्यवंदन, अष्टोत्तरी अथवा अन्य चार स्तवन कहते हैं। फिर खड़े होकर उवसग्गहरं और जं किंचि सूत्र तथा योग मुद्रा में नमुत्थुणंसूत्र बोलते हैं।

तदनन्तर एक खमासमण पूर्वक घुटनों के बल स्थित होकर गुरु को वंदन करते हैं। उसके बाद दो आदेश पूर्वक दशवैकालिक आदि आगम सूत्र की सज्झाय बोलते हैं। तदनु दैवसिक प्रायश्चित्त की विशुद्धि निमित्त चार लोगस्स का कायोत्सर्ग और अभिभव अशेष दुक्खखय कम्मक्खय निमित्त पाँच लोगस्स का कायोत्सर्ग करते हैं। छठें आवश्यक में गुरु को द्वादशावर्त्त वंदन कर दिवसचरिम प्रत्याख्यान ग्रहण करते हैं। फिर गृहस्थजन सामायिक पूर्ण करते हैं।[29]

उक्त विधि से ज्ञात होता है कि इस आम्नाय में गृहस्थ के लिए वंदित्तु सूत्र एवं लघुशांति पाठ बोलना आवश्यक नहीं है। इनमें श्रुतदेवता एवं क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग भी नहीं करते हैं तथा परसमय तिमिर या संसारदावा की स्तुति भी नहीं बोलते हैं।

पायच्छंदगच्छ– इस परम्परागत दैवसिक प्रतिक्रमण की विधि निम्न है–

1. सर्वप्रथम 'श्री पार्श्वनाथो भवपापताप' 6 गाथा का चैत्यवन्दन, फिर 'अन्नाणकोह' का पाठ, फिर खड़े होकर 'सिरिरिसहेसर' की 5 गाथा रूप स्तुति बोलते हैं।
2. फिर देववन्दन के रूप में जं किंचि सूत्र एवं नमुत्थुणं सूत्र कहते हैं।
3. फिर आचार्य, उपाध्याय एवं सर्व साधू– इन तीन को वंदन कर प्रतिक्रमण स्थापना के रूप में एक नवकार बोलते हैं।
4. फिर पहले आवश्यक से छठे आवश्यक तक की विधि तपागच्छ परम्परा के अनुसार करते हैं। उनमें विशेष यह है कि वंदित्तुसूत्र के पूर्व चत्तारिमंगल., इच्छामिठामि. और इच्छामि पडिक्कमिउं. का पाठ भी बोलते हैं और वंदित्तुसूत्र की 43 गाथा ही पढ़ते हैं।
5. 'नमोस्तु वर्धमानाय' के स्थान पर 'नमोदुर्वाररागादि' की स्तुति कहते हैं।
6. स्तवन के पश्चात जयवीयराय बोलते हैं और शांति पाठ नहीं बोलते हैं। शेष विधि तपागच्छ के समान है।[30]

त्रिस्तुतिक गच्छ– इस आम्नाय में श्रुतदेवता एवं क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग नहीं करते हैं तथा शान्ति पाठ भी नहीं बोलते हैं। शेष विधि प्राय: तपागच्छ के समान ही है।[31]

पाक्षिक प्रतिक्रमण विधि

आवश्यकनिर्युक्ति,पंचवस्तुक, योगशास्त्र, प्रवचनसारोद्धार, तिलकाचार्य सामाचारी, सुबोधा सामाचारी, विधिमार्गप्रपा, आचारदिनकर, साधुविधिप्रकाश आदि में वर्णित एवं वर्तमान परम्परा में प्रचलित पाक्षिक प्रतिक्रमण-विधि निम्न प्रकार है–

यहाँ ज्ञातव्य है कि पाक्षिक प्रतिक्रमण, छह आवश्यकों में चौथे प्रतिक्रमण आवश्यक के अन्तर्गत किया जाता है इसलिए यह प्रतिक्रमण चौथे आवश्यक के रूप में वंदित्तु सूत्र के बाद प्रारम्भ होता है।

पाक्षिक प्रतिक्रमण से पूर्व की विधि– पाक्षिक प्रतिक्रमण करते समय प्रारम्भिक वंदित्तु सूत्र तक की विधि दैवसिक प्रतिक्रमण के समान होती है। उसमें विशेष यह है कि इस प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में 'जयतिहुअण स्तोत्र' की तीस गाथाएँ बोलते हैं तथा देववन्दन में 'द्रें दें कि धपमप०' अथवा 'अविरल कमल०' की चार स्तुतियाँ कहते हैं।

पाक्षिक प्रतिक्रमण प्रवेश– तदनन्तर एक खमासमण देकर कहे– 'देवसियं आलोइयं पडिक्कंतं इच्छा. संदि. भगवन्! पक्खियं मुहपत्तिं पडिलेहुं?' गुरु– 'पडिलेहेह।' शिष्य– 'इच्छं' कहे।

• फिर दूसरा खमासमण देकर मुखवस्त्रिका की विधिवत प्रतिलेखना कर स्थापनाचार्य को द्वादशावर्त्त वन्दन करें।

• फिर गुरु या ज्येष्ठ साधु कहे– 'पुण्यवन्तों! देवसी के स्थान पर पाक्षिक कहना, छींक की जयणा करना, मधुर स्वर से प्रतिक्रमण पूर्ण करना, उपयोग पूर्वक खांसना, मंडली में सावधान रहना' तब प्रतिक्रमण करने वाले सभी 'तहत्ति' कहें।

संबुद्ध क्षमायाचना– तत्पश्चात विशिष्ट ज्ञानी गुरुओं से क्षमापना करने के लिए खड़े होकर एवं दोनों हाथों को मस्तक पर रखते हुए कहें– 'इच्छा. संदि. भगवन्! संबुद्धा खामणेणं अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर पक्खिअं खामेउं? इच्छं खामेमि पक्खियं' फिर घुटनों के बल भूमि पर मस्तक रखते हुए और मुखवस्त्रिका को मुख के आगे रखकर 'पनरसण्हं दिवसाणं पनरसण्हं राईणं एग पक्खस्स– जं किंचि सूत्र' बोलें। यहाँ अब्भुट्ठिओमिसूत्र बोलते समय ज्ञानी गुरुओं से क्षमापना करने का भाव रखना चाहिए।

• साधुविधिप्रकाश के अनुसार गुरु द्वारा संबुद्धा खामणा कर लेने के पश्चात सभी को पूर्ववत प्रत्यक्ष गुरु से क्षमायाचना करनी चाहिए। पाक्षिक में ज्येष्ठ आदि क्रम पूर्वक गुरु सहित तीन मुनियों से मिच्छामि दुक्कडं करना चाहिए। वर्तमान में तीन मुनियों से क्षमायाचना करने की विधि प्रत्येक खामणा के समय की जाती है जो आधुनिक प्रवृत्ति दिखती है।[32]

पाक्षिक अतिचार एवं तप दान– तदनन्तर गुरु के अवग्रह से बाहर होकर 'इच्छा०! संदि. भगवन्! पक्खियं आलोउं? इच्छं, आलोएमि जो मे पक्खिओ अइआरो कओ...सूत्र' कहने के पश्चात शिष्य कहे– 'इच्छा. संदि.

भगवन्! पक्खिय आलोउं?' गुरु-'आलोएह'। तदनु शिष्य 'इच्छं' आलोएमि सूत्र कहें। फिर साधु एवं गृहस्थ अपने-अपने व्रतों से सम्बन्धित बृहद् पाक्षिक अतिचार बोलें।

• वर्तमान परम्परा में गुरु या ज्येष्ठ साधु अतिचार के अन्त में 'एवं प्रकारे साधु के 140 अतिचार एवं श्रावक के 124 अतिचार में सूक्ष्म या बादर रूप से जो कोई अतिचार लगा हो तो मन-वचन-काया से मिच्छामि दुक्कडं' इतना कहते हैं।

• उसके बाद 'सव्वस्सवि पक्खिअ दुच्चिंतिय दुब्भासिअ दुच्चिट्ठिअ इच्छं, तस्स मिच्छामि दुक्कडं' कहे। इस पाठ के मध्य में शिष्य 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्!' कहकर पाक्षिक अतिचारों का प्रायश्चित्त मांगे। तब गुरु या वरिष्ठ श्रावक इस प्रकार कहें- 'एक उपवास, दो आयंबिल, तीन नीवि, चार एकासणा, आठ बिआसणा अथवा दो हजार सज्झाय करी पेठ पूरजो'। यदि तप कर लिया हो तो प्रतिक्रमण करने वाले 'पइट्ठिओ' कहे, तप करना हो तो 'तहत्ति' कहें, यदि न करना हो तो मौन रहें।

• वर्तमान की खरतरगच्छ परम्परा में पाक्षिक तप की यह विधि समाप्ति खामणा के बाद की जाती है, किन्तु पाक्षिक अतिचार के बाद करना ही विधियुक्त है। साधुविधिप्रकाश में समाप्ति खामणा के बाद भी पाक्षिक तप देने का उल्लेख है इससे ज्ञात होता है कि अर्वाचीन परम्परा में संभवत: इस सामाचारी ग्रन्थ का अनुकरण किया जाता हो।[33]

प्रत्येक क्षमायाचना– पाक्षिक आलोचना ग्रहण करने के पश्चात स्थापनाचार्य को द्वादशावर्त्त वन्दन करें। उसके बाद खड़े होकर सर्वप्रथम गुरु 'इच्छा. संदि. भगवन्! देवसियं आलोइयं पडिक्कंता पत्तेय खामणेणं अब्भुट्ठिओमि अब्भितर पक्खियं खामेऊं? इच्छं, खामेमि पक्खियं' फिर संबुद्धा खामणा की तरह 'पनरसण्हं दिवसाणं से अब्भुट्ठिओमि सूत्र' तक पूरा पाठ बोलें। उसके बाद शिष्य भी रत्नाधिक साधुओं और श्रावकों से क्षमायाचना करें।

उसके बाद विधिमार्गप्रपा के अनुसार साधु-साध्वी परस्पर में ही सुखतप आदि पूछते हैं श्रावकों से नहीं।[34]

पाक्षिक सूत्र श्रवण– तत्पश्चात स्थापनाचार्य को द्वादशावर्त्त वन्दन करें। उसके बाद गुरु खड़े होकर कहे-'भगवन्! देवसियं आलोइयं पडिक्कंतं पक्खियं

पडिक्कमावेह।' तदनु शिष्य कहे– 'भगवन्! देवसियं आलोइयं पडिक्कंता पक्खियं पडिक्कमुं?' गुरु कहे– 'सम्मं पडिक्कमेह।'तब शिष्य 'इच्छं– सम्मं पडिक्कमामि' कहकर करेमि भंते सूत्र एवं इच्छामि ठामि सूत्र पढ़ें।

• तत्पश्चात पाक्षिक सूत्र बोलने के लिए मुनि एक खमासमण देकर कहे– 'इच्छा. संदि. भगवन्! पक्खिय सुत्तं संदिसावेमि?' गुरु कहे– 'संदिसावेह।' फिर दूसरा खमासमण देकर कहे– 'इच्छा. संदि. भगवन्! पक्खिय सुत्तं कड्ढेमि?' गुरु कहे– 'कड्ढेह।'

• उसके बाद अनुज्ञा प्राप्त मुनि 'इच्छं' पूर्वक तीन नवकार मन्त्र कहकर पाक्षिकसूत्र बोलें। शेष साधु एवं श्रावक तस्स उत्तरी एवं अन्नत्थ सूत्र कहकर पक्खीसूत्र को कायोत्सर्ग मुद्रा में सुनें। यदि कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थिर रहने का सामर्थ्य न हो तो बैठकर भी सुन सकते हैं किन्तु अन्त में सभी 'नमो अरिहंताणं' पूर्वक कायोत्सर्ग पूर्णकर ऊर्ध्व स्थित (खड़ी) मुद्रा में ही तीन नवकार मन्त्र गिनकर बैठें।

• यदि गुरु का योग न हो तो श्रावक तीन नवकार कहकर वंदित्तुसूत्र बोलें।

• पक्खीसूत्र के पश्चात साधु-साध्वी तीन नवकार, तीन करेमि भंते, चत्तारि मंगलं, इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे पक्खिओ, इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए और पगामसिज्झाय इत्यादि सूत्र बोलें तथा गृहस्थ तीन नवकार, तीन करेमि भंते, इच्छामि ठामि और वंदित्तुसूत्र कहें।

पाक्षिक दोष शुद्धि कायोत्सर्ग– तदनन्तर एक खमासमण देकर– मूलगुण-उत्तरगुण अतिचारविशुद्धि निमित्तं काउसग्गं करूँ? इच्छं' कहकर करेमि भंते., इच्छामि ठामि., तस्स उत्तरी. एवं अन्नत्थसूत्र बोलकर बारह लोगस्स अथवा अड़तालीस नवकार का कायोत्सर्ग करें। पूर्णकर प्रकट में लोगस्स कहें।

समाप्ति क्षमायाचना– तत्पश्चात नीचे बैठकर एवं मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर स्थापनाचार्य को द्वादशआवर्त्त से वन्दन करें। उसके बाद 'इच्छा. संदि. भगवन्! समाप्ति खामणेणं अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर पक्खियं खामेऊँ? इच्छं, खामेमि पक्खिअं सूत्र' पूर्ववत बोलें। उसके बाद पुनः 'इच्छा. संदि. भगवन्! पक्खी खामणा खामूँ?' गुरु–खामेह, शिष्य– 'इच्छं' कह चार बार पक्खी समाप्ति क्षमायाचना करें। समाप्ति क्षमायाचना करने के लिए सभी जन एक खमासमण देकर, घुटनों के बल स्थित हो, बायें हाथ से मुखवस्त्रिका को

मुख के आगे रखें तथा दाहिने हाथ को स्थापनाचार्य या गुरु सम्मुख करके ज्येष्ठ साधु 'इच्छामि खमासमणो पियं च मे जंभे' इत्यादि प्रथम आलापक बोले।

फिर एक खमासमण देकर पूर्ववत मुद्रा में 'इच्छामि खमासमणो पुव्विं चेइयाइं वंदित्ता' इत्यादि दूसरा आलापक कहे।

फिर एक खमासमण देकर पूर्ववत मुद्रा में 'इच्छामि... अब्भुट्ठिओमि तुब्भण्हं संतियं' इत्यादि तीसरा आलापक कहे।

फिर एक खमासमण देकर पूर्ववत मुद्रा में 'इच्छामि... अहमपुव्वाइं' इत्यादि चौथा आलापक बोले।

इन चारों आलापकों के अन्त में गुरु क्रमशः 1. तुब्भेहिं समं 2. अहमवि वंदामि चेइयाइं, 3. आयरियसंतियं 4. नित्थारपारगा होह- इन वचनों का प्रयोग करें।

यहाँ श्रावक भी खमासमण पूर्वक मस्तक को भूमि पर रखते हुए चार बार तीन-तीन नवकार मन्त्र बोलें। चतुर्थ क्षमायाचना के बाद गुरु 'नित्थारपारगा होह' कहें। तब सभी 'इच्छामो अणुसट्ठिं' बोलें।

तदनन्तर प्रचलित परिपाटी के अनुसार गुरु भगवन्त पाक्षिक प्रायश्चित्त के रूप में एक उपवास अथवा उतने तप के परिमाण में आयंबिल आदि तप करने का निर्देश करते हैं।

यहाँ पाक्षिक प्रतिक्रमण की मूल विधि समाप्त हो जाती है। इसके बाद की सम्पूर्ण विधि शेष दैवसिक प्रतिक्रमण के समान ही की जाती है। किन्तु उनमें कुछ अन्तर इस प्रकार हैं-

1. जहाँ दैवसिक प्रतिक्रमण को विराम दिया था, उसके आगे द्वादशावर्त्तवन्दन से पुनः शुरू करते हैं।
2. श्रुतदेवता के कायोत्सर्ग में 'कमलदल' की स्तुति, भवन देवता के कायोत्सर्ग में 'ज्ञानादिगुण युतानां' की स्तुति और क्षेत्रदेवता के कायोत्सर्ग में 'यस्या क्षेत्र समाश्रित्य' की स्तुति बोलते हैं।
3. स्तवन की जगह 'अजित शांति' और लघुशान्ति की जगह नमोऽर्हत् पूर्वक 'बृहद्शान्ति' कहते हैं।

तुलना- यदि हम पाक्षिक प्रतिक्रमण विधि का तत्सम्बन्धी पूर्व-परवर्ती ग्रन्थों से तुलनात्मक या ऐतिहासिक अध्ययन करते हैं तो कुछ मौलिकताएँ इस

प्रकार ज्ञात होती है–

जहाँ तक आगमवर्ती साहित्य का प्रश्न है वहाँ किसी भी आगम में पाक्षिक प्रतिक्रमण विधि प्राप्त नहीं होती है।

जहाँ तक आगमेतर टीका साहित्य का सवाल है वहाँ आवश्यकनिर्युक्ति एवं चूर्णि में पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण क्यों करना चाहिए? प्रतिक्रमण के स्थान कितने हैं? प्रतिक्रमण के प्रकार कौनसे हैं? इत्यादि चर्चा की गई है किन्तु पाक्षिक विधि का स्पष्ट स्वरूप नहीं मिलता है।[35]

तदनन्तर विक्रम की दसवीं शती पर्यन्त ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं तो आचार्य हरिभद्रकृत पंचवस्तुक में पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण विधि का उल्लेख तो नहीं मिलता है, किन्तु क्षेत्रदेवता और भवनदेवता के कायोत्सर्ग के सम्बन्ध में यह अवश्य कहा गया है कि चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में क्षेत्रदेवता का तथा पाक्षिक प्रतिक्रमण में भवनदेवता का कायोत्सर्ग करना चाहिए। कुछ गच्छ-परम्परा के साधु चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में भी भवनदेवता का कायोत्सर्ग करते हैं। इससे सूचित होता है कि विक्रम की आठवीं शती तक पाक्षिक प्रतिक्रमण-विधि का एक स्वरूप निश्चित हो चुका था।[36]

जब हम मध्यकालीन साहित्य का मनन करते हैं तो वहाँ हेमचन्द्राचार्यकृत योगशास्त्र,[37] नेमिचन्द्रसूरिकृत प्रवचनसारोद्धार,[38] श्रीचन्द्राचार्य संकलित सुबोधासामाचारी,[39] तिलकाचार्य सामाचारी,[40] जिनप्रभसूरिकृत विधिमार्गप्रपा,[41] वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर[42] आदि ग्रन्थों में पाक्षिक प्रतिक्रमण का एक विधिवत स्वरूप अवश्य प्राप्त होता है। इससे ध्वनित होता है कि यह विधि काल के प्रभाव से ग्रन्थों के अस्तित्व में आई है। इन सभी आचार्यों ने पाक्षिक विधि का स्वरूप लगभग समान रूप से ही उल्लिखित किया है। हाँ! श्रुतदेवता आदि के कायोत्सर्ग, साधु एवं गृहस्थ की पारस्परिक क्षमायाचना, पाक्षिक तप दान आदि के सम्बन्ध में आंशिक भेद जरूर है।

जैसे कि प्रवचनसारोद्धार में भवनदेवता कायोत्सर्ग का उल्लेख नहीं है। तिलकाचार्य सामाचारी में श्रावक द्वारा क्षमायाचना करने की पृथक् विधि बतलाई गई है किन्तु अजितशांति पाठ का निर्देश नहीं है, जबकि योगशास्त्र, विधि प्रपा, आचारदिनकर आदि में अजितशान्ति बोलने का उल्लेख किया गया है।

जब हम उत्तरकालीन साहित्य का आलोडन करते हैं तो साधुविधिप्रकाश

(18वीं शती) के नाम से एक कृति प्राप्त होती है जिसमें पाक्षिक-प्रतिक्रमण की वर्तमान प्रचलित सम्पूर्ण विधि उल्लिखित है। इसका अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि परवर्ती परम्परा में यत्किंचित् परिवर्तन इसी ग्रन्थ के अनुकरण रूप है। यद्यपि इस कृति का नाम साधुविधिप्रकाश है किन्तु इसमें प्रतिक्रमण विधियों का उल्लेख करते हुए श्रावक-श्राविका सम्बन्धी विधि-पाठों को भी केन्द्र में रखा गया है। इस कृति के कुछ मौलिक बिन्दु निम्नलिखित हैं–

1. खरतर परम्परानुसार पाक्षिक प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में 'जयतिहुअण स्तोत्र' की 30 गाथा बोलना।
2. पाक्षिक विधि शुरु होने के पश्चात 'पुण्यवंतो देवसी के स्थान पर पाक्षिक भणजो, मधुर स्वर में प्रतिक्रमण करजो आदि वाक्यों का प्रयोग।
3. संबुद्धा, प्रत्येक एवं समाप्ति क्षमायाचना के पूर्व 'पनरसण्हं दिवसाणं... आदि शब्दों का प्रयोग।
4. पाक्षिक अतिचार एवं समाप्ति क्षमायाचना के पश्चात ऐसे दोनों जगह पाक्षिक तप देने का वर्णन आदि कई नवीन क्रिया-वाक्यों का उल्लेख सर्वप्रथम इसी कृति में उपलब्ध होता है।[43]

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक की अन्य परम्पराओं में पाक्षिक प्रतिक्रमण विधि

तपागच्छ– इस परम्परा में पाक्षिक प्रतिक्रमण पूर्वोक्त खरतर सामाचारी के अनुसार ही किया जाता है कुछ विधि पाठों में निम्न अन्तर है–

1. 'जयतिहुअण स्तोत्र' की जगह 'सकलार्हत् स्तोत्र' बोलते हैं।
2. 'द्रें द्रें कि धपमप' की जगह 'स्नात्रस्याप्रतिमस्य' की स्तुति कहते हैं।
3. श्रुतदेवता के स्थान पर 'ज्ञानादिगुण युतानां' और क्षेत्रदेवता की जगह 'यस्याः क्षेत्रं समाश्रित्य' की स्तुति कहते हैं।
4. सज्झाय के स्थान पर उवसग्गहरं और संसारदावानल की चारों स्तुतियाँ बोलते हैं।

शेष विधि क्रिया एवं पाठ समान हैं।[44]

अचलगच्छ– इस आम्नायवर्ती साधु एवं गृहस्थ पाक्षिक प्रतिक्रमण करते समय पहले आवश्यक से तीसरे वंदन आवश्यक तक की विधि पूर्वकथित दैवसिक प्रतिक्रमण के समान ही करते हैं। उसके बाद खड़े होकर चौथे

आवश्यक में एक खमासमण देकर कहते हैं– 'इच्छा. संदि. भगवन्! गुरु पर्व भणी पाखी सविशेष बृहद् अतिचार आलोउं?' गुरु कहे– 'आलोएह।' शिष्य 'इच्छं' कह कर नवकार मन्त्र पूर्वक बृहद् अतिचार पढ़ते हैं। उसके बाद एक खमासमण पूर्वक चैत्यवंदन मुद्रा में 'जय-जय महाप्रभु' का चैत्यवंदन बोलते हैं। फिर 'इच्छा. संदि. भगवन्! अष्टोत्तरी तीर्थमाला भणुंजी' इच्छं कह 111 गाथा युक्त 'अष्टोत्तरी तीर्थमाला' का स्तवन कहते हैं।

तदनन्तर खड़े होकर उवसग्गहरं और जं किंचि, फिर योग मुद्रा में नमुत्थुणं सूत्र, फिर खड़े होकर गुर्वानुमति पूर्वक पाक्षिक प्रतिक्रमण सम्बन्धी बारह लोगस्स का कायोत्सर्ग करते हैं तथा पूर्णकर प्रकट में लोगस्स बोलते हैं।

तत्पश्चात पाँचवें आवश्यक में चार और पाँच लोगस्स का कायोत्सर्ग करते हैं तथा गुरु के आदेश पूर्वक नीचे बैठकर नवकारमन्त्र का स्मरण करते हुए नवस्मरण पाठ बोलते हैं। उसके पश्चात छठे आवश्यक का पालन करते हुए गुरु को द्वादशावर्त्त वन्दन कर प्रत्याख्यान ग्रहण करते हैं।

तदनन्तर एक खमासमण के द्वारा पाक्षिक क्षमायाचना हेतु अनुमति प्राप्त कर पुनः दो बार द्वादशावर्त्त वन्दन करते हैं। फिर गुरु से अब्भुट्ठिओसूत्र पूर्वक क्षमायाचना कर सकल संघ से भी क्षमापना करते हैं।

उसके बाद सामायिक पूर्णकर इनमें प्रचलित पक्खी खामणा के पाठ से अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, श्रावक-श्राविका आदि से क्षमायाचना करते हैं।[45]

उपरोक्त विधि का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि अचलगच्छ परम्परा में श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवता-भवनदेवता की आराधना निमित्त कायोत्सर्ग नहीं होता है। साध्वी अनन्त किरणा श्रीजी के बताए अनुसार साधु-साध्वी श्रुत एवं क्षेत्र दोनों देवताओं का कायोत्सर्ग करते हैं। अजितशांति और बड़ी शांति स्तवन की जगह न बोलकर पाँचवें आवश्यक में नवस्मरण के अन्तर्गत बोलते हैं। इस परम्परा में नमोस्तु वर्धमानाय., संसारदावा., विशाललोचनदलं. आदि स्तुतियाँ नहीं बोली जाती है।

पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण पूनम या अमावस को तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण पंचमी के दिन करते हैं। वर्तमान में मुहपत्ति रखते हैं लेकिन सामाचारी में इसका प्रावधान नहीं है।

पायच्छंदगच्छ– इस परम्परा में पाक्षिक प्रतिक्रमण लगभग तपागच्छ परम्परा के अनुसार किया जाता है कुछ विधि-पाठों में भेद इस प्रकार है–

1. प्रारम्भ में चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार करने हेतु सकलार्हत् स्तोत्र के स्थान पर 'अर्हतं जगदीश्वरं गुणनिधिं' नाम का चैत्यवंदन बोलते हैं। फिर खड़े होकर 'स्वर्भूमेर्मातृगर्भे' प्रारम्भ होने वाली महावीर स्वामी की चार स्तुतियाँ एक साथ कहते हैं।
2. तदनन्तर देववन्दन के रूप में नमुत्थुणं सूत्र ही बोलते हैं।
3. प्रतिक्रमण स्थापना के पूर्व आचार्य आदि तीन को वन्दन करते हैं।
4. पाक्षिक प्रतिक्रमण में प्रवेश करते समय करेमि भंते आदि सूत्र कहकर कायोत्सर्ग में पंचाचार की आठ गाथाओं का स्मरण करते हैं।
5. मूलगुण-उत्तरगुण की विशुद्धि निमित्त कायोत्सर्ग करने के पूर्व 'पुढवाईसु पत्तेयं' की 6 गाथा कहते हैं।
6. श्रुतदेवता एवं क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग नहीं करते हैं।
7. सज्झाय के स्थान पर संबोधसत्तरी की पाँच गाथा बोलते हैं तथा अन्त में बड़ी शांति नहीं कहते हैं। शेष विधि लगभग तपागच्छ के समान है।[46]

त्रिस्तुतिक गच्छ– इस परम्परा में श्रुतदेवता आदि तीन की स्तुतियाँ एवं सज्झाय करते समय संसारदावानल की चौथी स्तुति 'आमूलालोलधूली'. नहीं बोलते हैं। शेष सम्पूर्ण-विधि तपागच्छ परम्परा के अनुसार ही करते हैं।[47]

चातुर्मासिक प्रतिक्रमण विधि

योगशास्त्र, प्रवचनसारोद्धार, सुबोधासामाचारी, तिलकाचार्य-सामाचारी, विधिमार्गप्रपा, आचारदिनकर, साधुविधिप्रकाश आदि में वर्णित चातुर्मासिक प्रतिक्रमण विधि इस प्रकार है–

चौमासी प्रतिक्रमण करते समय सम्पूर्ण विधि पाक्षिक प्रतिक्रमण के समान ही करते हैं लेकिन कायोत्सर्ग, क्षमायाचना, तपदान आदि के विषय में सामान्य अन्तर निम्न प्रकार है–

- प्रतिक्रमण इच्छुक यह ध्यान रखें कि जिस स्थान पर 'पक्खी' शब्द आता हो उस जगह 'चौमासी' शब्द कहें, जैसे कि– 'पडिक्कमे चउमासिअं सव्वं, चउमासी वइक्कंता, जो में चउमासिओ अइआरो' इत्यादि।
- पाक्षिक में बारह लोगस्स का कायोत्सर्ग करते हैं उस जगह बीस

लोगस्स अथवा अस्सी नवकार का कायोत्सर्ग करें।

• चौमासी प्रायश्चित्त हेतु एक बेला, दो उपवास, चार आयंबिल, छह नीवि, आठ एकासना, सोलह बियासणा अथवा चार हजार गाथाओं का स्वाध्याय करें।

(उपर्युक्त तप चौमासी प्रतिक्रमण करने के पूर्व या उसके बाद चार माह के भीतर कर लेना चाहिए। इतना तप करने से चातुर्मासिक दोषों की शुद्धि हो जाती है।)

• संबुद्धा क्षमायाचना करते समय सात से अधिक साधु हों तो स्थापनाचार्य के अतिरिक्त, पाँच साधुओं से अब्भुट्ठिओमि सूत्र पूर्वक क्षमायाचना करनी चाहिए।

• संबुद्धा, प्रत्येक एवं समाप्ति खामणा करते वक्त अब्भुट्ठिओमि खामणे के पाठ में 'चउण्हं मासाणं, अट्ठण्हं पक्खाणं, एक सौ बीस राइ-दिवसाणं जं किंचि अपत्तियं.' कहें।

(यदि पाँच महीने का चौमासा हो तो 'पंचण्हं मासाणं, दसण्हं पक्खाणं, एक सौ पचास राइ-दिवसाणं' कहना चाहिए।)

तपागच्छ आदि सभी परम्पराओं में चौमासी प्रतिक्रमण की विधि मिलती-जुलती है और वह उपर्युक्त जाननी चाहिए।[48]

सांवत्सरिक प्रतिक्रमण विधि

योगशास्त्र, प्रवचनसारोद्धार, सुबोधासामाचारी, विधिमार्गप्रपा, आचारदिनकर, साधुविधिप्रकाश आदि ग्रन्थों में प्रतिपादित एवं वर्तमान परम्परा में मान्य सांवत्सरिक प्रतिक्रमण-विधि निम्नोक्त है–

सांवत्सरिक प्रतिक्रमण भी पाक्षिक प्रतिक्रमण के समान ही किया जाता है। केवल आलापक, तपदान, क्षमायाचना आदि के सम्बन्ध में किंचित् भेद निम्न रूप से ज्ञातव्य है–

• संवत्सरी प्रतिक्रमण करते समय जिस स्थान पर 'पक्खी' शब्द आता हो वहाँ 'संवच्छरी' शब्द कहे। जैसे कि– 'संवच्छरी वइक्कंतो, जो मे संवच्छरीओ अइयारो कओ, संवच्छरीअं आलोऊं, पडिक्कमे संवच्छरीअं सव्वं' इत्यादि।

• पाक्षिक में बारह लोगस्स का कायोत्सर्ग करते हैं संवच्छरी प्रतिक्रमण में चालीस लोगस्स और एक नवकार का अथवा एक सौ साठ नवकार का कायोत्सर्ग करें।

• संवत्सर (वर्षभर) में हुए अपराधों एवं भूलों से आत्मा को विशुद्ध करने हेतु एक तेला, तीन उपवास, छह आयंबिल, नौ नीवि, बारह एकासना, चौबीस बिआसना अथवा छह हजार गाथाओं का स्वाध्याय करें।

• तीन उपवास परिमाण जितना तप करने से वर्षभर में किये गये सामान्य पाप नष्ट हो जाते हैं।

• संबुद्धा खामणा करते वक्त नौ से अधिक साधु हों तो स्थापनाचार्य के सिवाय सात मुनियों से अब्भुट्ठिओमिसूत्र पूर्वक क्षमायाचना करनी चाहिए।

• संबुद्धा, प्रत्येक एवं समाप्ति खामणा करते समय अब्भुट्ठिओमि पाठ के प्रारम्भ में 'बारहसण्हं मासाणं, चउवीसण्हं पक्खाणं, तीन सौ साठ राइ-दिवसाणं जं किंचि अपत्तिअं' कहे। यदि तेरह महीने होते हों तब 'तेरसण्हं मासाणं, छब्बीसण्हं पक्खाणं, तीन सौ नब्बे राइदिवसाणं' कहना चाहिए।

विधिमार्गप्रपा के अनुसार संवत्सरी प्रतिक्रमण में भवन देवता का कायोत्सर्ग नहीं करना चाहिए और स्तुति भी नहीं बोलनी चाहिए। वर्तमान में यह सामाचारी नियम कुछ परम्पराओं में मान्य है तो किसी में नहीं भी। विधिप्रपाकार के मतानुसार साधु-साध्वियों को संवत्सरी प्रतिक्रमण के पश्चात 'असज्झाय ओहडावणियं' का कायोत्सर्ग भी नहीं करना चाहिए। साथ ही पाक्षिक आदि तीनों पर्व दिनों में वर्धमान स्वामी (नमोऽस्तु वर्धमानाय) की तीनों स्तुतियाँ गुरु के द्वारा बोल दी जाए उसके पश्चात शेष सभी को पुनः बोलनी चाहिए।[49]

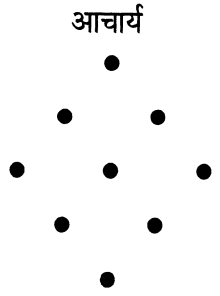
मण्डली स्थापना विधि

प्रतिक्रमण पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख होकर करना चाहिए। यदि पूर्वाभिमुख प्रतिक्रमण कर रहे हों तो उस दिशा में वत्साकार मंडली करनी चाहिए अर्थात प्रतिक्रमण करने वाले आचार्य आदि को उस आकार में बैठना चाहिए। विधिमार्गप्रपा में वत्साकार मंडल रचना की विधि दर्शाते हुए कहा है कि–

आयरिया इह पुरओ, दो पच्छा तिन्नि तयणु दो तत्तो ।
तेहिं पि पुणो इक्को, नवगण माणाइ मा रयणा ।।

प्रतिक्रमण मंडली में आचार्य सबसे आगे बैठें, फिर आचार्य के पीछे दो साधु बैठें, उन दो साधुओं के पीछे तीन साधु बैठें, उन तीन के पीछे पुनः दो साधु और दो के पीछे पुनः एक साधु बैठें– इस प्रकार नौ गण (समूह) परिमाण की यह रचना होती है।

वत्साकार रचना का यन्त्र इस प्रकार है–



वत्साकार मंडली में प्रतिक्रमण करने का हेतु यह है कि इससे तत्सम्बन्धी सर्व क्रियाएँ यथाविधि सम्पन्न की जा सकती है। साधु समुदाय अधिक हो तो वत्स आकार में एक साथ बैठने पर भी एक-दूसरे से दूरी रखी जा सकती है जिससे धर्म क्रिया में सुलभता रहती है। विशेषं तु ज्ञानीगम्यम्।

मुनियों के सात मंडली होती हैं– 1. सूत्र मंडली 2. अर्थ मंडली 3. भोजन मंडली 4. काल मंडली 5. आवश्यक मंडली 6. स्वाध्याय मंडली और 7. संथारा मंडली।[50]

साधुविधिप्रकाश के अनुसार उक्त सातों मण्डलियाँ वत्साकार में होनी चाहिए।[51]

स्थानकवासी परम्परा में प्रचलित पंच प्रतिक्रमण विधि

स्थानकवासी परम्परा में पाँचों प्रतिक्रमण की विधि एवं उसमें बोले जाने वाले सूत्रपाठ समान हैं। मुख्य अन्तर यह है कि सन्ध्याकालीन प्रतिक्रमण में देवसिय, देवसियो, देवसियं आदि शब्द का उच्चारण किया जाता है तथा प्रात:कालीन प्रतिक्रमण में राइय,राईयो, राइयं शब्दों का उच्चारण किया जाता है। इसी तरह पाक्षिक के दिन 'पक्खियो' आदि, चातुर्मास के दिन 'चउमासियं' आदि और संवत्सरी के दिन 'संवच्छरियो' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। आलोचना की शुद्धि निमित्त प्रत्येक प्रतिक्रमण में कायोत्सर्ग की संख्या भिन्न-भिन्न रहती है। यहाँ दैवसिक प्रतिक्रमण को मुख्य करके प्रतिक्रमण विधि प्रस्तुत करेंगे–

चउवीसत्थव करने की विधि

सर्वप्रथम पूंजनी द्वारा योग्य स्थान का प्रमार्जन एवं प्रतिलेखन कर आसन बिछाएँ। फिर सामायिक वेशभूषा में मुख पर मुखवस्त्रिका बांधें। फिर साधु-साध्वी हो तो उनके समक्ष अथवा ईशान कोण (पूर्व-उत्तर दिशा के मध्य की दिशा) की ओर मुख करके सीमंधर स्वामी को तीन बार विधिपूर्वक वन्दन करें। फिर 'दैवसिक प्रतिक्रमण चउवीसत्थव की आज्ञा है'– ऐसा कहें।

फिर नमस्कार मंत्र, (अथवा अरिहंतो महदेवो) इरियावहि, तस्सउत्तरी एवं अन्नत्थसूत्र कहकर 'इरियावहियाए' के पाठ का ध्यान करें। फिर 'नमो अरिहंताणं' ऐसा बोलकर ध्यान पूर्ण करें।

तत्पश्चात लोगस्ससूत्र का उच्चारण करें। फिर बायाँ घुटना ऊँचा करके एवं बद्धांजलि युक्त होकर दो बार 'णमुत्थुणं सूत्र' का पाठ करें। फिर दूसरी बार चउवीसत्थव के कायोत्सर्ग में 'लोगस्ससूत्र' का चिंतन करें।

प्रथम आवश्यक– तदनन्तर तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वन्दना करें। फिर 'दैवसिक प्रतिक्रमण की आज्ञा है'– इस प्रकार कहे। फिर इच्छामि णं भंते और नमस्कारमन्त्र का उच्चारण करें। तत्पश्चात तिक्खुत्तो पाठ से तीन बार वन्दन करने के बाद 'प्रथम आवश्यक करने की आज्ञा है'– ऐसा कहें।

प्रथम आवश्यक में करेमि भंते, इच्छामि ठामि और तस्स उत्तरी पाठ का उच्चारण कर कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग में निम्नोक्त 17 पाठों का चिंतन करें–

1. आगमे तिविहे का पाठ 2. दर्शन सम्यक्त्व का पाठ 3-14 बारहव्रत एवं पन्द्रह कर्मादान के अतिचारों का पाठ 15. संलेखना पाठ 16. अठारह पापस्थान का पाठ 17. इच्छामि ठामि सूत्र।

फिर 'नमो अरिहंताणं' कहकर ध्यान पूर्ण करें। इसी के साथ 'प्रथम सामायिक आवश्यक समत्तं' ऐसा भी कहें।

द्वितीय आवश्यक– तदनन्तर तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वंदना कर 'दूसरे आवश्यक की आज्ञा है'– ऐसा कहे।

इस आवश्यक में लोगस्स के पाठ का उच्चारण करें। फिर 'सामायिक-चउवीसत्थव दो आवश्यक समत्तं'– ऐसा कहे।

तृतीय आवश्यक– तत्पश्चात तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वंदना कर 'तीसरे आवश्यक की आज्ञा है'– ऐसा कहे।

इस आवश्यक में दोनों घुटने ऊँचे कर एवं बद्धांजलि युक्त होकर दो बार 'सुगुरुवंदन' का पाठ करें। फिर 'सामायिक चउवीसत्थव वंदन तीन आवश्यक समत्तं'– ऐसा कहें।

चतुर्थ आवश्यक– उसके बाद पुन: तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वंदना कर 'चौथे आवश्यक की आज्ञा है'– ऐसा कहें।

इस आवश्यक में पूर्वोक्त 17 पाठों का प्रकट उच्चारण करें। फिर तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वंदना कर 'श्रावक सूत्र की आज्ञा है' ऐसा कहकर 'तस्स सव्वस्स' का पाठ उच्चरित करें। तत्पश्चात दाहिना घुटना ऊँचा कर, दोनों हाथ जोड़कर एवं एक बार नमस्कार मंत्र का स्मरण कर निम्नोक्त 31 पाठों का उच्चारण करें–

1. करेमि भंते 2. चत्तारि मंगलं 3. इच्छामि ठामि 4. इरियावहियाए 5. आगमे तिविहे 6. दर्शन-सम्यक्त्व का पाठ 7-30 बारह व्रत के प्रतिज्ञा पाठ एवं उनके प्रत्येक के अतिचार पाठ 31. बृहद् संलेखना पाठ। फिर सम्यक्त्व मूलक बारह व्रत आदि में किसी तरह का दोष लगा हो, तो अनंत सिद्धों की साक्षी से मिथ्यादुष्कृत दें।

फिर अठारह पापस्थान और इच्छामि ठामि का पाठ बोलें। फिर खड़े होकर 'तस्स धम्मस्स' का पाठ उच्चरित करें। फिर दोनों घुटने ऊँचे कर एवं हाथ जोड़कर 'इच्छामि खमासमणो' का पाठ दो बार विधिपूर्वक उच्चरित करें। उसके बाद पुन: दोनों घुटनों को ऊँचा कर, मस्तक को भूमि पर स्पर्शित कर एवं दोनों हाथ जोड़कर पाँच पदों को वंदन करें।

तत्पश्चात 'अरिहंत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय, साधु– जो भगवान महावीर स्वामी की आज्ञा में विचरण कर रहे हैं, उन सभी को हमारी वंदना हो।' ऐसा कहकर आसन पर बैठकर 'अनंत चौवीसी' का पाठ बोलें।

फिर आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि से क्षमायाचना करने हेतु 'आयरिय उवज्झाए' का पाठ कहें। श्रावक-श्राविकाओं से क्षमायाचना करने हेतु 'अढाई द्वीप पन्द्रह क्षेत्र' का पाठ कहें। फिर 'चौरासी लाख जीवयोनि' का पाठ कहकर 'सर्व जीव राशि से क्षमायाचना' करने का पाठ उच्चरित करें।

पश्चात 'सामायिक, चउवीसत्थव, वंदन, प्रतिक्रमण– चार आवश्यक समत्तं'– ऐसा कहें।

पंचम आवश्यक– तदनन्तर तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वन्दन कर 'पाँचवें आवश्यक की आज्ञा है'– ऐसा कहें।

इस आवश्यक में 'दिवस सम्बन्धी ज्ञान दर्शन चरित्ताचरित्तं तप अतिचार पायच्छित्त विशोधनार्थं करेमि काउस्सग्गं' ऐसा कहकर नमस्कार मंत्र, करेमि भंते एवं इच्छामिठामि का पाठ पढ़कर चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करें। फिर 'णमो अरिहंताणं' बोलकर प्रकट में लोगस्ससूत्र कहें।

तत्पश्चात पूर्ववत मुद्रा करके 'इच्छामि खमासमणो' का पाठ दो बार उच्चारित करें। फिर 'सामायिक, चउवीसत्थव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग पाँच आवश्यक समत्तं'– ऐसा कहें।

षष्ठम आवश्यक– तदनन्तर तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वंदना कर 'छठे आवश्यक की आज्ञा है'– ऐसा कहें।

इस आवश्यक में खड़े होकर साधु-साध्वी की उपस्थिति हो तो शक्ति के अनुसार उनके मुखारविन्द से प्रत्याख्यान करें तथा उनकी अनुपस्थिति में 'समुच्चय पच्चक्खाण' के पाठ से प्रत्याख्यान करें।

फिर 'सामायिक, चउवीसत्थव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान छः आवश्यक समत्तं'– ऐसा कहें।

फिर अन्त में छः आवश्यक करते हुए जानते-अनजानते जो कोई दोष लगा हो तथा सूत्र पाठों का उच्चारण करते हुए अक्षर, पद, मात्रा, अनुस्वार आदि हीन या अधिक बोला हो, तो तस्स मिच्छामि दुक्कड़ं।

मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, अशुभ योग और कषाय – इन पाँचों का प्रतिक्रमण नहीं किया हो, तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अतीत काल का प्रतिक्रमण, वर्तमान काल का संवर और अनागत काल का प्रत्याख्यान– इन तीनों में किसी प्रकार का दोष लगा हो, तो तस्स मिच्छामि दुक्कड़ं।

थई थुई मंगलं, हियाए सुहाए खमाए निसेसाए भविजिणं च– तस्स मिच्छामि दुक्कडं। फिर बद्धांजलि युक्त होकर एवं बायाँ घुटना ऊँचा करके दो बार नमुत्थुणंसूत्र बोलें। तत्पश्चात सीमंधर स्वामी, वर्तमान आचार्य एवं उपस्थित साधु-साध्वी को तिक्खुत्तो पाठ से विधियुत वंदन करें। फिर विद्यमान श्रावक-श्राविकाओं से क्षमायाचना करें। तदनन्तर चौवीसी स्तवन का उच्चारण करें।

रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं सावत्सरिक प्रतिक्रमण की विधि भी पूर्ववत ही जाननी चाहिए। केवल पापों की शुद्धि निमित्त किये जाने वाले कायोत्सर्ग की संख्या में भिन्नता है।[52]

तेरापंथी परम्परा में प्रचलित पंच प्रतिक्रमण विधि

स्थानकवासी परम्परा के समान तेरापंथी परम्परा में भी पाँचों प्रतिक्रमण की विधि एक ही है और उन सभी में कहे जाने वाले सूत्रपाठ भी समान हैं। दूसरा, स्थानकवासी और तेरापंथी दोनों परम्पराओं की प्रतिक्रमण विधि में भी परस्पर समरूपता है केवल भिन्न-भिन्न सामाचारी की दृष्टि से कुछ मौलिक अन्तर देखे जाते हैं जो स्वाभाविक है।

इस परम्परा में भी पूर्ववत भिन्न-भिन्न प्रतिक्रमणों के अनुसार सूत्र पाठों में देवसिक, राइय, पक्खिय आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है शेष विधि और पाठ सभी प्रतिक्रमणों में समान हैं।

तीसरा, आलोचना शुद्धि के कायोत्सर्ग प्रत्येक प्रतिक्रमण में भिन्न-भिन्न होते हैं। यहाँ प्रतिक्रमण विधि का निरूपण दैवसिक प्रतिक्रमण को लक्षित करके किया जायेगा। शेष रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण की विधि उसी के समान समझें।

श्रावक की अपेक्षा

प्रतिक्रमण की पूर्व विधि

सर्वप्रथम मन, वचन एवं काया को स्थिर कर तिक्खुत्तो के पाठ से गुरु को तीन बार वन्दन करें। फिर चतुर्विंशतिस्तव की अनुमति लेकर ईर्यापथिकसूत्र तथा कायोत्सर्ग प्रतिज्ञासूत्र का उच्चारण कर लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करें। फिर 'नमो अरिहंताणं' कहकर कायोत्सर्ग पूर्ण करें।

उसके बाद 'चतुर्विंशतिस्तव' पाठ का उच्चारण कर दाएं घुटने को भूमि पर टिकाते हुए एवं बाएं घुटने को भूमि से चार अंगुल ऊँचा रखकर 'शक्रस्तव' का पाठ कहे।

प्रथम आवश्यक– तदनन्तर तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वन्दन कर प्रतिक्रमण की आज्ञा लें और 'मत्थएण वंदामि' पूर्वक प्रथम सामायिक आवश्यक की आज्ञा'– ऐसा कहे।

सामायिक आवश्यक में खड़े होकर प्रतिक्रमण प्रतिज्ञा, नमस्कार सूत्र, मंगल सूत्र, सामायिक प्रतिज्ञा, प्रायश्चित्त सूत्र एवं कायोत्सर्ग प्रतिज्ञा का पाठ बोलकर कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग में निम्न सूत्रों का चिन्तन करें–

ज्ञान के अतिचार, दर्शन के अतिचार, चारित्र के अतिचार, संलेखना के अतिचार, पापस्थान, प्रायश्चित्त सूत्र, फिर नमस्कार सूत्र कहकर ध्यान पूर्ण करें।

द्वितीय आवश्यक– तत्पश्चात 'मत्थएण वंदामि द्वितीय चतुर्विंशति-स्तव आवश्यक की आज्ञा'– ऐसा कहकर चतुर्विंशतिस्तव पाठ का उच्चारण करें।

तृतीय आवश्यक– उसके बाद 'मत्थएण वंदामि तृतीय वंदना आवश्यक की आज्ञा'– ऐसा कहकर दो बार सुगुरु वंदना सूत्र का विधिवत उच्चारण करें।

चतुर्थ आवश्यक– उसके पश्चात 'मत्थएण वंदामि चतुर्थ प्रतिक्रमण आवश्यक की आज्ञा'– ऐसा कहें। फिर दायें घुटने को ऊँचा रखते हुए दोनों हाथ जोड़कर निम्न पाठों का उच्चारण करें–

1. आलोचनासूत्र (सव्वस्सवि देवसिय), 2. प्रायश्चित्तसूत्र (इच्छामिठामि), 3. ईर्यापथिकसूत्र (इरियावहि), 4. ज्ञान, दर्शन, चारित्र का स्वरूप एवं उनके अतिचार (चारित्र के अन्तर्गत बारहव्रत का स्वरूप और उनके अतिचार पाठों का समावेश होता है) 5. संलेखना का स्वरूप और उसके अतिचार का पाठ 6. अभ्युत्थान सूत्र में 'अब्भुट्ठिओमि' शब्द आते ही खड़े होकर 'विरओमि विराहणाए' आदि शेष पाठ कहें। उसके बाद खड़े रहकर क्षमायाचना सूत्र एवं जीव योनि का पाठ कहें।

पंचम आवश्यक– तदनन्तर 'मत्थएण वंदामि पंचम कायोत्सर्ग आवश्यक की आज्ञा'– ऐसा कहें। फिर खड़े होकर कायोत्सर्ग संकल्प सूत्र, प्रायश्चित्त सूत्र एवं कायोत्सर्ग प्रतिज्ञा पाठ बोलकर चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करें। फिर नमस्कार सूत्र कहकर लोगस्ससूत्र का प्रकट उच्चारण करें तथा एक बार 'वंदन सूत्र' के पाठ का उच्चारण करें।

षष्ठम आवश्यक– तत्पश्चात 'मत्थएण वंदामि षष्ठम प्रत्याख्यान आवश्यक की आज्ञा'– ऐसा कहें। उसके बाद अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान काल की सामायिक और भविष्य काल का प्रत्याख्यान करता हूँ, ऐसा कहकर यथाशक्ति दैवसिक और रात्रिक में एक दिन तक, पाक्षिक में एक पक्ष तक,

चातुर्मासिक में चार मास तक तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में एक वर्ष तक कोई प्रत्याख्यान करें। फिर सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान- इन छहों आवश्यकों में जानते-अनजानते जो कोई दोष लगा हो तथा पाठ का उच्चारण करते समय मात्रा, अनुस्वार, अक्षरहीन, अधिक, आगे-पीछे कहा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं- ऐसा कहें।

ऐसा कहकर पूर्वोक्त विधि से दो बार 'शक्र स्तुति' कहें। दूसरी बार 'शक्र स्तुति' बोलते समय 'ठाणं संपत्ताणं' के स्थान पर 'ठाणं संपाविउकामाणं' ऐसा कहें। उसके बाद 'मैं सिद्धों को नमस्कार करता हूँ, अरिहंतो को नमस्कार करता हूँ, वर्तमान आचार्य को नमस्कार करता हूँ ' ऐसा कहें। उसके पश्चात पाँच बार नमस्कार मन्त्र का उच्चारण करें। रात्रिक प्रतिक्रमण में पाँच बार नमस्कार सूत्र का पाठ चतुर्विंशतिस्तव की आदि में करें और परमेष्ठी वंदना के पाठ से प्रतिक्रमण समाप्त करें।[53]

श्रमण की अपेक्षा

तेरापंथ परम्परा के साधु-साध्वियों से सम्बन्धित पाँचों प्रतिक्रमण की विधियाँ एवं उन सभी में कहे जाने वाले सूत्र एक समान हैं। इनमें कायोत्सर्ग आदि के सामान्य अन्तर पूर्ववत जानने चाहिए। इस परम्परा में प्रचलित दैवसिक प्रतिक्रमण विधि निम्न प्रकार है-

प्रतिक्रमण प्रारम्भ की पूर्व विधि

सर्वप्रथम गुरु के सम्मुख अथवा ईशान कोण में मुँह करके बैठें। फिर ईर्यापथिकसूत्र एवं तस्सउत्तरी सूत्र कहकर एक लोगस्स का ध्यान करें। फिर कायोत्सर्ग पूर्णकर लोगस्ससूत्र का प्रकट उच्चारण करें। फिर पूर्वोक्त मुद्रा में स्थित होकर शक्रस्तव बोलें।

प्रथम आवश्यक- उसके बाद पहले आवश्यक में खड़े होकर नमस्कारसूत्र, सामायिकसूत्र, प्रतिक्रमणसूत्र एवं कायोत्सर्गसूत्र कहकर कायोत्सर्ग में निम्न सूत्रों का चिंतन करें-

1. ज्ञानातिचार सूत्र 2. दर्शनातिचारसूत्र 3. चारित्रातिचार सूत्र 4. प्रतिक्रमण सूत्र 5. नमस्कार सूत्र।

द्वितीय आवश्यक- इस आवश्यक में चतुर्विंशतिस्तव का उच्चारण करें।

तृतीय आवश्यक– इस आवश्यक में दो बार सुगुरुवंदन सूत्र का विधिवत उच्चारण करें।

चतुर्थ आवश्यक– तदनन्तर चतुर्थ आवश्यक की आज्ञा लें। फिर दोनों हाथ जोड़कर दाएं घुटने को ऊँचा रखते हुए निम्न पाठ बोलें– 1. ज्ञानातिचारसूत्र 2. दर्शनातिचारसूत्र 3. चारित्रातिचारसूत्र 4. प्रतिक्रमणसूत्र 5. तस्स सव्वस्ससूत्र 6. नमस्कारसूत्र 7. सामायिकसूत्र 8. मंगलसूत्र 9. प्रतिक्रमणसूत्र 10. ईर्यापथिकसूत्र 11. शय्या-अतिचार प्रतिक्रमणसूत्र 12 गोचर्या अतिचार प्रतिक्रमणसूत्र 13. स्वाध्याय आदि अतिचार प्रतिक्रमणसूत्र 14. एकविध आदि अतिचार प्रतिक्रमणसूत्र 15. निग्रन्थ प्रवचन में स्थिरीकरण सूत्र 16. क्षमायाचनासूत्र। फिर दो बार सुगुरुवंदन सूत्र बोलते हुए विधिवत वन्दन करें। फिर पाँच पदों को वन्दन करें। क्षमायाचनासूत्र कहें और चौरासी लाख जीवयोनि का पाठ उच्चरित कर शुद्ध भावों से क्षमायाचना करें।

पंचम आवश्यक– फिर पाँचवे आवश्यक की आज्ञा लें और दैवसिक अतिचार की विशुद्धि निमित्त खड़े होकर नमस्कारसूत्र, सामायिक सूत्र, प्रतिक्रमणसूत्र, कायोत्सर्गसूत्र कहकर चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करें। फिर नमस्कारसूत्र बोलकर लोगस्ससूत्र का प्रकट उच्चारण करें तथा दो बार वन्दनसूत्र के पाठ का विधिपूर्वक उच्चारण करें।

षष्ठम आवश्यक– तत्पश्चात छठे प्रत्याख्यान आवश्यक की आज्ञा लें। उसके बाद 'अतीत काल का प्रतिक्रमण, वर्तमान काल का सामायिक और भविष्य काल का प्रत्याख्यान करता हूँ' ऐसा कहकर यथाशक्ति प्रत्याख्यान करें। फिर छह आवश्यक में लगे दोषों का मिच्छामि दुक्कडं दें। उसके बाद पूर्वोक्त विधि से दो बार शक्रस्तव कहें।

कुछ नियम– 1. तेरापंथ सामाचारी के अनुसार प्रतिक्रमण कर्त्ता दैवसिक या रात्रिक में चार, पाक्षिक में बारह, चातुर्मासिक में बीस और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में चालीस लोगस्स का ध्यान करें।

2. किसी भी ध्यान या कायोत्सर्ग को पूर्ण करने के पश्चात एक लोगस्स का प्रकट उच्चारण करें।

3. प्रत्येक कायोत्सर्ग की सम्पन्नता नमस्कारमंत्र के स्मरण पूर्वक करें।

4. छठे आवश्यक के अंत में दो बार 'नमुत्थुणंसूत्र' का पाठ बोलते हैं।

इसमें पहला सिद्ध भगवान के प्रति और दूसरा अरिहंत के प्रति कहा जाता है।[54]

दिगम्बर परम्परा में प्रचलित पंच प्रतिक्रमण विधि

दिगम्बर परम्परा में रात्रिक एवं दैवसिक प्रतिक्रमण की विधि एवं उन सभी से सम्बन्धित सूत्रपाठ एक समान हैं। प्राप्त जानकारी के अनुसार दिगम्बर संघ में प्रतिक्रमण की परम्परा साधु-साध्वियों में ही देखी जाती है, गृहस्थ वर्ग में उसका अभाव है। अत: यहाँ श्रमण की अपेक्षा एवं रात्रिक प्रतिक्रमण को मुख्य करके प्रतिक्रमण विधि कही जा रही है–

सर्वप्रथम स्वाध्याय प्रतिष्ठापन और स्वाध्याय निष्ठापन विधि करें। उसके बाद 'हुम्बुज श्रमण भक्ति संग्रह' के अनुसार क्रमश: प्रतिज्ञासूत्र, उद्देश्यसूत्र, संकल्पसूत्र, रागपरित्यागसूत्र, पश्चात्तापसूत्र बोलें।

प्रथम आवश्यक– फिर 'सर्वातिचार विशुद्ध्यर्थं रात्रिक प्रतिक्रमण-क्रियायां, कृत दोष निवारणार्थं पूर्वाचार्यानुक्रमेण, सकलकर्मक्षयार्थं भाव पूजा-वन्दना स्तव समेतं आलोचना सिद्ध भक्ति कायोत्सर्गं कुर्वेऽहं।'

इतना पाठ बोलकर नमस्कार करें तथा तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करके निम्न सामायिक दण्डक पढ़ें–

1. नमस्कारमन्त्र 2. मंगलसूत्र चत्तारिमंगलं 3. अड्ढाईज्जेसु, णमुत्थुणं, करेमि भंते एवं अन्नत्थसूत्र– इन चारों सूत्रों के सम्मिलित स्वरूप को दर्शाने वाला सूत्र।

द्वितीय आवश्यक– तदनन्तर तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करके 27 उच्छ्वास पूर्वक कायोत्सर्ग करें। पश्चात नमस्कार कर तीन आवर्त्त और एक शिरोनति पूर्वक चतुर्विंशतिस्तव पढ़ें।

चतुर्थ आवश्यक– तत्पश्चात तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करके क्रमश: निम्न पाठ पढ़ें– 1. मुख्य मंगल 2. सिद्ध भक्ति 3. आलोचना पाठ 4. प्रतिक्रमण पीठिका दण्डक 5. छेदोवट्ठावणं होउ मज्झं प्रतिज्ञासूत्र।

फिर भूमि स्पर्श करते हुए नमस्कार करें। पश्चात तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करके पुन: सामायिक दण्डक पढ़ें और उसकी पूर्णता पर तीन आवर्त्त एवं एक शिरोनति करके 27 उच्छ्वास का कायोत्सर्ग करें।

पश्चात भूमिस्पर्श करते हुए नमस्कार करें। फिर पुन: तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करके चतुर्विंशतिस्तव पढ़ें।

उसके बाद तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करके तीन बार नमस्कार मन्त्र का स्मरण कर 'णमो जिणाणं णमो जिणाणं' ऐसा निषिद्ध दण्डक पढ़ें।

फिर रात्रि या दिवससम्बन्धी दोष आलोचना का पाठ पढ़ें। इसी के साथ सार्वकालिक दोषों की आलोचना का दण्डक भी पढ़ें।

पंचम आवश्यक– तदनन्तर वीरभक्ति के नामोच्चारण पूर्वक कायोत्सर्ग की आलोचना का पाठ पढ़ें तथा 'छेदोवट्ठावणं होउ मज्झं'– इस पाठ के द्वारा संकल्प करें।

फिर भूमिस्पर्श करते हुए नमस्कार करें। पश्चात तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करके पूर्ववत सामायिक दण्डक पढ़ें। पुनः तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करके रात्रिक प्रतिक्रमण में 54 उच्छ्वास पूर्वक दो कायोत्सर्ग और दैवसिक प्रतिक्रमण में 108 उच्छ्वास पूर्वक चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करें।

तत्पश्चात भूमि स्पर्श पूर्वक नमस्कार करते हुए पुनः तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करके चतुर्विंशतिस्तव पढ़ें।

षष्ठम आवश्यक– तत्पश्चात पुनः तीन आवर्त्त और एक शिरोनति कर वीरभक्ति पढ़ें। फिर 'छेओवट्ठावणं होउ मज्झं'– इस पाठ द्वारा प्रतिज्ञा करें। फिर भूमिस्पर्श पूर्वक नमस्कार करते हुए तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करके पूर्ववत सामायिक दण्डक पढ़ें।

पश्चात तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करके 27 उच्छ्वास का एक कायोत्सर्ग करें। फिर भूमिस्पर्श पूर्वक नमस्कार करके पुनः तीन आवर्त्त और एक शिरोनति कर पूर्ववत चतुर्विंशतिस्तव पढ़ें। फिर पुनः तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करके 'चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति' पढ़ें।

तदनन्तर अनुक्रमशः अञ्चलिका, छेओवट्ठावणं होउ मज्झं (प्रतिज्ञा सूत्र), अथेष्ट प्रार्थना एवं आलोचना पाठ पढ़कर प्रतिक्रमण समाप्त करें।[55]

दिगम्बर परम्परा मान्य पाक्षिकादि प्रतिक्रमण विधि

हुम्बुजश्रमणभक्तिसंग्रह के अनुसार पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करने वाले साधक सर्वप्रथम लघुसिद्ध भक्ति, श्रुतभक्ति एवं आचार्य भक्ति द्वारा वर्तमान आचार्य को वन्दन करें। तत्पश्चात 'समता सर्व भूतेषु' इत्यादि पाठ बोलें तथा तीन आवर्त्त, एक शिरोनति करके 27 उच्छ्वास पूर्वक कायोत्सर्ग करें। अनन्तर नमस्कार करके पुनः तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करके चतुर्विंशतिस्तव पढ़ें।

तदनन्तर पुनः तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करके बृहद्सिद्ध भक्ति अञ्चलिका सहित पढ़ें। उसके बाद पुनः आवर्त्त विधि, सामायिक दण्डक एवं 'थोस्सामि स्तव' आदि कहकर आलोचना पाठ पूर्वक चारित्र भक्ति बोलें। फिर बृहद् आलोचना का पाठ बोलें। इसी क्रम में आचार्य भगवन्त लघुसिद्ध भक्ति, लघु योगिभक्ति, कायोत्सर्ग आदि करके अरिहंत परमात्मा के समक्ष अपने दोषों की आलोचना करें तथा अपराध के अनुसार स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण करते हुए शिष्यों को भी योग्य प्रायश्चित्त दें।

उसके पश्चात गुरु भक्ति का पाठ बोलकर कायोत्सर्ग करें। तदनन्तर शिष्य वर्ग आचार्य के सम्मुख तीन बार 'छेदोवट्ठावणं होदु मज्झं' का पाठ कहें। फिर प्रतिक्रमण भक्ति पूर्वक 27 उच्छ्वासों का कायोत्सर्ग कर थोस्सामि दण्डक पढ़ें।

तदनन्तर आचार्य गणधर वलय का पाठ पढ़ें। उसके बाद आचार्य प्रतिक्रमण दण्डक (पाक्षिकसूत्र) बोलें और शिष्य गण कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित रहकर सुनें।

फिर वीरभक्ति आदि पाठ बोलकर पाक्षिक प्रतिक्रमण में 300, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में 400 तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में 500 श्वासोश्वास का कायोत्सर्ग कर प्रकट में चतुर्विंशतिस्तव कहें। तत्पश्चात शान्ति चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति' आदि पाठ बोलकर 27 श्वासोश्वास का कायोत्सर्ग करें तथा प्रकट में लोगस्ससूत्र एवं कुछ भक्तियाँ पढ़ते हुए पूर्ववत 'नमो अरिहंताणं' इत्यादि दण्डक बोलकर कायोत्सर्ग करें। उसके बाद सर्व अतिचारों की विशुद्धि के 'लघु चारित्र आलोचना का पाठ' पढ़ें तथा पूर्ववत 'नमो अरिहंताणं' इत्यादि दण्डक बोलकर 27 उच्छ्वासों का कायोत्सर्ग करें।

तदनन्तर 'मध्यम आचार्य भक्ति' एवं 'बृहद् आलोचना पाठ' बोलकर पूर्ववत 27 उच्छ्वासों का कायोत्सर्ग करें। उसके पश्चात 'लघु आचार्य भक्ति' एवं 'क्षुल्लक आलोचना पाठ' पढ़कर पूर्ववत 27 उच्छ्वासों का कायोत्सर्ग करें।

उसके बाद 'समाधि भक्ति' पढ़कर कायोत्सर्ग करें। इसी क्रम में 'सिद्धभक्ति' पढ़कर कायोत्सर्ग करें तथा 'आचार्य भक्ति' पढ़कर कायोत्सर्ग करें और आचार्य को वन्दन करें।

इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण के अन्तर्गत 27

उच्छ्वासों (कायोत्सर्ग) पूर्वक 17-18 भक्ति पाठ, बृहद् आलोचना पाठ, लघु आलोचना पाठ, प्रतिक्रमण दण्डक आदि बोले जाते हैं।

श्वेताम्बर और दिगम्बर प्रतिक्रमण के पाठों की तुलना

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्पराओं में प्रतिक्रमण के जो पाठ उपलब्ध हैं वे किंचिद् भेद के साथ दिगम्बर परम्परा की प्रतिक्रमण विधियों में भी प्राप्त होते हैं। जैसे–

1. दिगम्बर परम्परावर्ती प्रतिक्रमण विधि का 'पश्चात्तापसूत्र' श्वेताम्बर परम्परा के सामायिक पारने के सूत्र में गुम्फित 'जं जं मणेण चिंतिय' वाली गाथा एवं इरियावहिसूत्र के समकक्ष हैं।
2. दिगम्बर परम्परावर्ती प्रतिक्रमण विधि का 'सामायिक दण्डक' श्वेताम्बर परम्परा के मंगल पाठ (चत्तारिमंगलं), अड्ढाईज्जेसु, करेमिभंते एवं अन्नत्थसूत्र से क्रमशः मिलते जुलते हैं।
3. दिगम्बर परम्परागत आलोचना पाठ का प्रारम्भिक अंश श्वेताम्बर मान्य 'इच्छामिठामि' (आलोचनासूत्र) से तथा उसका परवर्ती भाग श्वेताम्बर प्रसिद्ध 'इरियावहि पाठ' के सदृश है।
4. दिगम्बर आम्नायवर्ती 'प्रतिक्रमण पीठिका दण्डक' के पृथक्-पृथक् अंश श्वेताम्बर के पाक्षिकसूत्र, पगामसिज्झाय और ईरियावहि सूत्र के समान हैं।
5. दिगम्बर परम्परा का 'प्रतिक्रमण दण्डक' श्वेताम्बर के पाक्षिकसूत्र से मिलता-जुलता है तथा लघु एवं बृहद् आलोचना पाठ भी श्वेताम्बर के आलोचना (अतिचार) पाठ से मिलते हैं।[56]

इसी तरह अन्य सूत्र पाठों में भी समानताएँ हैं।

बौद्ध परम्परा और प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण दोष मुक्ति की साधना है। यदि तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाए तो अवगत होता है कि जैन परम्परा की भाँति अन्य परम्पराओं में भी पाप मुक्ति के अलग-अलग उपाय बताये गये हैं। जहाँ तक जैन धर्म के समकालीन बौद्ध धर्म का प्रश्न है वहाँ 'प्रतिक्रमण' इस शब्द का उल्लेख तो प्राप्त नहीं होता है, किन्तु इसके स्थान पर ये तीन नाम मिलते हैं– 1. प्रतिकर्म 2. प्रवारणा और 3. पाप देशना।

बौद्ध मान्यतानुसार प्रतिकर्म का अर्थ है- पूर्वकृत दोषों का पुनरावर्तन न करना, असत्कर्म नहीं करना अथवा आत्म स्वभाव के प्रतिकूल आचरण नहीं करना।

पापदेशना का अर्थ है- स्वयं के द्वारा किये गये दुराचरणों की आलोचना करना। बुद्धवचन है कि जीवन की निर्मलता एवं दोष रहितता के लिए पाप देशना आवश्यक है। पापमय आचरण का पश्चात्ताप पूर्वक प्रगटन करने से व्यक्ति पाप के भार से हल्का हो जाता है और खुला हुआ यानी आत्म भावों से पृथक् हुआ पाप कभी चिपकता नहीं है।[57] बौद्ध संघाचार्य शान्तिदेव ने पापदेशना के रूप में दिन और रात्रि में तीन-तीन बार प्रतिक्रमण का निर्देश किया है। वे कहते हैं कि तीन बार रात्रि में और तीन बार दिन में त्रिस्कन्ध अर्थात पापदेशना, पुण्यानुमोदना और बोधि परिणामना की आवृत्ति करनी चाहिए। इससे अनजान में हुई आपत्तियों का उससे शमन हो जाता हैं।[58]

प्रवारणा का शाब्दिक अर्थ है- कृत पापों का विशेष प्रकार से निषेध करना अथवा सर्वथा प्रकार से दूर करना। बोधिचर्यावतार में पापदेशना के प्रकृति सावद्य और प्रज्ञप्ति सावद्य ये दो प्रकार बताये गये हैं। प्रकृतिसावद्य वह है, जो स्वभाव से ही निन्दनीय है, जैसे हिंसा, असत्य, चोरी आदि और प्रज्ञप्ति सावद्य है- व्रत ग्रहण करने के पश्चात उसका भंग करना, जैसे- विकाल भोजन, अब्रह्म सेवन, अदत्तग्रहण, परिग्रह संचय आदि। बौद्ध-परम्परा में उक्त दोनों प्रकार के दुराचरणों का प्रतिक्रमण किया जाता है। जैन-परम्परा में भी प्रकृति सावद्य और प्रज्ञप्ति सावद्य का ही प्रतिक्रमण किया जाता है। डॉ. सागरमल जैन के चिन्तन प्रधान आलेख के अनुसार पच्चीस मिथ्यात्व, चौदह ज्ञानातिचार और अठारह पापस्थान का आचरण अथवा मूलगुणों का भंग करना प्रकृति सावद्य है, क्योंकि इनसे दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप साधना मार्ग का मूलोच्छेद होता है। गृहस्थ और श्रमण जीवन के गृहीत व्रतों में लगने वाले दोष या स्खलनाएँ प्रज्ञप्ति सावद्य है।[59]

बौद्ध-दर्शन में प्रवारणा की तुलना जैनों के पाक्षिक प्रतिक्रमण से की गई है। प्रवारणा की विधि इस प्रकार है- वर्षावास के पश्चात भिक्षु-भिक्षुणी संघ एकत्रित होता है और सभी अपने कृत अतिचारों के सम्बन्ध में गहराई से

अनुचिन्तन करते हैं कि विगत वर्षावास में क्या-क्या अपराध हुए? गृहीत नियम किस-किस तरह से खंडित हुए? किन परिस्थितियों में आचरणीय का सेवन किया? आदि। इस समय स्वयं द्वारा दृष्ट, श्रुत, परिशंकित एवं परिज्ञात दुष्कृत्यों का विशोधन किया जाता है।[60]

सर्वप्रथम वरिष्ठ भिक्षु अपने संघ में सूचना देता है कि 'आज प्रवारणा है।' फिर अपने कंधे पर उत्तरासंग (दुपट्टा) को धारण कर एवं कुर्क्कुट आसन में बैठकर बद्धांजलि पूर्वक संघ से निवेदन करता है कि– 'मैं दुष्ट, श्रुत एवं परिशंकित अपराधों का पश्चात्ताप पूर्वक आलोचन कर रहा हूँ, संघ मेरे दुष्कृत्यों को बताए, मैं उनका स्पष्टीकरण करूंगा।' इस बात को तीन बार दोहराया जाता है। तत्पश्चात उससे कनिष्ठ भिक्षु, फिर क्रमशः सभी भिक्षु अपने कृत पापों को प्रकट करते हैं। इस प्रकार प्रवारणा से पाक्षिक शुद्धि की जाती है। इस मत में यही पाक्षिक प्रतिक्रमण कहलाता है।[61]

सामान्यतः प्रवारणा कार्तिक मास की चतुर्दशी या पूर्णिमा के दिन करते हैं इस विधि-प्रक्रिया में पूर्वकाल में कम से कम पाँच भिक्षुओं का एकत्र होना आवश्यक माना गया था। फिर कालक्रम से चार, तीन, दो एवं अब एक भिक्षु भी प्रवारणा कर सकता है– ऐसी अनुमति दी गई है। इनके नियमानुसार विशेष स्थिति में अपराधों का प्रकटन (प्रवारणा) अति संक्षेप में और अन्य समय में भी की जा सकती है, किन्तु यह विधान आपवादिक एवं परवर्ती है।

बौद्ध आचार-संहिता में प्रवारणा के लिए यह भी आवश्यक माना गया है कि वह संघ के सान्निध्य में ही होनी चाहिए। जैन परम्परा में भी वर्तमान में सामूहिक प्रतिक्रमण की प्रणाली देखने में आती है।

आदरणीय डॉ. सागरमल जैन ने अपने अमूल्य शोध ग्रन्थ में प्रस्तुत विषय पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में प्रतिक्रमण के समय पर आचार नियमों का पाठ किया जाता है और नियम भंग या दोषाचरण के लिए पश्चात्ताप प्रकट किया जाता है। बौद्ध-परम्परा की विशेषता यह है कि उसमें प्रवारणा के समय वरिष्ठ भिक्षु आचरण के नियमों का पाठ करता है और प्रत्येक नियम के पाठ के पश्चात उपस्थित भिक्षुओं से इस बात की अपेक्षा करता है कि जिस भिक्षु ने किसी भी नियम का भंग किया हो वह संघ के समक्ष उसे प्रकट कर दें।

जैन-परम्परा में आचरित दोषों के प्रायश्चित्त के लिए गुरु अथवा गीतार्थ मुनि से निवेदन (आलोचन) तो किया जाता है, लेकिन संघ के समक्ष अशुभाचरण को प्रकट करने की परम्परा उसमें नहीं है। सम्भवत: संघ के समक्ष दोषों को प्रकट करने से दोषी भिक्षु या भिक्षुणी की बदनामी या अवहेलना की सम्भावना को ध्यान में रखकर ही ऐसा विधान किया गया प्रतीत होता है। इतना ही नहीं, जैन परम्परा संघ की अपेक्षा किसी योग्य साधक के समक्ष ही पाप आलोचन की अनुमति देती है।[62] जैन साहित्य में आलोचना कर्त्ता एवं आलोचना दाता किन गुणों से युक्त हो, इसका निर्देश भी किया गया है। इसका तात्पर्य है कि विशिष्ट गुण सम्पन्न गुरु के समक्ष ही आलोचना की जा सकती है और विशिष्ट गुणी ही आलोचना कर सकता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म में प्रकारान्तर से प्रतिक्रमण की व्यवस्था सजीव है।

वैदिक परम्परा और प्रतिक्रमण

वैदिक परम्परा में प्रतिक्रमण के समान सन्ध्या कर्म का विधान है, जो प्रात: एवं सायं दोनों समय किया जाता है। सन्ध्या का सामान्य अर्थ है सम् – उत्तम प्रकार से, ध्यै – ध्यान करना यानी विशिष्ट प्रकार से इष्ट देव का करना। द्वितीय अर्थ के अनुसार दिन और रात्रि की सन्धि-वेला में किया जाने वाला धार्मिक अनुष्ठान सन्ध्या कर्म कहलाता है। इस निर्वचन के अनुसार संध्या कृत्य में यजुर्वेद के मंत्र (विष्णुमंत्र) द्वारा शरीर पर जल छिड़क कर उसे पवित्र बनाने का उपक्रम किया जाता है। फिर पृथ्वी माता की स्तुति से अभिमंत्रित कर जलाच्छोटन द्वारा आसन को पवित्र किया जाता है। उसके पश्चात सृष्टि के उत्पत्तिक्रम पर विचार किया जाता है। इस समय सूर्य को जल के द्वारा तीन बार अर्घ्य दिया जाता है। प्रथम अर्घ्य में तीन राक्षसों की सवारी का, दूसरे में राक्षसों के शस्त्रों का और तीसरे में राक्षसों के नाश की कल्पना की जाती है। तदनन्तर गायत्री मन्त्र पढ़ा जाता है। इन स्तुतियों में जल छिड़कने की भी प्रथा है।[63]

आदरणीय डॉ. सागरमल जैन के अनुसार वैदिक परम्परा के सन्ध्या कर्म में एक मन्त्र उस प्रकार का बोला जाता है, जो जैन प्रतिक्रमण विधि का संक्षिप्त रूप मालूम होता है। उस मन्त्र का उच्चारण करते हुए साधक यह संकल्प करता है कि मैं आचरित पापों के क्षय के लिए परमेश्वर के प्रति इस उपासना को

सम्पन्न करता हूँ। यजुर्वेद के इस मन्त्र का पाठार्थ है कि 'मेरे मन, वाणी और शरीर से जो भी दुराचरण हुआ हो, उसका मैं विसर्जन करता हूँ।'

इस प्रकार हिन्दू धर्म में प्रचलित सन्ध्या कर्म एक दृष्टि से प्रतिक्रमण का ही मिलता-जुलता रूप है।[64]

अन्य परम्पराएँ और प्रतिक्रमण

इस विश्व की जन प्रचलित अधिकांश परम्पराओं में प्रतिक्रमण के सांकेतिक उल्लेख प्राप्त होते हैं जैसे–पारसी धर्म के मुख्य ग्रन्थ खोरदेह अवस्ता में कहा गया है कि मैंने मन से बुरे विचार किये हों, वाणी से तुच्छ भाषण किया हो और शरीर से हल्का कार्य किया हो, जो भी मैंने दुष्कृत्य किये हों मैं उन सबके लिए पश्चात्ताप करता हूँ। इसी के साथ अहंकार, मृत लोगों की निन्दा, लोभ, लालच, तीव्र रोष, ईर्ष्या, स्वच्छन्दता, आलस्य, कानाफूसी, झूठी गवाही, चौर्यकर्म, व्यभिचार, दुर्विचार आदि जो भी गुनाह मुझसे जानते-अनजानते हुए हों और जिन दुष्कृत्यों को निश्चल भाव से प्रकट न किया हो उन सबसे मैं पवित्र होकर अलग होता हूँ।' इस प्रकार पाप को प्रकट कर दोषों से मुक्त होने का उपाय बतलाया गया है, जो प्रतिक्रमण के किंचिद् समरूप है।[65]

ईसाई धर्म में पाप मुक्ति के लिए 'कन्फेशन क्रिया' का विधान है। इसका अभिप्राय आचरित दुष्कृत्यों को स्वीकार करते हुए धर्मगुरु, पोप या पादरी के समक्ष उन्हें प्रकट करना और उनसे यथायोग्य प्रायश्चित्त (दण्ड) स्वीकार करना है। इस प्रकार ईसाई धर्म के प्रणेता महात्मा यीशु ने पाप को प्रकट करना आवश्यक माना है।[66]

इस्लाम धर्म में महात्मा अबूबकर ने कहा है– तौबा, खेद, पछतावा (प्रायश्चित्त) छः बातों से पूरा होता है– 1. पिछले पापों पर लज्जित होने से 2. फिर पाप न करने का प्रयत्न (प्रतिज्ञा) करने से 3. मालिक की जो सेवा छूट गई हो, उसे पूरा करने से 4. अपने द्वारा हुई हानि का घाटा भर देने से 5. हराम के खाने से जो लोहू और चर्बी बढ़ी है, उसे तप के द्वारा धो डालने से 6. शरीर ने पाप कर्मों के द्वारा जितना सुख उठाया है, सत्य धर्म में उसे उतना ही दुःख देने से तौबा होता है।[67]

समाहारतः कहा जा सकता है कि प्रायः सभी धर्मों ने प्रतिक्रमण को किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार किया है।

सन्दर्भ-सूची

1. श्री जिनपति सामाचारी के अनुसार सज्झाय पाठ बोलने के पश्चात गुरु महाराज स्थापनाचार्य के आगे 'अणुजाणह इच्छकार सुहराई सुखतप शरीर निराबाध संयम यात्रा सुखे निरवहो छो जी?' इतना वाक्य बोले। अन्य साधु प्रतिक्रमण के बाद गुरु को वन्दन करते समय यह पाठ बोलें। वर्तमान में गुरु सम्बन्धी सामाचारी कहीं प्रचलित तो कहीं अप्रचलित है। साधुविधिप्रकाश, प. 1
2. कुछ परम्पराओं में यदि गृहस्थ साथ में प्रतिक्रमण कर रहा हो तो 'इच्छकारी समस्त श्रावकों को वन्दूं' यह वाक्य भी बोला जाता है।
3. राइयं च अइयारं, चिंतिज्ज अणुपुव्वसो।
   नाणंमि दंसणंमी, चरितंमि तवंमि य॥
   पारिय काउस्सग्गो, वंदित्ताण तओ गुरूं।
   राइयं तु अइयारं, आलोएज्ज जहक्कमं॥
   पडिक्कमित्तु निस्सल्लो, वंदित्ताण तओ गुरुं।
   काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं॥
   उत्तराध्ययनसूत्र, 26/47-49
4. पंचवस्तुक, 494-505, 552
5. योगशास्त्र, प्रकाश 3, श्लो. 129 की टीका
6. मिच्छादुक्कडं पाणिवाय, दंडयं काउसग्गतियं करणं।
   पुत्तिय वंदण आलोय, सुत्त वंदणय खामणयं॥
   वंदणयं गाहातिह पाढो, छम्मासियस्स उस्सग्गो।
   पुत्तिय वंदणा नियमो, थुइतिय चिइ वंदणा राओ॥
   प्रवचन सारोद्धार, 3/177-178
7. इरिया कुसुमिणुस्सग्गो, जिणमुणि वंदण तहेव सज्झाओ।
   सव्वस्सवि सक्कत्थउ, तिन्नि उ उस्सग्ग कायव्वा॥
   चरणे दंसणनाणे दुसु, लोगुज्जोय तइय अइयारा।
   पोत्ती वंदण आलोय, सुत्त तह वंद खामणयं॥
   वंदण तव उवसग्गो, पोत्ती वंदणय पच्चक्खाणं तु।
   अणुसट्ठिं तिन्नि, थुई वंदण बहुवेलं पडिलेहा॥
   सुबोधा सामाचारी, पृ. 15

8. सामाइरिउस्सग्गो, देवगुरु वंदणं च सज्झाओ।
उस्सग्ग तियं पुत्तीं, वंदण मालोयणं सुत्तं ॥
वंदणयं खामणं, वंदणं च छम्मासियं च मुहपत्ती।
वंदणपच्चक्खाणं, तित्ति थुई देववंदणया ॥
तिलकाचार्य सामाचारी, पृ. 26
9. विधिमार्गप्रपा, पृ. 24
10. आचार दिनकर, भा.2, पृ. 325-326
11. साधुविधि प्रकाश, पृ. 1-4
12. पंच प्रतिक्रमण सूत्र, प्रेरक-मुनि प्रधानविजयजी, पृ. 255-259
13. श्री विधिपक्षगच्छीय पंच प्रतिक्रमण सूत्र, संयो. गुणसागरसूरीश्वरजी, पृ. 53-54
14. श्री मन्नागपुरीय बृहत्तपागच्छीय श्री देवसी-राई प्रतिक्रमणसूत्र, पृ. 65-106
15. श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय प्रतिक्रमणादि स्वाध्याय समुच्चय, संपा. आचार्य जयंतसेनसूरि, पृ. 13-59
16. पंचवस्तुक, 445
17. वही, 447
18. देवसियं च अइयारं, चिंतिज्ज अणुपुव्वसो।
नाणे दंसणे चेव, चरित्तम्मि तहेव य ॥
पारिया काउस्सग्गो, वंदित्ताण तओ गुरुं।
देसियं तु अइयारं, आलोएज्ज जहक्कमं ॥
पडिक्कमित्तु निस्सल्लो, वंदित्ताण तओ गुरुं।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्व दुक्ख विमोक्खणं ॥
उत्तराध्ययनसूत्र, 26/39-41
19. पंचवस्तुक, 445-491
20. चिइवंदण उस्सग्गो, पोत्तियपडिलेह वंदणालोए।
सुत्तं वंदण खामण, वंदणय चारित्त उस्सग्गो ॥
दंसणनाणुस्सग्गो, सुयदेवयखेत्त देवयाणं च।
पुत्तियवंदण थुइतिय, सक्कत्थय थोत्तं देवसियं ॥
प्रवचनसारोद्धार, 3/175-176
21. योगशास्त्र, 3/129 की टीका

22. जिणमुणिवंदण, अइयारूस्सग्गो पुत्ति वंदणाऽऽलोए।
सुत्तं वंदण खामण, वंदण तिन्नेव उस्सग्गा॥
चरणे दंसणनाणे, उज्जोया दुन्नि एक्क एक्को य।
सुयदेवयादुसग्गा, पोत्ती वंदण तिथुइथोत्तं॥
सुबोधा सामाचारी, पृ.15

23. संग्रह गाथा सुबोधासामाचारी पाठ के समान है।
तिलकाचार्य सामाचारी, पृ. 29

24. विधिमार्गप्रपा, पृ. 22-23
25. आचारदिनकर, भा.2, पृ. 327-328
26. यतिदिनचर्या, भावदेवसूरि, पृ. 65-67
27. साधुविधिप्रकाश, पृ. 10-12
28. पंच प्रतिक्रमणसूत्र, प्रेरणा प्रधानविजयजी, पृ. 251-255
29. श्री विधिपक्ष गच्छीय पंच प्रतिक्रमण सूत्र, पृ. 27-53
30. श्री मन्नागपुरीय बृहत्तापागच्छीय श्री देवसीराई प्रतिक्रमणसूत्र, पृ. 13-62
31. श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय प्रतिक्रमणादि स्वाध्याय समुच्चय, पृ. 65-120
32. साधुविधिप्रकाश, पृ. 14
33. वही, पृ. 16
34. विधिमार्गप्रपा, पृ. 65
35. (क) आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 64
(ख) आवश्यक निर्युक्ति, 1250-1251
(ग) वही, 1247
36. पंचवस्तुक, 492
37. योगशास्त्र, 3/129 की टीका
38. मुहपोत्तीवंदणयं, संबुद्धाखामणं तहा लोए।
वंदण पत्तेयं खामणाणि, वंदणयसुत्तं च॥
सुत्तं अब्भुट्ठाणं, उस्सग्गो पुत्तिवंदणं तह य।
पज्जंते खामणयं, एस विही पक्खि पडिक्कमणे॥
प्रवचनसारोद्धार, 3/181-182
39. सुबोधा सामाचारी, पृ. 15
इसकी संग्रह गाथा उक्त पाठ के समान है।

40. तिलकाचार्य सामाचारी, पृ. 30-31
इसकी संग्रह गाथा लगभग पूर्व पाठ के समान ही है।
41. विधिमार्गप्रपा, पृ. 23
42. आचार दिनकर, भा. 2, पृ. 328-330
43. साधुविधिप्रकाश, पृ. 14-16
44. पंच प्रतिक्रमण सूत्र, प्रे. प्रधानविजयजी, पृ. 412-415
45. श्री विधिपक्षगच्छीय पंच प्रतिक्रमणसूत्र, पृ. 63-115
46. श्री पार्श्वचन्द्रगच्छीय पंच प्रतिक्रमणसूत्र (विधि सहित), पृ. 123-132
47. श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय प्रतिक्रमणादि स्वाध्याय समुच्चय, पृ. 131-220
48. (क) योगशास्त्र, 3/129 की टीका
चत्तारि दो दुवालस, वीसं चत्ता य हुंति उज्जोया।
देसिय राइय पक्खिय, चाउम्मासे य वरिसे य॥
पणवीस अद्धतेरस, सलोग पन्नतरी य बोद्धव्वा।
सयमेगं पणवीस, बे बावण्णा य वरिसंमि॥
साय सयं गोसद्धं, तिन्नेव सया हवंति पक्खंमि।
पंच य चाउम्मासे, वरिसे अट्ठोत्तर सहस्सा॥
देवसिय-चाउम्मासिय-संवच्छरिएसु पडिक्कमण-मज्झे।
मुणिणो खामिज्जंति, तिन्नि तहा पंच सत्त कमा॥
(ख) प्रवचनसारोद्धार, 3/183-86
(ग) सुबोधा सामाचारी, पृ. 15-16
(घ) तिलकाचार्य सामाचारी, पृ. 31
(च) विधिमार्गप्रपा, पृ. 23
(छ) आचारदिनकर, पृ. 330
(ज) साधुविधिप्रकाश, पृ. 14-16
49. विधिमार्गप्रपा, पृ. 23
50. विधिमार्गप्रपा, पृ. 24
51. साधुविधिप्रकाश, पृ. 17
52. श्री प्रतिक्रमण सूत्र, पृ. 34-40
53. सचित्र श्रावक प्रतिक्रमण, पृ. 45-48

54. श्रमण प्रतिक्रमण, पृ. 1-59
55. हुम्बुज श्रमण भक्ति संग्रह (प्र. ख.), पृ. 38-74
56. वही, पृ. 361-460
57. उदान, 5/5
58. बोधिचर्यावतार, 5/98
59. (क) बोधिचर्यावतार, 2/64-66
    (ख) जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भा. 2, पृ. 403
60. अनुजानामि भिक्खवे, वस्सं, वुट्ठानं, भिक्खूनं तीहि ठानेहि पकारेतुं दिट्ठेन वा सुतेन वा परिसंकाय वा। महावग्ग पालि, पृ. 167
61. आवश्यकसूत्र, प्रस्तावना, पृ. 38
62. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भा. 2, पृ. 403
63. आवश्यकसूत्र, प्रस्तावना, पृ. 39
64. ममोपात्तदुरितक्षयाय श्री परमेश्वर प्रीतये प्रातः सन्ध्योपासनमहं करिष्ये। संकल्प सूत्र
    कृष्णयजुर्वेद- उद्धृत जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भा. 2, पृ. 404
65. खोरदेह अवस्ता, पृ. 7/23-24 उद्धृत-दर्शन और चिन्तन, भा. 2, पृ. 193-194
66. जिनवाणी, पृ. 16
67. वही, पृ. 16

●

अध्याय-5

प्रतिक्रमण विधियों के प्रयोजन एवं शंका-समाधान

प्रतिक्रमण जैन आचार पक्ष का अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। आवश्यक क्रियाओं का संपादन यदि मात्र परम्परा अनुकरण या लोक प्रवाह के रूप में किया जाए तो वह यथोचित फल नहीं दे सकता। एक सामान्य क्रिया में भी यदि उसके महत्त्वपूर्ण रहस्यों आदि का पता हो तो उसे करने के हाव-भाव एवं रुचि में बहुत अंतर आ जाता है। अन्यथा वही दैनिक क्रियाएँ भाररूप लगने लगती है। जैसे कि जो ग्राहक मोटी आसामी का हो उसे दुकानदार जिस उत्साह से माल दिखाता है उसके परिणाम माल नहीं खरीदने वाले ग्राहक के प्रति वैसे नहीं देखे जाते। इसी तरह साध्य क्रियाओं के महत्त्व एवं लाभ के बारे में पता हो तो क्रिया करने का आनंद ही अलग होता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत अध्याय में प्रतिक्रमण विधि के रहस्यों को उजागर किया जा रहा है।

दैवसिक प्रतिक्रमण विधि के हेतु

प्रतिक्रमण हेतु सर्वप्रथम सामायिक ग्रहण करना अनिवार्य क्यों?

विरति जीवन में की गई क्रिया पुष्टिकारक और फलदायी होती है। सामायिक के द्वारा पापों का प्रतिज्ञा पूर्वक त्याग कर समभाव की स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है। समभावयुत स्थिति में ही पापों का यथार्थ पश्चात्ताप और मिच्छामि दुक्कडं पूर्वक वास्तविक प्रतिक्रमण होता है इसलिए प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में सामायिक ली जाती है। पाप प्रवृति छूटे बिना दुष्कार्यों का पश्चात्ताप नहीं हो सकता। सामायिक पाप प्रवृत्ति को छोड़ने का प्रमुख चरण है। जिस प्रकार कचरा निकालने के पहले यदि धूल आदि के अन्दर आने की सम्भावना हो तो मकान के खिड़की-दरवाजों को बंद कर दिया जाता है, डाईबिटीज के रोगी को शूगर घटाने की दवा के साथ-साथ नई शूगर बने नहीं इसलिए मिष्ठान्न आदि खाने का निषेध कर दिया जाता है उसी तरह नये पाप कार्यों को रोकने के लिए पाप व्यापार के त्याग रूप प्रतिक्रमण के पूर्व सामायिक लेना अनिवार्य है।

सामायिक लेने के पश्चात दिवसचरिम प्रत्याख्यान का ग्रहण क्यों?

• दैवसिक प्रतिक्रमण हो या रात्रिक, प्रतिक्रमण कर्त्ता को दोनों समय दिवस एवं रात्रि के प्रत्याख्यान लेने चाहिए। सन्ध्या के समय लिए जाने वाले प्रत्याख्यान दिवसचरिम कहलाते हैं।

• कोई भी प्रत्याख्यान लेने से पूर्व गुरु को वन्दन करना आवश्यक है। गुरु को वंदन करते समय शरीर के हिलने-डुलने से जीव हिंसा न हो एतदर्थ शरीर की प्रतिलेखना एवं गुरु का विनय करने हेतु मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन किया जाता है। उसके बाद द्वादशावर्त्त पूर्वक गुरुवन्दन कर प्रत्याख्यान लेते हैं।

• छह आवश्यक के क्रम में प्रत्याख्यान छठवाँ आवश्यक है। परन्तु शास्त्रोक्त समय पर प्रतिक्रमण न करने से इस आवश्यक तक पहुँचते दिवसचरिम प्रत्याख्यान करने (सूर्यास्त पूर्व) का समय बीत जाता है। इसी के साथ एक कारण यह भी है कि छठे आवश्यक तक पहुँचने तक अप्रत्याख्यान की अवस्था में क्यों रहे? इसलिए सामायिक के तुरन्त बाद एक बार प्रत्याख्यान ले लेना चाहिए। वर्तमान परम्परा में लिया भी जाता है।

संध्याकाल में किसे कौन सा प्रत्याख्यान लेना चाहिए?

• जिसने उपवास में पानी नहीं पिया हो, उसे चौविहार उपवास का प्रत्याख्यान करना चाहिए।

• उपवास में पानी पीया हो अथवा आयंबिल, नीवि, एकासना या बियासना आदि तप किया हो तो पाणहार का प्रत्याख्यान करना चाहिए।

• दिन में छूटा खाया हो और रात्रि में कुछ भी खाना-पीना नहीं हो तो चौविहार का प्रत्याख्यान लेना चाहिए। यदि ठाम चौविहार पूर्वक आयंबिल, एकासना आदि किया हो तो भी चौविहार का प्रत्याख्यान करना चाहिए।

• रात्रि में केवल पानी पीना हो तो तिविहार का प्रत्याख्यान करना चाहिए। अस्वस्थता आदि कारणों से सूर्यास्त के पश्चात दवा, मुखवास या पानी पीना हो तो दुविहार का प्रत्याख्यान करना चाहिए।

• चौविहार उपवास में चारों आहारों का त्याग कर दिया जाता है इसलिए सन्ध्या को वही प्रत्याख्यान मान्य होता है, अलग से प्रत्याख्यान लेने की जरूरत नहीं है।

देववन्दन– प्रत्याख्यान लेने के पश्चात देववंदन की क्रिया होती है

क्योंकि सभी धर्मानुष्ठान अरिहंत परमात्मा एवं गुरु के वंदन पूर्वक सफल होते हैं। प्रतिक्रमण पापों के प्रायश्चित्त का एक महान शुभ कार्य है और मोक्ष का कारण है। अत: प्रतिक्रमण मंगल के बिना निर्विघ्न पूर्ण नहीं हो सकता, इस कारण मंगल अवश्य करना चाहिए। सृष्टि जगत में मंगल अनेक प्रकार के हैं किन्तु देव-गुरु को वंदन करने के समान दूसरा कोई मंगल नहीं है। इसलिए प्रथम शक्रस्तव पूर्वक चार स्तुतियों के द्वारा देववंदन करते हैं।

गुरुवन्दन– देववन्दन के पश्चात प्रतिक्रमण जैसी विशिष्ट आराधना निर्विघ्न रूप से सम्पन्न हो उस हेतु गुरु को वन्दन करना चाहिए। अतएव भगवान-आचार्य-उपाध्याय-सर्वसाधु इन चारों के नामोच्चारणपूर्वक खमासमण देकर गुरुओं को वन्दन किया जाता है।

प्रतिक्रमण स्थापना– प्रतिक्रमण की निर्विघ्न सम्पन्नता के लिए देव-गुरु के वन्दन रूप मंगल करने के पश्चात प्रतिक्रमण स्थापन की क्रिया होती है। प्रतिक्रमण में मन, वचन और काया से स्थिर होने के लिए **'इच्छा. देवसिय पडिक्कमणे ठाउं?'** इस पद से प्रतिक्रमण की स्थापना करने का आदेश मांगा जाता है। अथवा प्रतिक्रमण के अनुष्ठान हेतु प्रणिधान किया जाता है क्योंकि प्रणिधान युक्त अनुष्ठान सफल और सुन्दर होता है। गुर्वाज्ञा प्राप्त होने के पश्चात दाहिना हाथ एवं मस्तक चरवले पर स्थापित कर प्रतिक्रमण का बीज रूप **'सव्वस्स वि देवसिअ सूत्र'** बोला जाता है। • यहाँ दायें हाथ को चरवले पर स्थापित करते समय 'गुरु के चरणों का स्पर्श कर रहा हूँ' ऐसी भावना रखनी चाहिए तथा मस्तक झुकाते हुए 'पाप भार से अवनत हो रहा हूँ' ऐसा चिंतन करना चाहिए।

• इस सूत्र के द्वारा दिवस सम्बन्धी सर्व दुष्कृतों का मिच्छामि दुक्कडं दिया जाता है। इसलिए यह सूत्र प्रतिक्रमण का बीजक सूत्र माना जाता है। जैसे सम्पूर्ण वृक्ष का आकार उसके बीज में निहित रहता है वैसे ही सम्पूर्ण प्रतिक्रमण, इस सूत्र में समाविष्ट है।

प्रथम सामायिक आवश्यक– प्रतिक्रमण स्थापना के पश्चात मूल रूप से छह आवश्यक रूप प्रतिक्रमण का प्रारम्भ होता है इसलिए प्रतिक्रमण की मुख्य शुरूआत यहाँ से होती है। विरतिभाव में की गई सभी क्रियाएँ शुभ होती है, अत: प्रतिक्रमण प्रारम्भ करने से पहले प्रथम आवश्यक के रूप में यहाँ सामायिकसूत्र 'करेमिभंते सूत्र' बोला जाता है।

• आत्मा के ज्ञान आदि सर्व गुणों में मुख्यगुण चारित्र है उसमें लगे अतिचारों की शुद्धि हेतु तथा सभी क्रियाएँ विरतिभाव में उपस्थित रहने से शुद्ध होती है इस कारण 'करेमिभंते सूत्र' का उच्चारण करते हैं।

अतिचारों का चिंतन– उसके बाद दिन भर में किये गये जिन-जिन पापों का प्रतिक्रमण करना है उनका पूर्व में स्मरण कर लेना चाहिए। वह अनुस्मरण कायोत्सर्ग में शान्तिपूर्वक हो सकता है तद्हेतु इच्छामि ठामि, तस्स उत्तरी एवं अन्नत्थ– इन तीन सूत्रों को बोलकर कायोत्सर्ग किया जाता है।

• प्रतिक्रमण का मुख्य हेतु पंचाचार की विशुद्धि है इसलिए इस कायोत्सर्ग में दिवस सम्बन्धी पाँचों आचारों में लगे अतिचारों का सूक्ष्मता से विचार कर उन्हें मन में धारण किया जाता है।

इस कायोत्सर्ग में खरतर परम्परा के अनुसार दिवस संबंधी अतिचारों का स्मरण अथवा आठ नमस्कार मन्त्र का चिंतन किया जाता है। तपागच्छ आदि परम्पराओं में नाणम्मि आदि आठ गाथाओं के आधार पर दिनकृत पापों (अतिचारों) का स्मरण किया जाता है तथा साधु-साध्वी निम्न गाथा द्वारा अतिचारों का चिन्तन करते हैं–

सयणासण-न्न-पाणे, चेइअ-जइ-सिज्ज-काय उच्चारे ।
समिई भावणा गुत्ती, वितहायरणे अईआरा ।।

दूसरा चतुर्विंशति आवश्यक– जैन धर्म में विनय की प्रधानता है। इसलिए यह क्रिया देव-गुरु के वन्दन पूर्वक करनी चाहिए। तद्हेतु कायोत्सर्ग पूर्ण करने के बाद दूसरे आवश्यक के रूप में लोगस्ससूत्र बोला जाता है। इस सूत्र के द्वारा चौबीस तीर्थंकरों को वन्दन करते हैं जिससे परमात्मा के प्रति विनय का पालन होता है और इससे दर्शनाचार की शुद्धि भी होती है।

तीसरा वन्दन आवश्यक– तदनन्तर गुरु का विनय करने के लिए दो बार द्वादशावर्त्त पूर्वक वन्दन करते हैं। वन्दन करने की पूर्व तैयारी के रूप में पचास बोल पूर्वक मुखवस्त्रिका एवं शरीर का प्रतिलेखन किया जाता है। हेय का परिमार्जन और उपादेय की स्थापना करने हेतु यह क्रिया अत्यन्त रहस्यमयी है। इसलिए प्रतिलेखन की मूल विधि गुरु या अनुभवी व्यक्ति से सीख लेनी चाहिए और तदनुसार सावधानी बरतनी चाहिए। गुरुवन्दन में पच्चीस आवश्यक का पालन और बत्तीस दोषों का त्याग करने में विशेष उपयोग रखना चाहिए।

जैनाचार में चारित्रधर्म का मुख्य स्थान है, उसमें अहिंसा का पालन करना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। वन्दन करते समय शरीर के जो-जो भाग मुड़ते हो उन्हें संडासा कहते हैं। उन अंगोपांगों को मोड़ते वक्त जीव हिंसा न हो, इस दृष्टि से प्रतिलेखित मुखवस्त्रिका द्वारा संडासक स्थानों की प्रमार्जना की जाती है और वांदणा देते समय रजोहरण या चरवला से सत्रह संडासकों (शरीर के मुड़ने योग्य स्थानों) का यथोचित प्रमार्जन किया जाता है।

चौथा प्रतिक्रमण आवश्यक– गुरु को द्वादशावर्त्त वन्दन करने के पश्चात चौथे आवश्यक में प्रवेश करते हैं जिसमें मुख्य रूप से पापों की आलोचना और प्रायश्चित्त किया जाता है। जैन परम्परा में प्रत्येक धर्मक्रिया गुरु के समक्ष उनकी स्वीकृति पूर्वक की जाती है। इसलिए यहाँ दिवस सम्बन्धी पापों की आलोचना करने हेतु शरीर और मस्तक झुकाकर **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् देवसियं आलोउं?'** ऐसा गुरु महाराज से आदेश मांगते हैं और उसके बाद पूर्व कायोत्सर्ग में अवधारित (याद किए गए) अतिचारों की आलोचना करने के उद्देश्य से **'जो मे देवसिओ सूत्र'** बोला जाता है। गणधर रचित इस सूत्र के द्वारा समस्त पापों का कथन होता है। फिर इसी क्रम में सात लाख, अठारह पाप स्थान, ज्ञान-दर्शन-चारित्र का पाठ बोलते हैं। इन सूत्रों के द्वारा भी दिवस सम्बन्धी दोषों की आलोचना की जाती है। उसके बाद **'सव्वस्सवि सूत्र'** कहा जाता है। इस सूत्र के मध्य 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्' इस वाक्य से गुरु के सम्मुख पापों का प्रायश्चित्त मांगते हैं तब गुरु **'पडिक्कमेह'** शब्द से प्रतिक्रमण नामक प्रायश्चित्त की आज्ञा देते हैं तब प्रतिक्रमण करने वाले आराधक **'तस्स मिच्छामि दुक्कडं'** शब्द का उच्चारण करते हैं। इस अन्तिम वाक्य का अर्थ यह है कि 'मैं भी प्रतिक्रमण करने की इच्छा करता हूँ इसलिए कृत पापों का मिच्छामि दुक्कडं देता हूँ।' इस प्रकार स्वकृत पापों का प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त करने के लिए गुरु से आज्ञा मांगते हैं और गुरु स्वीकृति देते हैं।

यहाँ गुर्वानुमति पूर्वक प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त किया जाता है।

यदि साधक **'इच्छं तस्स मिच्छामि दुक्कडं'** बोलना भूल जाए तो प्रतिक्रमण के लिए उपस्थित होने पर भी उनके पापों का प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त नहीं होता है। इसलिए ध्यानपूर्वक उक्त वाक्य बोलना ही चाहिए।

* इस प्रकार संक्षेप में प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त करने के बाद प्रत्येक पापों का

विस्तार से 'मिच्छामि दुक्कडं' देने हेतु 'वंदित्तु सूत्र' बोलते हैं। यहाँ साधु-साध्वी 'ठाणे कमणे चंकमणे' एवं 'सव्वस्स वि'– ये दो पाठ कहते हैं तथा वंदित्तु सूत्र के स्थान पर 'पगामसिज्झाय' का पाठ बोलते हैं।

वंदित्तु सूत्र किस प्रकार बोलना चाहिए?

यह सूत्र संडासक स्थानों के प्रमार्जन पूर्वक वीरासन में बैठकर बोलना चाहिए। प्रत्येक गाथा में मन का उपयोग रखना चाहिए। प्रत्येक पद पर संवेग भाव की वृद्धि हो उस रीति से भावपूर्वक यह सूत्र बोलना चाहिए। श्रावक दिनचर्या में कहा गया है कि प्रतिक्रमणवाही श्रावक वंदित्तुसूत्र इस प्रकार बोले कि सुनने वालों की रोमराजि भी संवेगरस की वृद्धि से प्रफुल्लित हो जाए और उनकी आँखों से भी पूर्वकृत पापों की विशुद्धि होने के कारण हर्षाश्रु बहने लगे।

वंदित्तु सूत्र बोलते वक्त सर्वप्रथम मंगल निमित्त नमस्कार मंत्र, फिर समता भाव की वृद्धि हेतु करेमिभंते सूत्र, फिर दैवसिक अतिचारों की संक्षेप आलोचना करने हेतु 'इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे देवसिओ सूत्र' बोलते हैं। उसके बाद 'वंदित्तुसूत्र' बोला जाता है। इसमें 'आलोयणा बहुविहा'– इस गाथा से विस्मृत पापों की निन्दा-गर्हा करनी चाहिए। 'तस्स धम्मस्स'– गाथा बोलते हुए पाप का भार कम हुआ हो और आत्मा हल्की हुई हो ऐसा अनुभव करते हुए आराधक को खड़े हो जाना चाहिए। इसी गाथा में 'विरओमि विराहणाए' बोलते हुए विराधना से दूर हटने के लिए कदमों को पीछे की तरफ करना चाहिए।

गुरुजनों से क्षमायाचना– वंदित्तु सूत्र बोलने के पश्चात महान उपकारी गुरुजनों के प्रति दिन भर में हुए अपराधों की क्षमायाचना के लिए दो बार द्वादशावर्त्त वन्दन पूर्वक 'अब्भुट्ठिओमि सूत्र' बोलते हैं।

द्वादशावर्त्त वन्दन दो बार क्यों?

जैसे सेवक राजा की आज्ञा सुनने के लिए पहले मस्तक झुकाकर फिर खड़े रहता है तथा दी गई आज्ञा को अमल करने के पहले भी नमस्कार करके फिर लौटता है इसी तरह दो बार वन्दन करने का विधान है। यहाँ प्रथम वांदणा में क्षमायाचना के भाव लेकर उपस्थित होते हैं तथा दूसरी बार जिनाज्ञा को अमल करने के रूप में वंदन करते हैं। इसी तरह प्रत्याख्यान आदि से सम्बन्धित द्वादशावर्त्त वन्दन का स्वरूप भी समझना चाहिए।

प्रतिक्रमण में द्वादशावर्त्त वन्दन अनेक बार क्यों किया जाता है?

प्रतिक्रमण में कुल चार बार द्वादशावर्त्त वन्दन करते हैं– 1. वंदितु सूत्र के पहले दिवसकृत पापों की आलोचना करने के लिए 2. वंदित्तु सूत्र के तुरन्त बाद दिनभर में एवं प्रतिक्रमण के दौरान हुई गुरु आशातना आदि की क्षमायाचना करने के लिए 3. पाँचवें कायोत्सर्ग आवश्यक के पूर्व आचार्य-उपाध्याय आदि सकल संघ के प्रति हुए कषायों को दूर करते हुए उनकी शरण स्वीकार करने के लिए 4. छठवें प्रत्याख्यान आवश्यक से पूर्व दिवसचरिम प्रत्याख्यान लेने के लिए– इस प्रकार आलोचना, क्षमापना, शरण स्वीकार और प्रत्याख्यान ग्रहण के उद्देश्य से चार बार द्वादशावर्त्त वन्दन किया जाता है।

गुरु को कितने प्रयोजनों से द्वादशावर्त्त वन्दन करना चाहिए?

गुरुवन्दन भाष्य में कहा गया है कि

पडिक्कमणे सज्झाए, काउस्सग्गावराह-पाहुणए।
आलोयण-संवरणे, उत्तमट्ठे य वंदणयं।।

प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग, अपराधों की क्षमायाचना से पूर्व, अतिथि साधु के आने पर, आलोचना, प्रत्याख्यान और अनशन स्वीकार करते समय– इन आठ प्रसंगों के उपस्थित होने पर द्वादशावर्त्त वन्दन करना चाहिए।

सकल संघ से क्षमायाचना– अब्भुट्ठिओमि सूत्र बोलने के पश्चात गुरु को पुनः द्वादशावर्त्त वन्दन करते हैं। इसका रहस्य यह है कि जो पाप आलोचना प्रायश्चित्त और प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त से भी शुद्ध नहीं हुए हैं उनकी विशुद्धि कायोत्सर्ग से करते हैं। कायोत्सर्ग भी गुरुवन्दन पूर्वक ही होता है अतः द्वादशावर्त्त वंदन के द्वारा गुरु को उत्कृष्ट वन्दन करते हुए कायोत्सर्ग की पूर्व भूमिका निर्मित की जाती है। यहाँ दूसरे वन्दन के अन्त में आत्मा को कषाय भाव से मुक्त करने के लिए अवग्रह के बाहर खड़े हो जाना चाहिए।

उसके बाद 'आयरिय उवज्झाय सूत्र' बोलते हैं।

आयरिय उवज्झाय सूत्र बोलने का हेतु क्या है?

दिनभर किये गये दुष्कर्म घाव के समान है तथा कायोत्सर्ग मरहमपट्टी के तुल्य है। इसलिए प्रतिक्रमण की क्रिया में कायोत्सर्ग आवश्यक का प्रारम्भ होता है। उसमें चारित्राचार में लगे दोषों की शुद्धि के लिए सर्वप्रथम दो लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करते हैं। उसके पूर्व कषायों का उपशम करना चाहिए। यदि

आत्मसत्ता में तीव्र कषाय हो तो उसका चारित्र सेलड़ी के फूल जैसा निष्फल गिना जाता है इसलिए 'आयरिय उवज्झाय सूत्र' द्वारा सकल संघ के साथ रहे हुए कषाय भावों की क्षमा मांगकर आत्मा को कषाय मुक्त किया जाता है। कायोत्सर्ग की सिद्धि के लिए कषाय जनित परिणामों की शांति आवश्यक है। यह सूत्र बोलते वक्त करबद्ध अंजलि को मस्तक पर रखते हैं जो साधक के अति नम्र भाव की सूचक है।

पांचवाँ कायोत्सर्ग आवश्यक– तदनन्तर करेमि भंते सूत्र, इच्छामि ठामि सूत्र, तस्स उत्तरी सूत्र एवं अन्नत्थसूत्र बोलकर चारित्राचार में लगे दोषों की शुद्धि के लिए दो लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग किया जाता है।

यहाँ कायोत्सर्ग करने से पहले जो सूत्र बोले जाते हैं उनके अर्थ का विचार करने से चारित्र का शुद्ध स्वरूप समझ आता है तथा उसमें कौनसे व्रतादि अतिचार रूप हैं उनका स्पष्ट बोध होता है। उसके पश्चात दर्शनाचार की शुद्धि निमित्त लोगस्ससूत्र, सव्वलोए अरिहंत चेईयाणं सूत्र एवं अन्नत्थसूत्र कहकर एक लोगस्स का कायोत्सर्ग करते हैं।

तत्पश्चात ज्ञानाचार की शुद्धि निमित्त पुक्खरवरदी सूत्र एवं अन्नत्थ सूत्र बोलकर एक लोगस्स का कायोत्सर्ग किया जाता है।

प्रस्तुत विधि क्रम में एक प्रश्न होता है कि प्रतिक्रमण में करेमि भंते सूत्र अनेक बार क्यों बोला जाता है?

आवश्यकनिर्युक्ति (1696) में कहा गया है कि

समभावंमि ठिअप्पा, उस्सग्गं करिअ तो अ पडिक्कमइ।
एमेव समभावे, ठिअस्स तइअंपि उस्सग्गे।।

अर्थात सभी अनुष्ठान समभाव पूर्वक करने से सफल होते हैं इसलिए समत्व की प्राप्ति, स्थिरता और वृद्धि के लिए प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में (प्रतिक्रमण स्थापना के पश्चात), मध्य में (वंदित्तुसूत्र बोलने के पहले) और अन्त में (आयरिय उवज्झाय सूत्र के बाद) करेमि भंते सूत्र बोला जाता है। इस प्रकार करेमि भंते सूत्र तीन बार उच्चरित किया जाता है। किन्तु इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं है। आवश्यकनिर्युक्ति में कहा भी गया है कि

सज्झाय झाण तवोसहेषु, उवएस थुइप्पयाणेसु।
संतगुण कित्तणेसु, न हुति पुनरुत्त दोसाउं।।16-97।।

चारित्राचार की शुद्धि हेतु दो लोगस्स का तथा दर्शनाचार एवं ज्ञानाचार की शुद्धि हेतु एक-एक लोगस्स का कायोत्सर्ग क्यों?

दिन के दरम्यान समिति-गुप्ति आदि के भंग से चारित्राचार में अधिक दोष लगते हैं इसलिए तत्सम्बन्धी पापों से निवृत्ति के लिए दो लोगस्स का कायोत्सर्ग करते हैं जबकि दर्शनाचार और ज्ञानाचार में अल्प विराधना की सम्भावना होने से उसके लिए एक-एक लोगस्स का कायोत्सर्ग कहा गया है।

तदनन्तर सभी आचारों का निरतिचार पालन करने से उत्कृष्ट फल प्राप्त करने वाले सर्व सिद्धों को वन्दन किया जाता है। तद्निमित्त सिद्धाणं बुद्धाणं सूत्र बोलते हैं।

श्रुत देवता और क्षेत्र देवता का कायोत्सर्ग क्यों?

प्रतिक्रमण विधि में दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र की शुद्धि करने के अनन्तर श्रुत देवता एवं क्षेत्र देवता की आराधना निमित्त एक-एक नवकार मन्त्र का कायोत्सर्ग और उनकी स्तुति बोली जाती है।

आत्मशुद्धि के लिए धर्म का आलम्बन जरूरी है। वह धर्म दो प्रकार का कहा गया है– चारित्रधर्म और श्रुतधर्म। चारित्र धर्म संयम की आराधना रूप है और श्रुतधर्म सम्यग्ज्ञान की आराधना स्वरूप है। यह सम्यकज्ञान सर्वज्ञों द्वारा उपदिष्ट एवं गणधरों द्वारा गुम्फित आगमवाणी के रूप में उपलब्ध है। श्रुत की उपासना मनोशुद्धि में हेतुभूत होने से सदैव करणीय है अत: श्रुतभक्ति के उद्देश्य से श्रुतदेवता की आराधना की जाती है। दूसरा कारण यह है कि सभी धर्मानुष्ठानों में श्रुतज्ञान हेतुभूत है उस श्रुत की वृद्धि के लिए श्रुतदेवता की आराधना करते हैं। तीसरा तथ्य यह है कि देवी-देवता अल्पभक्ति या द्रव्य अर्पण से प्रसन्न हो जाते हैं इसलिए एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग करते हैं। इस कायोत्सर्ग में श्रुतदेवता का स्मरण करने से श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है और उससे ज्ञान प्राप्ति होती है।

श्रुतदेवता की आराधना का एक हेतु यह भी है कि श्रुत के माध्यम से सम्यकदर्शन-सम्यकज्ञान-सम्यकचारित्र रूप मार्ग का बोध होता है तथा श्रुत द्वारा ही इन आत्मगुणों पर लगे अतिचारों की शुद्धि हेतु प्रतिक्रमण जैसे महत अनुष्ठान की प्राप्ति होती है।

प्रत्येक क्षेत्र के भिन्न-भिन्न अधिष्ठायक देव होते हैं। उन्हें तुष्ट रखने से वे स्वयं के क्षेत्र में रहे हुए साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकाओं के अनिष्ट उपद्रवों

एवं विघ्नों को दूर करते हैं। इसी के साथ जैन संघ की प्रभावना एवं आराधना में भी सहायक बनते हैं अत: क्षेत्र देवता के प्रति कृतज्ञता दर्शाने हेतु उनकी आराधना एवं स्तुति की जाती है।

तीसरा कारण यह है कि साधुओं को अचौर्य महाव्रत के निर्मल पालन के लिए बार-बार अवग्रह की याचना करनी चाहिए अर्थात जिस क्षेत्र में रहना हो उसकी अनुज्ञा प्राप्त करनी चाहिए। क्षेत्र देवता की आराधना से यह प्रयोजन पूर्ण हो जाता है तथा इससे तीसरे महाव्रत की दूसरी भावना का परिपालन भी होता है।

विरति भाव में उपस्थित श्रावक-श्राविकाएँ आदि अविरत देवी-देवता का कायोत्सर्ग कैसे कर सकते हैं?

यह कायोत्सर्ग औचित्य वृत्ति के कारण करते हैं। देवी-देवता विघ्न निवारण आदि द्वारा आराधना में सहायक बनते हैं तथा जिनशासन की प्रभावना में निमित्तभूत होते हैं, इसलिए प्रतिक्रमण में कृतज्ञ भाव के साथ इनका कायोत्सर्ग करना उचित है।

जब हम कायोत्सर्ग करें उस समय देवताओं का उपयोग हमारी तरफ हो ही, ऐसा जरूरी नहीं? तब उनका स्मरण करने पर भी वे सहायक कैसे बन सकते हैं?

इसका समाधान यह है कि यदि यश नामकर्म का उदय हो तो अपने पुण्य से दूसरों के मन में यशोगान के भाव स्वत: उठते हैं। उस समय 'अमुक का पुण्य है इसलिए मुझे यशोगान करना चाहिए, ऐसा ध्यान आना जरूरी नहीं है' उसी तरह देवताओं के स्मरण के लिए किया गया कायोत्सर्ग जिनोक्त होने से कायोत्सर्ग अर्थी को तद्रूप पुण्य का उपार्जन होता है। फिर भले ही देवता का उपयोग उस तरफ न भी हो, तब भी आराधक का पुण्य देवता को सहायता करने हेतु उत्प्रेरित करता है। इसलिए श्रुत देवी-देवता आदि का कायोत्सर्ग सार्थक है।

तदनन्तर मंगल रूप में एक नमस्कार मन्त्र बोला जाता है।

प्रतिक्रमण में बार-बार मंगल के लिए पंच परमेष्ठी को नमस्कार क्यों? तथा पुन: पुन: मंगल की आवश्यकता भी क्यों है?

सर्वप्रथम कारण तो यह है कि शुभ क्रियाओं में विघ्न की सम्भावना अधिक रहती है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि प्रतिक्रमण तो दैनिक क्रिया है उसमें विघ्न कैसे? विघ्न तीन प्रकार के होते हैं– मानसिक, वाचिक और

कायिक। कायिक विघ्न खमासमण आदि के द्वारा एवं वाचिक विघ्न सूत्रोच्चार के द्वारा दूर हो जाते हैं इसलिए उनका अनुभव नहीं होता लेकिन मानसिक विघ्न, जैसे कि मन का भटकना, राग-द्वेष करना आदि शुभ कार्यों में बाधक बनते रहते हैं जबकि बार-बार मंगल करने से मन की स्थिरता में सहयोग मिलता है।

दूसरा कारण यह कहा जा सकता है कि आलोचना, प्रायश्चित्त एवं प्रतिक्रमण जैसी उत्तम आराधना पंच परमेष्ठी की कृपा से ही प्राप्त हुई है अत: उनके प्रति कृतज्ञता अभिव्यक्त करने हेतु भी बार-बार नमस्कार करते हैं। तीसरा कारण यह माना जाता है कि देव-गुरु का स्मरण करने से असंभव कार्य भी संभव हो जाते हैं। इस तरह नवकार मन्त्र का स्मरण कई प्रयोजनों से किया जाता है।

छठा प्रत्याख्यान आवश्यक– नवकार मन्त्र बोलने के पश्चात छठे आवश्यक रूप प्रत्याख्यान लेने के सूचनार्थ मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर द्वादशावर्त्त पूर्वक गुरु को वन्दन करते हैं।

प्रश्न होता है कि सामायिक लेने के तुरन्त बाद विधिवत प्रत्याख्यान कर लिया जाता है तो फिर पुनः प्रत्याख्यान हेतु मुहपत्ति पडिलेहण क्यों?

इसका जवाब यह है कि पूर्वकृत प्रत्याख्यान को यहाँ स्मृत किया जाता है क्योंकि पांचवाँ कायोत्सर्ग आवश्यक चारित्र आदि गुणों में लगे हुए दोष रूपी घाव को दूर करने हेतु मरहमपट्टी के समान है जबकि प्रत्याख्यान आवश्यक गुणधारण रूप है अर्थात शक्ति रूप दवा के समान है।

प्रत्याख्यान स्वीकार करने से पहले गुरु को वंदन करने का दूसरा हेतु यह है कि जैसे राजा सेवक को किसी कार्य की आज्ञा देता है तब सेवक राजा को प्रणाम करके उस कार्य के लिए प्रस्थान करता है और तदनुसार कार्य पूर्ण होने पर पुन: प्रणाम पूर्वक 'कार्य पूर्ण हो गया है' ऐसा निवेदन करता है वैसे ही प्रतिक्रमण इच्छुक पहला वंदन गुरु आज्ञा को स्वीकार करने के रूप में करता है तथा अंतिम वन्दन कर **'सामायिक, चउवीसत्थो, वन्दन, पडिक्कमण, काउस्सग्ग, पच्चक्खाण कर्युं'** ऐसा बोलकर तद्रूप प्रवृत्ति का निवेदन करता है।

यहाँ षडावश्यक सम्बन्धी प्रतिक्रमण की क्रिया पूर्ण होती है।

स्तुति-स्तवन– छह आवश्यक की क्रिया पूर्ण होने के पश्चात शिष्य

'इच्छामो अणुसट्ठिं' ऐसा वचन बोलते हैं। इसका पारिभाषिक अर्थ यह है कि गुरु के सभी आदेश पूर्ण होने के बाद अब हितशिक्षा के रूप में नयी आज्ञा हो तो उसके परिपालन की इच्छा करता हूँ। इसका दूसरा आशय यह है कि शिष्य ने प्रतिक्रमण करने की गुर्वाज्ञा को अपनी इच्छापूर्वक पूर्ण किया है, उसका स्वेच्छा से अनुपालन किया है, राजाज्ञा के समान औपचारिकता नहीं की है।

'इच्छामो अणुसट्ठिं' के पश्चात 'नमो खमासमणाणं' बोला जाता है। पूर्वकाल में 'नमोऽस्तु वर्धमानाय' की तीनों स्तुति के अन्त में गुरु के वचनों का बहुमान और उसे स्वीकार करने के रूप में यह वचन बोला जाता था। आजकल प्रायः 'इच्छामो अणुसट्ठिं' एक बार कहा जाता है।

तदनन्तर वर्धमान (ऊँचे) स्वर में, वर्धमान (बढ़ते हुए) अक्षर युक्त, श्री वर्धमान स्वामी की स्तुति बोली जाती है। इसमें समाचारी यह है कि गुरु का विनय करने के लिए पहले एक स्तुति गुरु बोलते हैं फिर तीन स्तुतियाँ सभी साथ में बोलते हैं। पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण में गुरुजनों का एवं पर्व का विशेष बहुमान करने के लिए गुरु द्वारा तीनों स्तुतियाँ बोलने के पश्चात सभी शिष्यजन पुनः इन स्तुतियों को साथ में बोलते हैं। वर्तमान में इस सामाचारी का पालन नहींवत रह गया है।

यहाँ स्तुति के सम्बन्ध में यह भी ध्यातव्य है कि दैवसिक प्रतिक्रमण में पुरुष 'नमोऽस्तु वर्धमानाय' तथा स्त्रियाँ 'संसारदावानल' की स्तुति बोलती हैं। रात्रिक प्रतिक्रमण में खरतर परम्परा के अनुसार पुरुष 'नमोऽस्तु वर्धमानाय' एवं तपागच्छ आदि परम्पराओं के अनुसार 'विशाललोचन' की स्तुति पढ़ते हैं तथा सभी परम्पराओं में बहिने 'संसारदावानल' की स्तुति बोलती हैं।

पुरुष और स्त्रियों के लिए भिन्न-भिन्न स्तुतियों का प्रावधान क्यों?

'नमोऽस्तु वर्धमानाय' की स्तुति 14 पूर्वों में से उद्धृत है ऐसा माना जाता है और पूर्वों को पढ़ने का अधिकार पुरुषों को ही प्राप्त है। शास्त्रों में इसका दूसरा हेतु यह भी बताया गया है कि

बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां, नृणां चारित्रकांक्षिणां।
अनुग्रहार्थं सर्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः।।

(हेतुगर्भ, पत्र-13)

अर्थात स्त्रियों को संस्कृत पढ़ने का अधिकार नहीं है इसलिए तीर्थंकरों ने अनुग्रह करने हेतु प्राकृत भाषा में ही उपदेश दिया है। नाटक आदि में भी प्रायः

स्त्रियों के आलापक प्राकृत आदि भाषामय होते हैं। इसी प्रयोजन से साध्वियों और श्राविकाओं को 'नमोऽर्हत्सूत्र' बोलने का अधिकार नहीं है। अत: बहिनों के लिए 'नमोऽस्तु वर्धमानाय' के स्थान पर 'संसारदावानल' की अलग स्तुति कही गई है।

छह आवश्यक की समाप्ति के पश्चात क्रमश: बढ़ते हुए अक्षरों वाली स्तुतियाँ बोलने का मुख्य प्रयोजन क्या है?

वर्तमान में भगवान महावीर का शासन प्रवर्त्तमान है ऐसे परम तारक अरिहंत प्रभु की आज्ञा पूर्वक छह आवश्यकमय प्रतिक्रमण की पवित्र क्रिया निर्विघ्न पूर्ण हुई, इसलिए प्रमोद भाव से आप्लावित शिष्य उत्तरोत्तर बढ़ते हुए हर्षोल्लास के साथ उच्च स्वर में प्रसन्नता की अभिव्यक्ति एवं मांगलिक रूप में तीन स्तुतियाँ बोलता है। कृतज्ञ पुरुषों का व्यवहार होता है कि कोई भी शुभ कार्य निर्विघ्नतया पूर्ण हो तब देव-गुरु की स्तुति करना।

जैसे कोई राजा शत्रु पर विजय प्राप्त कर लौटे अथवा विवाह आदि का प्रसंग हो तो उस समय जनमेदिनी हर्ष से विविध वाजिंत्रों का नाद करती हैं, आनन्दित होकर ऊँचे स्वर से गाते हैं, नृत्य करते हैं, पूज्यजनों की पूजा करते हैं वैसे ही यहाँ हर्ष से उच्च स्वर में वर्धमानस्वामी की स्तुति बोलते हैं।

तदनन्तर नमुत्थुणंसूत्र बोलकर अनुमति पूर्वक पूर्वाचार्य रचित स्तवन बोला जाता है। यहाँ तपागच्छ आदि कुछ परम्पराएँ 170 तीर्थंकरों की स्तुति रूप 'वरकणय संख' की गाथा बोलते हैं। उसके बाद आचार्य आदि तीन एवं कुछ परम्पराओं में 'भगवानऽहं' आदि के नाम से चार को थोभवंदन किया जाता है। फिर दायें हाथ को चरवला या भूमि पर स्थापित कर 'अड्ढाइज्जेसु सूत्र' बोलते हैं। षडावश्यक की पूर्णाहूति के अनन्तर की जाने वाली उक्त सभी क्रियाएँ प्रतिक्रमण के पूर्ण होने पर देव-गुरु को वंदन करने के अर्थ में समझनी चाहिए।

दिवस सम्बन्धी अतिचारों का विशेष शोधन क्यों?

उपर्युक्त विधि के पश्चात प्रायश्चित्त विशुद्धि के निमित्त चार लोगस्स का कायोत्सर्ग किया जाता है। इसका हेतु यह है कि दो-तीन गाँठ लगाकर बाँधा गया सामान मजबूत रहता है इस न्याय से चारित्राचार की शुद्धि हेतु पूर्व में दो लोगस्स का कायोत्सर्ग करने के उपरान्त भी प्राणातिपात आदि महाव्रतों में लगे हुए अतिचारों की विशुद्धि के लिए पुन: से दैवसिक प्रायश्चित्त का कायोत्सर्ग

करते हैं। इसके बाद सम्पूर्ण अतिचारों की शुद्धि हो जाने पर कृतज्ञता और खुशी दर्शाने के लिए मंगल के रूप में लोगस्ससूत्र बोलते हैं।

परवर्ती काल में संयुक्त की गई विधि

तत्पश्चात खरतरगच्छ की वर्तमान सामाचारी के अनुसार सकल श्री संघ में किसी प्रकार का मानसिक क्षोभ, वाचिक संघर्ष आदि छोटे-छोटे उपद्रव न हो, तदहेतु 'क्षुद्रोपद्रव उड्डावणार्थं करेमि काउस्सग्गं' बोलकर चार लोगस्स का कायोत्सर्ग किया जाता है।

उसके बाद श्वेताम्बर मूर्तिपूजक की सभी परम्पराओं में दो खमासमण पूर्वक स्वाध्याय का आदेश लेकर सज्झाय बोली जाती है। यदि साधु-साध्वी हो तो औपदेशिक सज्झाय बोलते हैं। गृहस्थ के लिए सज्झाय के रूप में तीन नवकार मन्त्र बोलने की परम्परा है।

प्रतिक्रमण के अन्त में सज्झाय बोलने का अभिप्राय क्या है?

मुनि और गृहस्थ को रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करना चाहिए, ऐसी अर्हत आज्ञा है। प्रमाद वश स्खलना न हो जाए, इस तथ्य को ध्यान रखते हुए पूर्वाचार्यों ने प्रतिक्रमण की क्रिया के साथ स्वाध्याय को जोड़ दिया है ताकि इस नियम का पूर्णत: खण्डन न हो। यद्यपि प्रतिक्रमण काल में पूर्ण प्रहर स्वाध्याय नहीं होता है फिर भी सज्झाय के रूप में दशवैकालिक आदि आगमों की 5 गाथा अथवा तीन नवकार मन्त्र कहकर प्रभु आज्ञा का बहुमान किया जाता है।

उसके बाद खरतरगच्छ की प्रचलित परम्परा में श्री स्तंभन पार्श्वनाथ का चैत्यवन्दन तथा श्री संघ की शांति निमित्त चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करते हैं। फिर चारों गुरुदेव की आराधना निमित्त एक साथ चार लोगस्स अथवा प्रत्येक का नाम लेते हुए चार-चार नवकारमन्त्र का कायोत्सर्ग करते हैं। तत्पश्चात चउक्कसाय का चैत्यवन्दन एवं लघुशांति पाठ बोलकर सामायिक पूर्ण करते हैं।

तपागच्छ आदि परम्पराओं में सज्झाय तक की विधि करने के पश्चात दु:खक्षय एवं कर्मक्षय निमित्त चार लोगस्स का कायोत्सर्ग कर सकल संघ की शांति के लिए किसी एक के द्वारा लघु शांतिस्तव बोला जाता है और दूसरे सभी कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित रहकर सुनते हैं। उसके बाद प्रकट लोगस्स बोलते हैं। फिर सामायिक पूर्ण करने की विधि प्रारम्भ कर बीच में 'चउक्कसाय' का चैत्यवन्दन करते हैं। दैवसिक-प्रायश्चित्त सम्बन्धी कायोत्सर्ग के पश्चात की

जाने वाली विधि परम्परागत सामाचारी के अनुसार समझनी चाहिए। प्राचीन ग्रन्थों में इन क्रियाओं का उल्लेख नहीं है।

प्रतिक्रमण के अन्त में चउक्कसाय का चैत्यवन्दन क्यों किया जाता है?

इस चैत्यवन्दन का मुख्य कारण यह है कि साधु-साध्वी की तरह श्रावक-श्राविकाओं को भी एक अहोरात्रि में सात बार चैत्यवंदन करना चाहिए। इनमें अन्तिम चैत्यवन्दन रात्रि में शयन करने से पूर्व करने का निर्देश है वह प्रमादवश छूट न जाये, इसलिए प्रतिक्रमण के अंत में कर लिया जाता है। इस प्रकार गृहस्थ के लिए प्रात:कालीन प्रतिक्रमण के प्रारंभ में बोला जाने वाला 'जयउ सामिय' अथवा 'जगचिंतामणि' का पहला, प्रात:कालीन प्रभु दर्शन का दूसरा, भोजन करने से पूर्व तीसरा, मध्याह्न और सायंकालीन प्रभु दर्शन का चौथा-पांचवाँ, दैवसिक प्रतिक्रमण के प्रारम्भ का छठा और दैवसिक प्रतिक्रमण के अन्त का सातवाँ–ऐसे सात चैत्यवंदन का नियम है। इस सामाचारी के अनुकरणार्थ चउक्कसाय का चैत्यवन्दन करते हैं। साधु एवं पौषधधारी गृहस्थ सातवाँ चैत्यवन्दन संथारा पौरुषी पढ़ते समय करते हैं।

प्रत्याख्यान के विषय में कुछ ध्यातव्य बिन्दू

शंका– दैवसिक प्रतिक्रमण शुरू करने से पूर्व दिवसचरिम प्रत्याख्यान ग्रहण करते हैं उस समय चौविहार उपवास करने वाले मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन और द्वादशावर्त्त वन्दन नहीं करते हैं ऐसा क्यों?

समाधान– इसका हेतु यह है कि चौविहार उपवास करने वाला व्यक्ति प्रात:काल ही चारों आहारों का त्याग कर देता है अत: उसे सन्ध्या में पुन: से प्रत्याख्यान लेने की आवश्यकता नहीं रहती। इस कारण मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन और वन्दन दोनों जरूरी नहीं है क्योंकि उक्त दोनों क्रियाएँ नया प्रत्याख्यान लेने के उद्देश्य से ही होती है।

- तिविहार उपवास करने वाले के लिए केवल मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन का नियम है, द्वादशावर्त्त वन्दन करने का नहीं। इसका हेतु परम्परागत सामाचारी ही समझना चाहिए।
- सन्ध्या को चौविहार, पाणाहार, दुविहार आदि प्रत्याख्यान करने वालों के लिए मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन और वन्दन करने का प्रयोजन स्पष्ट ही है।
- आयंबिल, नीवि, एकासणा, बिआसणा आदि करने वालों को आहार करने के बाद तिविहार का प्रत्याख्यान कर लेना चाहिए अर्थात पानी पीने की

छूट रखकर शेष तीन आहार का त्याग कर देना चाहिए। इससे प्रत्याख्यान का अधिक लाभ मिलता है। फिर पानी का भी त्याग कर देने के लिए शाम को पाणाहार का प्रत्याख्यान करना चाहिए।

• यदि किसी गृहस्थ को तिविहार का प्रत्याख्यान नहीं आता हो तो तीन नवकार मन्त्र गिनकर दूसरे दिन के सूर्योदय तक कुछ भी खाना-पीना नहीं है ऐसा संकल्प करके उठे। इससे तिविहार प्रत्याख्यान का लाभ मिल जाता है।

दैवसिक प्रतिक्रमण संबंधी विशेष स्पष्टीकरण

शंका– कायोत्सर्ग और स्तुति अमुक-अमुक सूत्रों के बाद ही क्यों? सूत्रों के पूर्व क्यों नहीं?

समाधान– पहली स्तुति का कायोत्सर्ग परमात्मा का चैत्यवन्दन-स्तवन करके करते हैं क्योंकि कायोत्सर्ग से हजारों भक्तों द्वारा किए जाने वाले वन्दन-पूजन-सत्कार-सम्मान की अनुमोदना का लाभ प्राप्त करना है और उस लाभ की अनुभूति पहले स्वयं वन्दन करके ही प्राप्त की जा सकती है।

दूसरी स्तुति का कायोत्सर्ग समस्त लोक के अरिहंत चैत्यों को भक्तों द्वारा की जाने वाली वंदना, अर्चना आदि की अनुमोदना लाभ के उद्देश्य से करते हैं।

तीसरी स्तुति का कायोत्सर्ग अरिहंत परमात्मा के पश्चात उपकारक श्रुत-आगम के प्रति किया जाने वाला वन्दन-पूजन आदि की अनुमोदना के निमित्त करते हैं।

चौथी स्तुति का कायोत्सर्ग शान्ति समाधि के प्रेरक सम्यग्दृष्टि देवों के स्मरण के अर्थ में करते हैं।

शंका– दैवसिक प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में और रात्रिक प्रतिक्रमण के अन्त में चार स्तुतियों द्वारा देववन्दन करते समय एक-एक नवकार मन्त्र का कायोत्सर्ग किसलिए किया जाता है?

समाधान– सर्वप्रथम एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग जिस तीर्थंकर प्रभु की स्तुति बोलनी है ऐसे अरिहंत परमात्मा की आराधना निमित्त किया जाता है, क्योंकि अरिहंत का हमारे जीवन में सबसे अधिक उपकार है। दूसरा कायोत्सर्ग शाश्वत-अशाश्वत बिंब के रूप में प्रतिष्ठित सभी तीर्थंकरों एवं सिद्धात्माओं की आराधना निमित्त करते हैं, क्योंकि उन सभी के वन्दन-पूजन से आत्मा की परिणति अत्यन्त निर्मल बनती है। तीसरा कायोत्सर्ग श्रुत की अनुमोदना के उद्देश्य से करते हैं इससे जिनवाणी एवं आगम ग्रन्थों के प्रति बहुमान उत्पन्न

होता है तथा चौथा कायोत्सर्ग सम्यग्दृष्टि देवों के स्मरण रूप में करते हैं, क्योंकि उनके सहयोग से मानसिक समाधि प्राप्त होती है और अनिष्टकारी संभावनाएँ समाप्त हो जाती है।

शंका– नमोऽस्तु वर्धमानाय' अथवा 'संसार दावानल' की स्तुति उच्च स्वर से क्यों बोलते हैं?

समाधान– इसका मुख्य कारण यह है कि भगवान महावीर द्वारा स्थापित शासन को पाकर छह आवश्यक जैसी महान् योग साधना प्राप्त हुई है, उसकी कृतज्ञता के रूप में प्रभु की स्तुति की जाती है तथा दुनियाँ के किसी भी धर्म में षडावश्यक जैसा अद्भुत योग नहीं है जो मुझे प्राप्त हुआ है उस हर्ष की अभिव्यक्ति करने के उद्देश्य से यह स्तुतियाँ उच्च स्वर में बोलते हैं।

शंका– देववंदन करते समय प्रथम और अन्तिम स्तुति से पहले 'नमोऽर्हत्' क्यों?

समाधान– देववन्दन करते वक्त प्रथम और अन्तिम स्तुति से पूर्व 'नमोऽर्हत्' आदर एवं सम्मान भाव का सूचक है। जिस प्रकार कोई सेवक या दूत राजा के समीप आते समय और लौटते समय दोनों बार प्रणाम करता है। यही तथ्य देववन्दन के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

शंका– देववन्दन के पश्चात पुनः नमुत्थुणं सूत्र क्यों बोलते हैं?

समाधान– देववन्दन के तुरन्त बाद छह आवश्यक रूप प्रतिक्रमण प्रारम्भ करते हैं। इस क्रिया में भावधारा जुड़ी रहे तद्हेतु पुनर्मंगल के रूप में यह सूत्र बोला जाता है। इससे परमात्मा की स्तुति एवं उन्हें वंदन होता है।

शंका– दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण की स्थापना के पूर्व चार खमासमण देने चाहिए या पाँच?

समाधान– प्रतिक्रमण हेतु गर्भ (पृ. 4) में पाँच खमासमण का उल्लेख है। पाँचवें खमासमण में 'समस्त श्रावकों को वन्दूं' ऐसा कहने का निर्देश है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक की प्रचलित अधिकांश परम्पराओं में चार और कुछ में पाँच खमासमण भी दिये जाते हैं।

शंका– प्रतिक्रमण स्थापना के पूर्व दिए जाने वाले चार खमासमणों में आचार्य आदि गुरु तत्त्व को ही वन्दन करते हैं अरिहंत एवं सिद्ध रूप देवतत्त्व को क्यों नहीं?

समाधान– राजा का मंत्री प्रधान होता है। जैसे राजा के प्रधान का बहुमान

करने से समीहित सिद्धि हो जाती है वैसे ही अरिहंत एवं सिद्ध के प्रधान आचार्य आदि को वन्दन करने से इष्ट सिद्धि होती है।

शंका– प्रतिक्रमण की स्थापना करते समय दायें हाथ को मुट्ठी रूप में क्यों बांधते हैं?

समाधान– मुट्ठी के रूप में की गई मुद्रा दृढ़ संकल्प की सूचक होती है। जिस तरह हमारी मांगें पूरी करके ही हम दम लेंगे... ऐसा दृढ़ निर्धारण करने के लिए रेली में मुट्ठी हवा में उछालते हुए नारे बोले जाते हैं। इसी तरह 'सव्वस्सवि सूत्र' द्वारा दिन भर में हुए एक-एक पाप का विशेष प्रकार से, विस्तारपूर्वक प्रतिक्रमण करूंगा। ऐसा दृढ़ संकल्प व्यक्त करने में आता है इसलिए मुट्ठी रूप में यह सूत्र बोलते हैं।

प्रतिक्रमण की स्थापना करते समय दिल में खेद एवं क्षोभ का अनुभव होना चाहिए। इन्हीं भावों को दर्शाने हेतु यह सूत्र मस्तक झुकाकर बोला जाता है। 'पाप के भार से झुक गया हूँ' यह अभिव्यक्त करने के लिए भी मस्तक झुकाते हैं। इस क्रिया के दौरान मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्तियों के पश्चात्ताप के रूप में माफी मांगने के लिए और गुरु चरण के स्पर्श की भावना से भी मस्तक झुकाया जाता है। इस तरह यहाँ मस्तक झुकाने के अनेक अभिप्राय हैं।

शंका– पाँच आचार में प्रथम तो ज्ञानाचार है, तब दैवसिक प्रतिक्रमण में सबसे पहले चारित्राचार की शुद्धि क्यों की जाती है?

समाधान– पाँच आचारों में अपेक्षा से चारित्राचार का अधिक महत्त्व है क्योंकि यही मुक्ति का अनन्तर कारण है, जबकि ज्ञानाचार आदि पारम्परिक कारण है। आवश्यकनिर्युक्ति (1179, 1174) में कहा गया है कि

जम्हा दंसणनाणा,संपुण्णफलं न दिंति पत्तेयं।
चारित्तजुया दिंति अ, विसिस्सए तेण चारित्तं।
सम्मत्तं अचरित्तस्स, हुज्ज भयणाइ नियमसो णत्थि।
जो पुण चरित्तजुत्तो, तस्स उ निअमेण संमत्तं।।

ज्ञान और दर्शन भी चारित्र युक्त हो तो ही सम्पूर्ण फल प्रदान कर सकते हैं इसके बिना नहीं। आवश्यकनिर्युक्ति में यह भी कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि में चारित्र धर्म वैकल्पिक है नियमा नहीं, किन्तु जो चारित्र युक्त होता है उसमें नियम

से सम्यगदर्शन रहता ही है। इस प्रकार चारित्र का अधिक महत्त्व होने से इसकी शुद्धि पहले की जाती है।

शंका– दिनकृत अतिचारों (दोषों) की आलोचना करने से पूर्व उन दोषों का चिन्तन या अवधारण करना आवश्यक क्यों?

समाधान– जिस प्रकार रोगी डॉक्टर के पास जाने से पहले शरीर में कौनसी खराबी है? किस रोग का उपचार करवाना है? यह सब कुछ ध्यान में कर लेता है। इसी भाँति प्राइममिनिस्टर आदि विशिष्ट व्यक्तियों को कुछ कहना हो तो मुलाकात से पूर्व ही उसकी पूर्व भूमिका तैयार कर ली जाती है उसी प्रकार दिवसकृत जिन दुष्कृत्यों का प्रतिक्रमण करना हो उनका पहले से ही अवधारण कर लिया जाए तो दोषों की आलोचना और प्रतिक्रमण ज्यादा अच्छी तरह से हो सकता है इससे किसी भी दुष्कृत की आलोचना छूटने की सम्भावना कम रहती है। जैसे रोग की पहिचान किये बिना दवा नहीं दी जा सकती, कपड़े पर लगे दाग को देखे बिना अच्छी तरह साफ नहीं किया जा सकता, वैसे ही आत्म प्रदेशों पर कहाँ, कैसा मैल जमा है यह जाने बिना उसकी सफाई कैसे की जा सकती है? इसलिए सभी पापों का विचार पहले ही कर लेना जरूरी है।

शंका– दैवसिक प्रतिक्रमण में दिवसगत अतिचारों के चिन्तन का अभिप्राय क्या है? यहाँ दिनकृत दोष कहाँ से कहाँ तक मानने चाहिए?

समाधान– यतिदिनचर्या (गा. 330) में कहा गया है कि

पाभाइअ पडिक्कमणाणंतर, मुहपुत्ति पमुह कज्जेसु।
जाव इमो उस्सग्गो, अइआरे ताव चिंतेज्जा।।

प्राभातिक प्रतिक्रमण करने के बाद से लेकर सन्ध्याकालीन प्रतिक्रमण की मुँहपत्ति प्रतिलेखन करने से पूर्व समय तक किये गये दोषों को दिवसकृत मानना चाहिए।

शंका– गुरुजनों से साढ़े तीन हाथ दूर रहकर वंदन आदि क्यों करना चाहिए?

समाधान– चारों दिशाओं में गुरु का शरीर परिमाण क्षेत्र साढ़े तीन हाथ का होता है इसे अवग्रह कहा जाता है।

गुरु के अवग्रह से बाहर उपस्थित होकर वन्दन, स्वाध्याय आदि करने से गुरु को किसी तरह की परेशानी नहीं होती। वे इच्छानुसार उठ-बैठ सकते हैं और आवश्यकता होने पर शयन भी कर सकते हैं।

गुरु से साढ़े तीन हाथ दूर रहने पर हाथ-पैर के स्पर्शादि द्वारा एवं थूकादि के द्वारा होने वाली आशातनाओं से भी बचाव हो जाता है। ऐसे कई कारणों से गुरु अवग्रह का पालन करना चाहिए।

शंका– द्वादशावर्त्त वन्दन करते समय रजोहरण या मुहपत्ति पर गुरु चरणों की स्थापना की जाती है, यदि गुरु प्रत्यक्ष में हो तो क्या करना चाहिए?

समाधान– गुरु प्रत्यक्ष में उपस्थित हों और सभी लोग गुरु चरण का स्पर्श करने आएं तो एक-दूसरे में पहले चरण स्पर्श करने की होड़ लग सकती है। इससे अनुशासन भी खंडित होता है और समूह में ऐसा करने पर तो पूर्ण व्यवस्था ही भंग हो जाती है। गुरु साधनारत हो तो चरण स्पर्श करने से उनकी साधना में विघ्न आ सकता है। अधिक समुदाय में विवेक न रखा जाए तो गुरु की पीड़ा का कारण भी बन सकता है। अत: गुरु चरणों का स्पर्श न करके मुँहपत्ति या रजोहरण में तद्रूप स्थापना ही करनी चाहिए।

शंका– द्वादशावर्त्त वन्दन उत्कटासन मुद्रा में ही क्यों?

समाधान– यह वंदन करते समय गुरु चरणों को स्पर्श करने की अभिव्यक्ति कई बार की जाती है जो खड़े होकर या पालथी में बैठकर सम्भव नहीं है। दूसरे, गुरु के समक्ष बैठने का यह मुख्य आसन है। इसी कारण वाचना, स्वाध्याय आदि विधियाँ भी उभड़क आसन में ही की जाती हैं, पालथी लगाकर बैठना अपवाद मार्ग है।

शंका– द्वादशावर्त्त वन्दन क्रमश: दो बार ही क्यों किया जाता है?

समाधान– जैसे राजसेवक राजा की आज्ञा प्राप्त करने से पूर्व नमस्कार करके उनके समीप खड़ा रहता है। उसके बाद राजा की आज्ञा को शिरोधार्य करने से पहले पुन: नमस्कार करके जाता है इसी प्रकार गुरु आज्ञा को सुनने के लिए पहला वंदन एवं दूसरा वंदन गुरु आज्ञा को धारण करने के लिए किया जाता है।

वंदनार्थी पहली बार वन्दन करते हुए 'मे मिउग्गहं' कहकर गुरु के साढ़े तीन हाथ के अवग्रह में प्रवेश कर तथा आधा वंदन करने के पश्चात 'आवस्सियाए पडिक्कमामि' कहते हुए अवग्रह से बाहर हो जाता है।

यहाँ शिष्य गुर्वाज्ञा प्राप्त कर पहली बार में अवग्रह से बाहर हुआ। उसके बाद दूसरी बार में वंदन करते समय 'आवस्सियाए' शब्द न बोलते हुए अवग्रह में ही स्थित रहकर वन्दन पूर्ण होने के बाद आज्ञा को अमल करने के रूप में प्रत्याख्यान या आलोचना करता है।

शंका– द्वादशावर्त्त वन्दन करते समय साधु-साध्वी मुखवस्त्रिका को बायें घुटने पर रखते हैं, खरतरगच्छ परम्परा के श्रावक-श्राविकाएँ मुखवस्त्रिका के दोनों पाट खोलकर उसे चरवले की फलियों पर रखते हैं तथा तपागच्छ आदि परम्परावर्ती गृहस्थजन मुँहपत्ति को बिना खोले ही चरवला पर रखते हैं, यह अन्तर क्यों?

समाधान– गुरु चरणों की कल्पना करते हुए द्वादशावर्त्त वन्दन किया जाता है। साधु-साध्वी रजोहरण की डंडी पर चरणयुगल की कल्पना करते हैं जबकि गृहस्थ मुखवस्त्रिका पर गुरु चरणों की कल्पना करता है। उसमें भी खरतरगच्छ परम्परा में मुँहपत्ति खुला रखने का जो विधान है उसका हेतु यह है कि मुँहपत्ति के दोनों हिस्सों में युगल चरण की कल्पना की जाती है तथा तपागच्छ में मुँहपत्ति खोलकर नहीं रखते, यह परम्परागत सामाचारी समझना चाहिए।

शंका– श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य आदि पदस्थ साधु-साध्वियों को द्वादश आवर्त्तपूर्वक वन्दन किया जाता है तो यहाँ 'आवर्त्त' का अभिप्राय क्या है?

समाधान– जिस प्रकार वैदिक मन्त्रों में स्वर और हस्त संचालन का ध्यान रखा जाता है उसी प्रकार इस वंदन पाठ में भी आवर्त्त के रूप में स्वर एवं चरण स्पर्श के लिए की जाने वाली हस्त संचालन क्रिया के सम्बन्ध में लक्ष्य दिया गया है। स्वर के माध्यम से वाणी में एक विशेष प्रकार का ओज एवं माधुर्य पैदा हो जाता है जो अन्त:करण पर अद्‌भुत प्रभाव डालता है।

आवर्त्त के सम्बन्ध में विशेष यह है कि जिस प्रकार वर और कन्या अग्नि की प्रदक्षिणा करने के बाद पारस्परिक कर्त्तव्य-निर्वाह के लिए आबद्ध हो जाते हैं उसी प्रकार आवर्त्त क्रिया गुरु और शिष्य को एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्य-बंधन में बाँध देती है। आवर्त्तन करते समय शिष्य गुरुजनों के चरण कमलों का स्पर्श करने के बाद अंजलिबद्ध दोनों हाथों को अपने मस्तक पर लगाता है। इसका अभिप्राय है कि वह गुरुदेव की आज्ञाओं को सदैव मस्तक पर वहन करने के लिए कृतप्रतिज्ञ है। यही आवर्त्त का मूल हार्द है।

शंका– वंदित्तु सूत्र में विस्तार से अतिचारों का मिच्छामि दुक्कडं दे दिया जाता है। उसके बाद तुरन्त अब्भुट्ठिओमिसूत्र क्यों?

समाधान– वंदित्तु सूत्र के द्वारा चार प्रकार के दुष्कृत्यों से पीछे हटते हैं जबकि इस सूत्र के माध्यम से महान उपकारी गुरुजनों के प्रति जो कुछ अविनय-अपराध किया हो उसका मिथ्यादृष्कृत दिया जाता है।

शंका– अब्भुट्ठिओमिसूत्र की विधि तक सभी दुष्कृत्यों का प्रतिक्रमण हो जाता है फिर 'आयरिय उवज्झाय सूत्र' क्यों बोलते हैं?

समाधान– समस्त दोषों का मूल राग-द्वेष है अत: कषायों का उन्मूलन करने के लिए 'आयरिय उवज्झाय सूत्र' कहते हैं। जैन शासन में कषाय निवृत्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि कषाय से संसार है और कषाय मुक्ति से मोक्ष है। वैसे तो द्वादशावर्त्त के वंदन में दूसरा वांदणा देकर गुरु के अवग्रह में ही खड़े रहते हैं किन्तु यहाँ दूसरा वांदणा देकर कषायों को निष्कासित करने के लिए अवग्रह से बाहर हो जाते हैं। उसके बाद मस्तक पर अंजलि रखने का ध्येय हैं कि कषायों का सेवन करते हुए अभिमान किया हो तो उसे निरस्त करने के लिए लघुता का गुण होना जरूरी है जो विनय मुद्रा से प्रकट हो सकता है। यहाँ चौथा प्रतिक्रमण आवश्यक पूर्ण होता है।

शंका– साधु-साध्वियों को 'आयरिय उवज्झाय सूत्र' बोलना चाहिए या नहीं? क्योंकि सामाचारीशतक आदि कुछ ग्रन्थों में निषेध है।

समाधान– योगशास्त्र वृत्ति में 'काऊण वंदणं तो' ऐसा गाथा पाठ श्रावक के लिए ही कहा गया है। यदि 'अशठ' शब्द हो तो साधु एवं श्रावक दोनों के लिए समान माना जा सकता है किन्तु यहाँ 'सढो' शब्द का प्रयोग है। भावदेवसूरिकृत सामाचारी की अवचूर्णि में उल्लिखित है कि कुछ परम्पराओं में साधु-साध्वी आयरिय उवज्झाय की तीन गाथा नहीं बोलते हैं। इस प्रकार आचार दिनकर आदि ग्रन्थों में भी यही कहा गया है कि गच्छ-परम्परा के भेद से किन्हीं में बोलते हैं तो किसी में नहीं। मेरी दृष्टि से यह परम्परागत सामाचारी भेद है इसलिए जिस समुदाय का जो नियम हो वैसा कर लेने में कोई आपत्ति नहीं है।

शंका– पांचवाँ कायोत्सर्ग आवश्यक क्यों करते हैं?

समाधान– यह आवश्यक आत्म सत्ता पर लगे हुए अतिचार रूपी घाव के ऊपर मलम लगाने जैसा है। इसके द्वारा प्रतिक्रमण से भी अशुद्ध रह गये सूक्ष्म अतिचारों का विशुद्धिकरण होता है तथा कील रूप दोषों का आंतरिक अंश भी समाप्त हो जाता है। कायोत्सर्ग आवश्यक के द्वारा चारित्र, दर्शन और

ज्ञान की विराधना का भी परिमार्जन किया जाता है।

उपरोक्त सभी कार्य समभाव में उपस्थित रहकर ही हो सकते हैं एतदर्थ इस आवश्यक में सर्वप्रथम करेमिभंते सूत्र बोलते हैं।

शंका– कायोत्सर्ग आवश्यक में रत्नत्रय के क्रम की अपेक्षा पहले दर्शनाचार शुद्धि का कायोत्सर्ग होना चाहिए, परन्तु चारित्राचार शुद्धि का होता है और वह भी दो लोगस्ससूत्र का, जबकि दर्शनाचार की शुद्धि निमित्त एक लोगस्स का ही चिंतन करते हैं ऐसा क्यों?

समाधान– जिस तरह लंगड़ा मनुष्य आँखों से ठीक देख सकता है फिर भी यदि उसे किसी स्थान पर पहुँचना हो तो उसका लंगड़ापन रूकावट बनता है उसी प्रकार चारित्र के बिना ज्ञान भी लंगड़ा है। चारित्र मोक्ष का अनन्तर कारण होने से विशिष्ट है और चारित्र में दोषों की सम्भावना अधिक होती है इसलिए चारित्र की विशुद्धि हेतु दो लोगस्ससूत्र का ध्यान करने की सामाचारी है।

इसी प्रकार ज्ञानाचार की शुद्धि से पूर्व दर्शनाचार की शुद्धि करने का हेतु यह है कि जैसे फिटकरी पानी को निर्मल करती है वैसे ही सम्यग्दर्शन ज्ञान को निर्मल करता है। इसलिए दर्शनाचार की शुद्धि पहले होती है और ज्ञानाचार की बाद में।

शंका– श्रुत देवता श्रुत की समृद्धि देने वाले एवं श्रुत भक्ति करने वाले जीवों के ज्ञानावरण आदि कर्मों का क्षय करने में निमित्तभूत होने से इनका कायोत्सर्ग करना उचित है किन्तु श्रुत अधिष्ठातृ देवता व्यन्तर आदि प्रकारों के अन्तर्गत होने से तथा दूसरों के कर्मों का क्षय करने में असमर्थ होने से उनका कायोत्सर्ग युक्तियुक्त नहीं है। दूसरी शंका यह होती है कि ज्ञानातिचार की शुद्धि रूप तीसरे कायोत्सर्ग में श्रुत रूप देवता का स्मरण हो जाता है फिर श्रुत देवता का पृथक् से कायोत्सर्ग क्यों?

समाधान– हेतुगर्भ (पृ. 12) में इसका समाधान देते हुए कहा गया है कि श्रुत अधिष्ठातृ देवता का स्मरण 'गोचर शुभ प्रणिधानस्यापि' इस वचन से कर्मक्षय का हेतु हैं। इस सम्बन्ध में शास्त्र वचन भी है–

सुयदेवयाइ जीए, संभरणं कम्मक्खयकरं भणियं।
नत्थित्ति अकज्जकरी, च एवमासायणा तीए।।

शंका– श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवता आदि के कायोत्सर्ग से मिथ्यात्व का प्रसंग आता है इसलिए युक्तिसंगत नहीं है?

समाधान– ऐसा मानना अनुचित है, क्योंकि पूर्वधर आचार्यों के समय से यह कायोत्सर्ग किया जाता है। फिर आवश्यक टीका और पंचवस्तुक आदि में श्रुतदेवता आदि के कायोत्सर्ग एवं उन्हें नमस्कार करने के स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होते हैं जिसका प्रमाण इस प्रकार है–

आवस्सय लहुगुरु, वित्तिचुण्णि भासेसु पक्खियाईसु।
पवयणसारूद्धारे, सुयदेवयाइ उस्सग्गो।।
प्रणिपत्य जिनवरेन्द्रं, वीरं श्रुतदेवतां गुरुन् साधून्।
आवश्यकस्य विवृत्तिं, गुरुपदेशादहं वक्ष्ये।।
आयरणा सुयदेवय, माईणं होई उस्सग्गो।।

उक्त सन्दर्भों से श्रुत देवता आदि के कायोत्सर्ग की सुस्पष्ट सिद्धि हो जाती है।

शंका– प्रतिक्रमण एक आध्यात्मिक क्रिया है और वह विरतिधर मुनि एवं गृहस्थों के द्वारा ही की जा सकती है तब उस क्रिया के अन्तर्गत अविरत सम्यग्दृष्टि देवों का स्मरण एवं स्तुति क्यों?

समाधान– सम्यगदृष्टि देवी-देवता विरतिधर नहीं है फिर भी अरिहंत परमात्मा एवं उनके शासन के प्रति भक्ति निष्ठ होते हैं। जिस तरह विशिष्ट प्रसंगों में सत्ताधिकारियों को याद करने पर, आमन्त्रण देने पर या उनका उल्लेख करने पर उनकी तरफ से प्रत्येक कार्य में सहयोग प्राप्त होता है तथा अनिष्ट आशंकाएँ दूर होती है। इसी तरह जिनधर्म समर्पित देवों का स्मरण करने से उनकी अद्भुत शक्ति का हमारी ओर संचरण होता है जिससे शुभ कार्यों में संभावित विघ्न दूर हो जाते हैं इसलिए सम्यक्त्वी देवों को याद करना अनुचित नहीं है और स्मरण करने मात्र से विरति भाव दूषित नहीं हो जाता। यदि उन्हें वन्दन किया जाए तो व्रत आदि में दोष लग सकता है लेकिन वन्दन नहीं करते हैं। यही वजह है कि 'वैयावच्चगराणं सूत्र' बोलने के पश्चात सीधा अन्त्यसूत्र बोलकर कायोत्सर्ग कर लेते हैं, वंदणवत्तियाए सूत्र नहीं बोलते हैं।

शंका– दैवसिक प्रतिक्रमण प्रारम्भ करने से पहले ही दिवस चरिम प्रत्याख्यान कर लेते हैं फिर छठें आवश्यक के रूप में मुहपत्ति प्रतिलेखन एवं द्वादशावर्त्तवंदन आदि क्यों?

समाधान– पांचवाँ कायोत्सर्ग आवश्यक घाव को समाप्त करने के लिए मरहमपट्टी रूप है। इससे घाव मिट जाता है किन्तु उसके ऊपर प्रत्याख्यान

आवश्यक गुणधारण अर्थ में Energy Tonic रूप है। अत: आवश्यक के क्रम में प्रत्याख्यान आवश्यक का स्मरण कर लेना चाहिए। क्रमानुसार इसका स्थान भी यही है। दैवसिक प्रतिक्रमण के प्रारंभ में तो सूर्यास्त से पूर्व प्रत्याख्यान लेने का नियम होने से एवं अधिक से अधिक प्रत्याख्यान दशा में रहने के भाव से प्रत्याख्यान किया जाता है।

उसके बाद हितशिक्षा की कामना रूप में 'इच्छामो अणुसट्ठिं' बोला जाता है। फिर 'नमो खमासमणाणं' इस पद के द्वारा भी गुरु को नमन करने पूर्वक अनुशास्ति की प्रार्थना की जाती है। तदनु 'नमोऽर्हत् सूत्र' कहकर 'नमोस्तु वर्धमानाय सूत्र' बोलते हैं।

प्रश्न– संसार दावानल की चार स्तुतियों में से तीन स्तुति ही क्यों बोलते हैं?

उत्तर– संसारदावानल की तीन स्तुतियाँ आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा रचित है तथा चौथी स्तुति की रचना करते-करते उनका प्राणान्त होने से वह अधूरी रह गई और उसे श्रीसंघ ने पूर्ण किया। संघ कृत एवं शोक सूचक होने के कारण इसे दैवसिक प्रतिक्रमण में बोलने की परम्परा नहीं है। तपागच्छ परम्परा में पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण के समय एवं आचार्य आदि के काल धर्म होने पर देववन्दन करते समय चारों स्तुतियाँ कही जाती है।

शंका– पूर्व प्रतिक्रमण में ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र आचारों की शुद्धि हेतु कायोत्सर्ग कर चुके हैं फिर दैवसिक प्रायश्चित्त सम्बन्धी कायोत्सर्ग की क्या आवश्यकता है?

समाधान– 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवती'– इस न्याय से प्राणातिपात आदि विरमण अतिचारों की विशुद्धि निमित्त दैवसिक प्रायश्चित्त रूप कायोत्सर्ग करते हैं।

जिस प्रकार important documents और गहनों को Lock की तिजोरी में रखने के बाद भी उसे सुरक्षित कमरे में रखा जाता है वैसे ही आत्मा को भी अतिचार एवं दोष रूप चोरों से सुरक्षित रखने के लिए बार-बार प्रायश्चित्त रूप कायोत्सर्ग से उसकी शुद्धि की जाती है। हेतुगर्भ (पृ. 15) में कहा भी गया है कि

गुरुथुइगहणे थुइतिण्णि, वद्धमाणक्खरस्सरा पढइ ।
सक्कत्थवं थवं पढिय, कुणइ पच्छित्त उस्सग्गं ।।
पाणिवह मुसावाए, अदत्तमेहुण परिग्गहे चेव ।
सयमेगंतु अणूणं, ऊसासाणं हविज्जाहि ।।

सामाचारी के अनुसार यह कायोत्सर्ग कुछ जन प्रतिक्रमण के अन्त में तो कुछ परम्पराएँ प्रारम्भ में करती हैं। सम्भवत: ग्रन्थकर्त्ता जयचन्द्रसूरि के समय में यह कायोत्सर्ग कुछ परम्पराओं के द्वारा प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में भी किया जाता होगा। वर्तमान में तो प्राय: छह आवश्यक की मूल-विधि सम्पन्न होने के बाद ही करते हैं।

शंका– दैवसिक प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में तथा छह आवश्यक के पूर्ण होने पर आचार्य आदि अथवा भगवानहं आदि को चार खमासमण द्वारा वंदन क्यों करते हैं?

समाधान– जिस तरह सार्थवाह विविध प्रकार का व्यापार करने के लिए परदेश जाता है तो उससे पहले भेंट लेकर राजा और मंत्री के समीप पहुँचता है और अपना कार्य निर्विघ्न सफल हो ऐसा आशीर्वाद चाहता है तथा जब व्यापार करके पुन: लौटता है तब भी कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए राजा व मंत्री के निकट जाकर भेंटना देता है तथा नमस्कार पूर्वक कहता है कि आपकी कृपा से मेरा इष्ट कार्य अच्छी तरह से सिद्ध हुआ। इसी तरह प्रतिक्रमण भी एक महत्त्वपूर्ण विधान है। उसकी सम्पूर्ण सिद्धि हेतु क्रिया के प्रारम्भ में राजा के समान अरिहंत परमात्मा और मंत्री के समान आचार्य आदि गुरु को इसलिए वंदन करते हैं कि आपकी कृपा से मेरी यह साधना निर्विघ्न रूप से उल्लास पूर्वक सम्पन्न हो तथा छ: आवश्यक के अंत में आपकी कृपा से यह महान योग उत्साह पूर्वक पूर्ण हुआ, इस कृतज्ञता भाव को व्यक्त करने के लिए वंदन करते हैं।

शंका– दैवसिक प्रतिक्रमण में द्वादशावर्त्त वन्दन चार बार क्यों?

समाधान– धर्मसंग्रह टीका (भा. 2, पृ. 254) के अनुसार प्रथम वन्दन आलोचना हेतु, दूसरा वन्दन क्षमायाचना करने हेतु, तीसरा वन्दन आचार्य आदि सर्व संघ से विशिष्ट क्षमायाचना करने हेतु तथा चौथा वन्दन प्रत्याख्यान ग्रहण करने हेतु किया जाता है।

शंका– दैवसिक प्रतिक्रमण में चारित्राचार की शुद्धि हेतु दो बार कायोत्सर्ग क्यों?

समाधान– प्रतिक्रमण हेतु गर्भ (पृ. 12) के अनुसार चारित्राचार की शुद्धि हेतु पहली बार दिवस सम्बन्धी अतिचारों का चिन्तन किया जाता है, जबकि

दूसरी बार में दो लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करते हैं। इस प्रकार दोनों कायोत्सर्ग में चारित्राचार की शुद्धि का अभिप्राय भिन्न-भिन्न है।

प्रथम कायोत्सर्ग में दिनकृत दोषों की शुद्धि हेतु उनका स्मरण कर पूर्व भूमिका बनाई जाती है, किन्तु दूसरे में इस कायोत्सर्ग के पूर्व तक की गई प्रतिक्रमण क्रिया में किसी प्रकार की विधि या आलोचना सम्यक् प्रकार से न हुई हो उसकी विशुद्धि की जाती है। प्रतिक्रमण हेतु गर्भ (पृ. 12) में कहा भी गया है–

नमुक्कार चउव्वीसग-किइकम्मा लोअणं पडिक्कमणं।
किइकम्म दुरालोइय, दुप्पडिक्कंते य उस्सग्गो।।
एस चरित्तुस्सग्गो...।

शंका– दैवसिक प्रतिक्रमण के अन्त में गुरुदेव का कायोत्सर्ग क्यों किया जाता है?

समाधान– प्रतिक्रमण में षडावश्यक के बाद की प्रक्षिप्त विधि अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार सम्मिलित की गई है। सभी परम्पराओं में गुरु को अनन्य उपकारी माना ही गया है, फिर चारों गुरुदेवों का उपकार संघ अभ्युदय की अपेक्षा से विशेष रहा हुआ है। अतः गुरु उपकारों के स्मरणार्थ तथा इससे स्व परम्परा का बोध भी होता है इसलिए गुरुदेव का कायोत्सर्ग करते हैं।

रात्रिक प्रतिक्रमण के हेतु

विरति भाव में की गई क्रिया निर्दोष एवं विशुद्ध फलवाली होती है इसलिए प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में सामायिक ग्रहण करते हैं।

सामान्यतया रात्रिक प्रतिक्रमण के सभी हेतु दैवसिक प्रतिक्रमण के समान ही है। जिन हेतुओं में विशेषता है वे निम्नानुसार हैं–

सामायिक लेने के पश्चात सर्वप्रथम कुः स्वप्न-दुःस्वप्न सम्बन्धी अतिचारों का प्रायश्चित्त करने के लिए चार लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग किया जाता है। कुछ परम्परा में यह कायोत्सर्ग चैत्यवंदन के बाद भी किया जाता है, किन्तु दोनों का उद्देश्य एक ही है। स्त्री-पुरुष आदि के विषय में राग युक्त स्वप्न देखना कुः स्वप्न कहलाता है और लड़ाई, संघर्ष आदि से युक्त द्वेषमय स्वप्न देखना दुःस्वप्न कहा जाता है। यदि स्त्री को आसक्ति पूर्वक देखा हो तो उस दोष की निवृत्ति के लिए 100 श्वासोश्वास परिमाण 'चंदेसु निम्मलयरा' तक चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करना चाहिए। यदि स्वप्न में अब्रह्म का सेवन किया हो तो 'सागरवर गंभीरा' तक चार लोगस्स का चिंतन करना चाहिए।

कु:स्वप्न-दु:स्वप्न का यह अधिकार मुख्यतया स्त्री संग से रहित मुनि को अनुलक्षित करके कहा गया है और उसके निमित्त जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह पातक की शुद्धि के अर्थ में प्रायश्चित्त रूप होने से आवश्यक के अतिरिक्त है।

शंका– रात्रिक प्रतिक्रमण से पूर्व कुसुमिण-दुसुमिण के कायोत्सर्ग का रहस्य क्या है?

समाधान– प्रतिक्रमण एक भावस्पर्शी क्रिया है। इसमें आंतरिक जगत का जुड़ाव आवश्यक है। अब्रह्म आदि को घोर पाप मानने वाले साधक को ऐसा स्वप्न आ जाये तो वह अपने आप को गुनाहगार मानने लगता है और चैत्यवन्दन, स्वाध्याय आदि विशिष्ट क्रियाओं में स्वस्थ मन से जुड़ नहीं सकता। लेकिन यह कायोत्सर्ग कर लेने से पाप का प्रायश्चित्त हो गया है ऐसी प्रतीति मन को हल्का कर देती है। उसके फलस्वरूप सभी क्रियाओं में मन ठीक तरह से जुड़ा रहता है।

चैत्यवन्दन– सभी धर्मानुष्ठान देव-गुरु के वंदनपूर्वक सफल होते हैं। एतदर्थ प्रात:काल सबसे पहले इष्ट तत्त्वों को वन्दन करना चाहिए। यहाँ इसीलिए प्रथम चैत्यवन्दन किया जाता है और उसमें खरतर परम्परानुसार 'जयउसामिय सूत्र' तथा तपागच्छ आदि परम्पराओं में 'जगचिंतामणि सूत्र' से 'जयवीयराय सूत्र' तक सभी पाठ बोले जाते हैं। उसके बाद आचार्य आदि चार को वंदन करते हैं। इस प्रकार देव और गुरु दोनों को वंदन होता है।

स्वाध्याय– दैवसिक प्रतिक्रमण करते समय 'सज्झाय' अन्त में की जाती है जबकि रात्रिक प्रतिक्रमण में 'सज्झाय' प्रारम्भ में करते हैं। इसके मुख्य कई कारण हैं। प्रथम तो यह है कि मुनि और गृहस्थ को रात्रि के अंतिम प्रहर में उठकर रात्रिक प्रतिक्रमण का समय न होने तक स्वाध्याय करने की आज्ञा है जो इस तरह स्वाध्याय नहीं कर सकते हैं उनके लिए जिनाज्ञा के समाचरण एवं परम्परा के निर्वहन की दृष्टि से प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में ही स्वाध्याय को जोड़ा गया है।

दूसरा हेतु यह है कि प्रात:कालीन प्रतिक्रमण के लिए यथोक्त समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए। इस प्रतीक्षा के दरम्यान स्वाध्याय करने का निर्देश है। स्वाध्याय में भरत आदि महापुरुषों तथा सुलसा, चंदन बाला आदि महासतियों का स्मरण किया जाता है क्योंकि उन्होंने जैसा जीवन जीया वह हमारे लिए भी अध्यात्म का ऊँचा आदर्श है।

प्रतिक्रमण स्थापना– उसके बाद 'इच्छकार सुहराई सूत्र' द्वारा गुरु को सुखशाता पूछकर 'सव्वस्सवि सूत्र' से प्रतिक्रमण की स्थापना की जाती है।

तत्पश्चात प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में देववन्दन रूप मंगल के अभिप्राय से 'नमुत्थुणं सूत्र' बोला जाता है।

प्रथम आवश्यक– इसके पश्चात प्रथम सामायिक आवश्यक के लिए करेमि भंते... सूत्र आदि कहकर क्रमशः चारित्राचार-दर्शनाचार-ज्ञानाचार में लगे दोषों की शुद्धि के लिए अनुक्रम से एक लोगस्स, एक लोगस्स और पंचाचार की आठ गाथाओं का चिंतन किया जाता है।

शंका– दैवसिक प्रतिक्रमण में चारित्राचार की शुद्धि के लिए दो लोगस्स का कायोत्सर्ग किया जाता है तब रात्रिक प्रतिक्रमण में एक लोगस्स का कायोत्सर्ग क्यों?

समाधान– दिन की अपेक्षा रात्रि में अल्प प्रवृत्ति होने से अल्प दोष की सम्भावना रहती है। अतः एक लोगस्स सूत्र के चिंतन से उतने दोष दूर हो जाते हैं इसलिए एक लोगस्स का ही ध्यान करते हैं।

शंका– पंचाचार सम्बन्धी दोषों से विमुक्त होने के लिए आठ गाथाओं (अतिचारों) का चिंतन प्रथम कायोत्सर्ग में न करके तीसरे कायोत्सर्ग में ही क्यों किया जाता है?

समाधान– इसका उत्तर यह है कि प्रथम कायोत्सर्ग में निद्रा का कुछ उदय होना सम्भव है जिस कारण अतिचारों का अच्छी तरह से चिंतन नहीं किया जा सकता। इसीलिए तीसरे कायोत्सर्ग में चिन्तन करते हैं।

शंका– चारित्र सम्बन्धी अतिचारों का चिंतन तो तीसरे कायोत्सर्ग द्वारा होता है, फिर भी चारित्र शुद्धि के कायोत्सर्ग में एक लोगस्स के कायोत्सर्ग क्यों किया जाता है?

समाधान– शुद्धि के लिए कायोत्सर्ग आवश्यक है। कायोत्सर्ग में शुभ चिंतन की प्रधानता है फिर वह चाहे नमस्कार मन्त्र का हो, लोगस्ससूत्र का हो या तपादि का हो। दोषों के चिंतन पूर्वक किया गया कायोत्सर्ग ज्ञान एवं चारित्र सम्बन्धी दोषों की भी शुद्धि कर सकता है। इसलिए उपर्युक्त तर्क निराश्रित है।

तीसरा-चौथा आवश्यक– तदनन्तर तीसरे और चौथे आवश्यक की क्रिया होती है। इनके प्रयोजन दैवसिक प्रतिक्रमण की विधि हेतु के समान ही जानने चाहिए।

पांचवाँ आवश्यक– उसके बाद पूर्वकृत ज्ञानाचार आदि के कायोत्सर्ग से भी अशुद्ध रह गये अतिचारों की एक साथ शुद्धि करने की दृष्टि से तप चिंतवन का कायोत्सर्ग किया जाता है। यदि तप चिंतन की विधि नहीं आती हो तो छः लोगस्स अथवा चौबीस नवकार मन्त्र गिनने की परम्परा है।

शंका– रात्रिक प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में चारित्रादि प्रत्येक आचारों की पृथक्-पृथक् कायोत्सर्ग के द्वारा शुद्धि कर ली गई है फिर छहमासी तप चिंतन का कायोत्सर्ग क्यों?

समाधान– चारित्र आदि में लगे हुए सर्व प्रकार के अतिचार जिनकी शुद्धि प्रतिक्रमण के द्वारा भी नहीं हुई है उन सकल अतिचारों का युगपद् शोधन करने के लिए यह कायोत्सर्ग किया जाता है।

छठवाँ आवश्यक– इस आवश्यक में लोगस्स सूत्र कहकर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन, द्वादशावर्त्त वन्दन और सकल तीर्थ नमस्कार स्तवन बोलकर प्रत्याख्यान किया जाता है। यदि प्रत्याख्यान न आता हो तो उसकी धारणा कर लेनी चाहिए। यह छठे आवश्यक रूप क्रियाएँ हैं।

तत्पश्चात छह आवश्यक पूर्ण होने का हर्ष व्यक्त करने के लिए दैवसिक प्रतिक्रमण के समान 'इच्छामो अणुसट्ठिं' कहकर बढ़ते हुए अक्षरों वाली स्तुति बोलनी चाहिए।

तपागच्छ आदि परम्पराओं में इस जगह पुरुष वर्ग विशाल लोचन दलं' की तीन गाथा बोलते हैं। खरतर सामाचारी में पुरुष वर्ग 'परसमयतिमिर'का पाठ बोलते हैं तथा बहिनों के द्वारा 'संसारदावा' की तीन स्तुतियाँ कही जाती है।

उक्त स्तुति मन्द स्वर में बोलनी चाहिए, क्योंकि उच्च स्वर में बोलने पर हिंसक जीव-जन्तु उठ जाये और हिंसाजन्य प्रवृत्ति करने लगे तो उस दोष में निमित्त बनते हैं। इसी कारण रात्रिक प्रतिक्रमण मंद स्वर में किया जाता है तथा गुरु द्वारा आदेश आदि भी ऊँचे स्वर में नहीं दिये जाते।

यहाँ 'विशाल लोचन' अथवा 'परसमयतिमिर' आदि की तीन स्तुतियाँ लघु चैत्यवन्दन रूप हैं तथा षडावश्यक की विधि में अंतिम मंगल के रूप में बोली जाती हैं।

इसके अनन्तर प्रभातकाल की मंगल शुरूआत के रूप में चार स्तुतियों से देववन्दन किया जाता है। इसी क्रम में चार खमासमण देकर आचार्य आदि को

थोभ वन्दन किया जाता है तथा श्रावक 'अड्ढाईज्जेसु सूत्र' बोलते हैं। उक्त सर्व विधियाँ मंगल कारक समझनी चाहिए।

तदनन्तर वर्तमान सामाचारी के अनुसार सीमंधरस्वामी और सिद्धाचलजी का सम्पूर्ण चैत्यवन्दन किया जाता है। कुछ लोग पार्श्वनाथ भगवान, सम्मेत शिखर तीर्थ, ज्ञानपद आदि का भी चैत्यवन्दन करते हैं।

पाक्षिक प्रतिक्रमण के हेतु

पाक्षिकादि प्रतिक्रमण क्यों?

समाधान– दिन और रात्रि सम्बन्धी दोषों का हर दिन प्रतिक्रमण करने पर भी यदि कोई अतिचार छूट गया हो, अथवा स्मरण करने पर भी भय आदि के कारण गुरु समक्ष उसका प्रतिक्रमण न किया हो, अथवा मंद परिणाम के कारण उसका योग्य रीति से पश्चात्ताप न किया हो तो उस प्रकार के अतिचारों का प्रतिक्रमण करने तथा विशेष शुद्धि के लिए पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण किये जाते हैं।

'आज पक्खी चौमासी या संवत्सरी प्रतिक्रमण है' यह प्रतीति ही दिल में संवेग, वैराग्य, पापभीरूता आदि के भाव पैदा कर देती है। इसीलिए दैनिक प्रतिक्रमण में जिन पापों की आलोचना के लिए साहस या उद्यम के भाव न बने हो, वे इस प्रतिक्रमण के समय आ सकते हैं तथा इनके प्रभाव से उन पापों की भी आलोचना-प्रायश्चित्त वगैरह किया जा सकता हैं।

शास्त्रों में कहा भी गया है–

जह गइ पई-दिवसं पि, सोहियं तहवि पव्व संधीसु ।
सोहिज्जइ सविसेसं, एवं इहयं पि नायव्वं ।।

जिस तरह घर प्रतिदिन साफ किया जाता है लेकिन पर्वादि के दिनों में विशेष प्रकार से सफाई करते हैं उसी प्रकार उभय सन्ध्याओं में हर दिन प्रतिक्रमण करने पर भी पाक्षिक (चतुर्दशी) के दिन छोटे-बड़े अतिचारों की विशेष शुद्धि की जाती है।

पाक्षिकादि प्रतिक्रमण की विधियाँ अधिक क्यों?

दाग जितना पुराना होता है उसे मिटाने के लिए उतना ही विशिष्ट प्रयत्न करना होता है उसी प्रकार पाक्षिक आदि दिनों में जिन अतिचारों की शुद्धि की जाती है वे पन्द्रह दिन के अन्तराल के दोष होने से पुराने होते हैं। इस प्रकार

अनेक दिनों के एकत्रित अतिचारों की संख्या अधिक होने के कारण उनके शुद्धिकरण का प्रयास विशेष रूप से आवश्यक बन जाता है। इन सब कारणों से पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण की विधियाँ लम्बी है और कायोत्सर्ग भी उत्तरोत्तर बड़े होते हैं।

पाक्षिक प्रतिक्रमण की मूल विधि का प्रारम्भ

पाक्षिकादि प्रतिक्रमण की प्रारम्भिक विधि 'वंदित्तुसूत्र' तक दैवसिक प्रतिक्रमण के समान जाननी चाहिए और उसके हेतु भी तदनुसार समझने चाहिए।

उसके बाद तुरन्त पक्खी प्रतिक्रमण शुरू करने का हेतु यह है कि पाक्षिक प्रतिक्रमण चौथा आवश्यक है और इससे पूर्व वंदित्तु सूत्र आदि के द्वारा चौथा आवश्यक ही किया जा रहा था, इसलिए उसी क्रम में वंदित्तु सूत्र के पश्चात पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण करते हैं।

संबुद्धा (ज्ञानप्राप्त, आत्म जागृत आचार्य आदि से) क्षमायाचना क्यों?

सभी अनुष्ठान गुरु आदि से क्षमायाचना करने पर ही सफल होते हैं, इसलिए पाक्षिक प्रतिक्रमण में प्रवेश करने के साथ ही मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन और द्वादशावर्त्त वन्दन पूर्वक आचार्य आदि श्रेष्ठ मुनियों से क्षमापना की जाती है। यहाँ संबुद्धा शब्द सम्यक् प्रकार से ज्ञान प्राप्त किये हुए, अन्तर्जागृत, विशिष्ट ज्ञानी, आत्मधर्म के प्रति सचेत आचार्य आदि का सूचक है।

वर्तमान सामाचारी के अनुसार पाक्षिक प्रवेश निमित्त मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन यदि सकल संघ के साथ किया जाता है तो वह व्यक्ति प्रतिक्रमण की मंडली में गिना जाता है। इस कारण जिसने प्रतिक्रमण की स्थापना बाद में की हो तथा मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन भी पीछे से किया हो वह व्यक्ति मंडली में नहीं माना जाता और उसे छींक आ जाये तो उसका विक्षेप संघ में नहीं गिना जाता। इस परम्परागत सामाचारी को ध्यान में रखते हुए जिस व्यक्ति को छींक आने की संभावना हो उसे पाक्षिक मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन समुदाय के साथ नहीं करना चाहिए। इसी तरह नासमझ बालक-बालिकाओं को भी छींक आदि की संभावना होने पर पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण के समय मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन एवं प्रतिक्रमण की स्थापना पृथक् से करना चाहिए।

बृहद् अतिचार एवं उसकी प्रायश्चित्त दान विधि

तत्पश्चात संक्षेप आलोचना के लिए 'इच्छामि ठामि' का पाठ बोलते हैं। फिर विस्तार से आलोचना करने के लिए पाक्षिक अतिचार (यह पाठ गुजराती एवं हिन्दी भाषा में है) बोले जाते हैं। यहाँ एक व्यक्ति अतिचार बोलता है और शेष उपस्थित समुदाय एकाग्रचित्त हो सुनता है। उसके बाद कृत अतिचारों का प्रायश्चित्त मांगने हेतु 'सव्वस्सविसूत्र' बोलते हैं। इस सूत्र के द्वारा सर्व दोषों का प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त ग्रहण किया जाता है। इसके बाद गुरु भगवन्त तप प्रायश्चित्त के रूप में एक उपवास, दो आयंबिल, तीन नीवि, चार एकासणा, आठ बियासणा अथवा दो हजार स्वाध्याय करने का प्रवेदन करते हैं। तब जिसने पाक्षिक तप कर लिया हो वह 'पइट्ठिओ' शब्द बोलता है। इसका अर्थ यह है कि 'मैं अभी तथाविध तप में स्थित हूँ।' जिसे अति निकट में पाक्षिक तप पूर्ण करने की भावना है वह 'तहत्ति' शब्द बोलता है। कुछ मौन में रहते हैं तो कुछेक 'यथाशक्ति' कहकर उस तप को अंशत: स्वीकार करते हैं।

पन्द्रह दिन के दरम्यान किये गये पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए इस तप की योजना है। निर्धारित तप में से यथाशक्ति कोई भी तप करने पर ही यह आत्मा पन्द्रह दिन के पापों से मुक्त बनती है इसलिए एक उपवास परिमाण जितना तप अवश्य करना चाहिए।

संवत्सरी प्रतिक्रमण तेला से अथवा सम्पूर्ण वर्ष में एक तेला जितना तप करके करना चाहिए। एक तेला करने से वर्षभर में किये गये दोषों से आत्मा हल्की हो जाती है। खरतरगच्छ परम्परा में तप देने की परिपाटी समाप्ति खामणा के बाद है।

प्रत्येक क्षमायाचना क्यों?

पन्द्रह दिन में किए गए पापों का प्रायश्चित्त स्वीकार करने के बाद प्रतिक्रमण मंडली में उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा पृथक्-पृथक् क्षमायाचना की जाती है।

यहाँ संघ के प्रत्येक आराधक द्वारा क्षमायाचना करने का आशय यह है कि इस विधि से पूर्व प्रतिक्रमण करने वालों ने पक्षकृत पापों से विमुक्त होने के लिए प्रायश्चित्त ग्रहण किया है यानी उन्होंने अपने समस्त दुष्कार्यों को गुरु के समक्ष प्रकट कर आत्म दशा को निश्छल-निर्मल बना लिया है। उससे पूर्व व्यक्तिगत

रूप से किसी के साथ मन मुटाव रहा हो तो उसे समाप्त करने के लिए प्रत्येक से आत्मवत भाव जोड़ा जाता है, क्योंकि पापों का प्रायश्चित्त स्वीकार करने के बाद मनोभूमि उर्वरा भूमि के समान पोली बन जाती है और उस स्थिति में की गई क्षमायाचना ही वास्तविक फलदायी होती है। इस प्रकार प्रायश्चित्त स्वीकार के पश्चात प्रत्येक क्षमायाचना करने से व्यक्ति द्रव्य और भाव दोनों से पाप मुक्त बन जाता है। दूसरे, मनोयोग पूर्वक प्रतिक्रमण करने वाले ही इस विधि का रहस्यगत अनुभव कर सकते हैं इसलिए प्रत्येक क्षमायाचना यथाक्रम में और मनोभाव पूर्वक करने जैसी है।

प्रत्येक क्षमायाचना करने से पूर्व तथा पश्चात विनय के परिपालनार्थ गुरु को द्वादशावर्त्त वंदन किया जाता है। स्वयं के द्वारा हुए अपराधों को स्वीकार कर उसकी वैयक्तिक रूप से क्षमा मांगना अत्यन्त मुश्किल है, लेकिन गुरु कृपा से सब कुछ शक्य हो जाता है। यहाँ इसीलिए वंदन विधि की जाती है।

पाक्षिकसूत्र सुनाने की परम्परा कब से और क्यों?

प्रत्येक क्षमायाचना के बाद पक्खी सूत्र बोला जाता है। यह सूत्र मुनि आचार से सम्बन्धित है। इसमें साधु-साध्वी के द्वारा अनुपालित पाँच महाव्रत, छठवाँ रात्रि भोजन विरमणव्रत, तैंतीस स्थान आदि में किसी प्रकार का दोष लगा हो तो उसका मिथ्या दुष्कृत दिया जाता है। इस सूत्र को भाव पूर्वक पढ़ने पर मुनिजन व्रत दोष से रहित हो जाते हैं। इस प्रकार यह व्रत अतिचारों की शुद्धि करने वाला सूत्र है। पर्व विशेष में विशिष्ट शुद्धि करने के उद्देश्य से ही इसका स्मरण किया जाता है।

यह सूत्र आचार्य हेमचन्द्र (12वीं शती) के समय प्रतिक्रमण विधि में प्रविष्ट हो चुका था, इससे पूर्व का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता है। 12वीं शती से आज तक यह पाक्षिक आदि दिनों में नियमित बोला जाता रहा है।

इस सूत्र को बोलने के अधिकारी मुनि ही होते हैं, क्योंकि यह सूत्र मुनि धर्म की आचार संहिता से संबद्ध है। इसलिए साधु-साध्वी की निश्रा हो तो पाक्षिक आदि दिन में प्रतिक्रमण कर्त्ता इसे सुन सकते हैं अन्यथा श्रावक-श्राविकाएँ इस जगह 'वंदित्तुसूत्र' बोलते हैं। इसमें एक साधु पक्खी सूत्र बोलता है और शेष सभी ध्यान मुद्रा में सुनते हैं ऐसी वर्तमान परिपाटी है।

पाक्षिक सूत्र की समाप्ति पर सामूहिक रूप से श्रुतदेवता की स्तुति बोली

जाती है। उसके बाद व्रत अतिचारों की शुद्धि हेतु साधु-साध्वी 'पगामसिज्झाय' का पाठ एवं गृहस्थ 'वंदित्तु सूत्र' पढ़ते हैं।

पक्ष सम्बन्धी अतिचारों की विशेष शुद्धि कैसे की जाती है?

मूलगुण-उत्तरगुण में लगे अतिचारों की विशेष शुद्धि करने के लिए बारह लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग किया जाता है। यह कायोत्सर्ग पाक्षिक आलोचना के अन्तर्गत माना गया है। इस कायोत्सर्ग के द्वारा पक्ष कृत सर्व अतिचारों का दोष समाप्त हो जाता है।

समाप्ति क्षमायाचना किसलिए?

कायोत्सर्ग के अनन्तर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना कर द्वादशावर्त्त वन्दन पूर्वक 'समत्त खामणा' की विधि की जाती है। इसमें चार क्षमापना सूत्रों द्वारा गुरु से क्षमा मांगते हैं। जैसे किसी विशिष्ट कार्य के पूर्ण होने पर सत्ताधारी विशिष्ट अधिकारियों का बहुमान करने एवं उन्हें प्रसन्न रखने के लिए आपका इतना समय अच्छे से व्यतीत हुआ और शेष समय भी इसी प्रकार प्रवर्त्तमान रहे, ऐसी मंगल कामना व्यक्त करते हैं उसी प्रकार एक पक्ष की आराधना अच्छी तरह सम्पन्न हुई तद्हेतु गुरु का विनय करने के लिए आपका अमुक (विगत) पक्ष आराधना पूर्वक सम्पन्न हुआ और आगे भी ऐसा ही प्रवर्त्तित रहे, इस तरह की कामना प्रथम क्षमापना सूत्र बोलते समय व्यक्त की जाती है।

दूसरा क्षमापना सूत्र बोलते हुए- विगत पक्ष के दरम्यान स्वयं के द्वारा चैत्यों और साधुओं की वन्दना का निवेदन किया जाता है।

तीसरा क्षमापना सूत्र बोलते हुए- गुरु के द्वारा दिया गया श्रुतज्ञान एवं वस्त्र आदि के उपकार का स्मरण कर उन्हें स्वीकारने में किये गए अविनय आदि आशातनाओं का मिच्छामि दुक्कडं दिया जाता है।

चौथा क्षमापना सूत्र कहते हुए- शिष्य द्वारा अविनय करने पर भी गुरु ने हित शिक्षा दी है इस उपकार की कृतज्ञता व्यक्त की जाती है। इन चारों क्षमापना सूत्रों के अंत में गुरु भगवन्त क्रमशः तुब्भेहिं समं, अहमवि वंदावेमि चेइआइं, आयरिअ संतिअं और नित्थारपारगाहोह वचन कहते हैं। इन वचनों के अंत में शिष्य 'इच्छं' कहते हैं तथा चारों सूत्रों के अन्त में 'इच्छामो अणुसट्ठिं' कहा जाता है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि उक्त क्षमापनासूत्र साधु-साध्वी ही बोलते हैं। यदि उनकी निश्रा न हो तो गृहस्थ क्षमापना सूत्र के स्थान पर चार बार एक-एक या तीन-तीन नवकार मन्त्र गिनते हैं। समाप्ति खमतखामणा का मुख्य हेतु यह है कि यद्यपि संबुद्धा खामणा के द्वारा सामान्य रूप से और प्रत्येक क्षमापना के द्वारा विशेष रूप से पाक्षिक अपराधों की क्षमा मांग ली जाती है। तदुपरान्त शुभ एकाग्र भाव से बारह लोगस्स सूत्र का कायोत्सर्ग करते हुए कोई विशेष अपराध याद आ गया हो तो उससे पृथक् होने के लिए समाप्ति खामणा करना चाहिए। इसका एक हेतु यह भी है कि यहाँ पर पाक्षिक प्रतिक्रमण पूर्ण होता है और इस पाक्षिक प्रतिक्रमण के दौरान कुछ अविधि हुई हो तो उस भूल को स्वीकार करते हुए उसका पश्चात्ताप करने के लिए भी यहाँ क्षमापना की जाती है।

पाक्षिक प्रतिक्रमण की शेष विधि

इसके बाद की सर्व विधि दैवसिक प्रतिक्रमण के समान ही है। इसलिए उनके उद्देश्य भी पूर्व निर्दिष्ट ही जानने चाहिए।

विशेष यह है कि इसमें श्रुत देवता एवं क्षेत्र देवता के साथ भवन देवता का भी कायोत्सर्ग किया जाता है। उसका प्रयोजन यह है कि क्षेत्रदेवता का प्रतिदिन स्मरण करने पर मकान का क्षेत्र भी उसके अन्तर्गत होने से तत्त्वत: भवन देवता की स्मृति हर दिन हो जाती है फिर भी पर्व दिन में उनका विशेष स्मरण और बहुमान के लिए स्वतन्त्र कायोत्सर्ग और स्तुति करते हैं।

पाक्षिक प्रतिक्रमण में स्तवन के स्थान पर विशेष मंगल के लिए अजित शान्ति बोली जाती है। उसी प्रकार लघुशांति के स्थान पर बड़ी शांति कही जाती है। तपागच्छ आदि कुछ परम्पराओं में प्रतिक्रमण के अन्त में 'संतिकरं' पाठ भी बोला जाता है।

चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के उद्देश्य पाक्षिक प्रतिक्रमण के समान ही समझना चाहिए, क्योंकि इन तीनों में मुख्य भेद कायोत्सर्ग, आलोचना तप एवं सम्बुद्धा खामणा की संख्या को लेकर ही है।

पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण संबंधी विशेष स्पष्टीकरण

शंका– जब प्रतिदिन दोनों समय विधि युक्त प्रतिक्रमण करने का विधान है तो फिर पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण की आवश्यकता क्यों?

समाधान– इसके समाधान में कहा जा सकता है कि मानव स्वभाव से

विचित्र है, फिर छद्मस्थ होने से ज्ञात-अज्ञात में भूल हो जाना स्वाभाविक है। कभी-कभी वह भूल करके भी तुरन्त उस पर पश्चात्ताप नहीं करता है। अहंकार वश क्रोध की आग अन्तर में धधकती रहती है और उसे शान्त होने में कभी-कभार कुछ दिवस या महीनों तक लग जाते हैं। जब धीरे-धीरे मन शान्त होता है तब मनुष्य को अपनी भूल का भान होता है, इसलिए उक्त पाँचों समयों में प्रतिक्रमण करने का विधान किया गया है।

जो केवल सांवत्सरिक प्रतिक्रमण ही करते हैं उन लोगों को यह नहीं सोचना चाहिए कि वर्षभर के पाप कर्म एक साथ नष्ट कर डालेंगे, तब अन्य चार समयों के प्रतिक्रमण की क्या जरूरत? वस्तुत: यह अनुचित है, क्योंकि वर्ष भर में किये गये पाप कार्यों का स्मरण वर्ष के अन्त में एक साथ नहीं आ सकता। स्मरण शक्ति कमजोर होने से बहुत सारे पाप आलोचना एवं शोधन करने के उपरान्त भी रह सकते हैं। जैसे प्रतिदिन घर की सफाई करना आवश्यक है वरना बहुत दिनों की धूल या कचरे से भरे हुए स्थान को एक बार में स्वच्छ नहीं किया जा सकता, वैसे ही वर्ष भर के अन्तराल में लगे हुए पाप रूपी कचरे को एक बार के प्रतिक्रमण से साफ कर देना असम्भव है अत: पाँचों समयों में प्रतिक्रमण करना चाहिए। दूसरा तर्क यह है कि यदि घर का सारा कचरा सिर्फ दीपावली के दिन ही साफ करें और वर्ष भर एकत्रित होने दें तो क्या स्थिति हो सकती है, अत: प्रतिक्रमण जितना शीघ्र किया जाये उतना ही श्रेयकर है इससे मन की कलुषता शीघ्र समाप्त हो जाती है।

आगम ग्रन्थों में कहा गया है कि साधु के द्वारा प्रमादवश या जान-बूझकर किसी प्रकार का अतिचार (दोष) लग जाये अथवा परस्पर कलह आदि हो जाये तो उसकी शुद्धि तुरन्त कर लेनी चाहिए, क्योंकि जब तक वह साधुकृत दोषों का प्रतिक्रमण या प्रायश्चित्त न कर लें तब तक उसे आहार करना, विहार करना और यहाँ तक कि शास्त्र स्वाध्याय करना भी निषिद्ध माना गया है।

शंका– सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में 40 लोगस्स ऊपर एक नवकार मन्त्र का कायोत्सर्ग क्यों किया जाता है?

समाधान– एक नवकार का अतिरिक्त स्मरण करना 'मंगल निमित्त है' ऐसा सुनने में आता है, किन्तु हमारी दृष्टि से निर्धारित श्वासोश्वास की गिनती पूर्ण करने हेतु किया जाता है। विशेषं तु ज्ञानीगम्यम्।

शंका– खरतर परम्परानुसार पाक्षिक प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में जयतिहुअण स्तोत्र का चैत्यवंदन ही क्यों बोला जाता है?

समाधान– इस सम्बन्ध में ऐसा माना जाता है कि इस स्तोत्र की रचना खरतरगच्छ के आचार्य अभयदेवसूरि ने स्वगच्छ के उद्देश्य से की तथा यह स्तोत्र अतिशय प्रधान होने के कारण भी इसे प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में स्थान दिया गया है। दैवसिक प्रतिक्रमण में भी यही स्तोत्र बोला जाता है।

शंका– प्रतिक्रमण सूत्रों को बोलते एवं कायोत्सर्ग आदि करते समय भिन्न-भिन्न आसनों का प्रयोग क्यों?

समाधान– इसका हेतु यह है कि लम्बे समय तक एक आसन में बैठने से व्याकुलता एवं प्रमाद आने की पूर्ण संभावना रहती है अत: उसका निवारण करने के लिए। दूसरे, वीरासन, उत्कटासन आदि ऐसे आसन हैं कि जिनसे स्वास्थ्य लाभ होने के साथ-साथ प्रमाद आदि दोष नष्ट होकर चित्तवृत्ति सात्विक बनी रहती है और उससे उत्तरोत्तर विशुद्ध परिणाम बने रहते हैं।

शंका– पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण में संबुद्धा खामणा, प्रत्येक खामणा एवं समाप्ति खामणा ऐसे तीन बार क्षमायाचना क्यों?

समाधान– इस प्रश्न का एक समाधान आगे कर चुके हैं। दूसरा यह है कि जैसे मलीन वस्त्र को स्वच्छ करने के लिए सर्वप्रथम उसे सर्फ, सोडा आदि में भीगोकर रखते हैं। तदनन्तर दूसरे क्रम पर साबुन-ब्रश आदि के द्वारा रगड़कर उसकी विशेष शुद्धि की जाती है तथा अन्त में पानी से निकालकर उसकी पूर्ण सफाई की जाती है। इसी तरह उक्त तीन क्षमापनाओं का आशय समझना चाहिए। इसमें छोभ (थोभ) वन्दन आत्म परिणति को निर्मल करने की अन्तिम सीढ़ी है।

शंका– पाक्षिक प्रतिक्रमण में पौषधवाही हो तो वंदित्तु सूत्र का आदेश उन्हें ही क्यों दिया जाता है?

समाधान– पाक्षिक प्रतिक्रमण के मुख्य सूत्र पौषधवाहियों से ही बुलवाने चाहिए, ऐसा वृद्ध पुरुषों का कहना है। लेकिन इस धारणा में कोई आग्रह नहीं है। नियमत: उपधान किया हुआ गृहस्थ ही प्रतिक्रमण सूत्रों को बोलने का अधिकारी है।

शंका– पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण गुरु से पृथक करने पर प्रतिक्रमण के कितने दिन बाद तक क्षमायाचना और निर्धारित तप पूर्ण कर सकते हैं?

समाधान– परम्परागत सामाचारी के अनुसार क्षमायाचना और तप वहन पाक्षिक प्रतिक्रमण के पश्चात दूज तक, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण के पश्चात पंचमी तक और संवत्सरी प्रतिक्रमण के पश्चात दशमी तक कर सकते हैं। परिस्थिति विशेष में पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण के पहले भी शुद्धि भूत तप को पूर्ण कर सकते हैं।

शंका– दैवसिक आदि पाँचों प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में लोगस्स सूत्र का ध्यान भिन्न-भिन्न संख्या में क्यों?

समाधान– दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण में लगभग चार प्रहर (12 घण्टे) जितने अल्प समय में लगे दोषों की ही शुद्धि करनी होती है। उस शुद्धि के लिए चार लोगस्स का ध्यान पर्याप्त होता है, परन्तु पाक्षिक चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में क्रमशः पंद्रह दिन, चार महीने और बारह महीने के अतिचारों का चिंतन एवं विशोधन किया जाता है। जैसे-जैसे समयावधि बढ़ती है वैसे-वैसे उसकी शुद्धि हेतु लगने वाली कालावधि भी बढ़ती जाती है अतः पाक्षिक प्रतिक्रमण में चार लोगस्स से तिगुने बारह लोगस्स, चातुर्मासिक में उसके पाँच गुने बीस लोगस्स एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में दैवसिक प्रतिक्रमण से दस गुने अर्थात चालीस लोगस्स सूत्र का ध्यान आवश्यक होता है। कायोत्सर्ग की यह संख्या गीतार्थ आचार्यों द्वारा निर्धारित की गई है।

शंका– यदि प्रतिक्रमण का मुख्य फल मोक्ष की प्राप्ति है तो निरन्तर प्रतिक्रमण ही करते रहना चाहिए, फिर अन्य क्रियानुष्ठान क्यों करें?

कोई भी क्रिया उचित काल में करने पर ही फलदायी होती है। जैसे पथ्य सेवन आदि नियमों का पालन करते हुए ली गई औषध रोग का समुचित उपचार करती है परंतु वही औषध विधियुत न लेने पर अन्य विकारों को उत्पन्न कर देती है अतः निर्धारित काल में किया गया प्रतिक्रमण ही दोषों का निवारण करता है।

समाधान– प्रत्येक क्रिया यथोचित काल में की गई फलदायी होती है। जैसे कि यथोक्त काल, पथ्य सेवन आदि नियमों का पालन करते हुए ली गई औषध रोग का समुचित उपचार करती है वैसे ही यथोक्त काल में किया गया प्रतिक्रमण ही दोषों का निवारण करता है। अतः प्रतिक्रमण के अतिरिक्त अन्य क्रियाओं की भी जरूरत है।

शंका– पूर्व में सामान्य और विशेष रूप से पाक्षिक अपराधों की क्षमायाचना कर ली है फिर पुनः समाप्ति खामणा क्यों?

समाधान– हेतु गर्भ (पृ. 23) में समाप्ति खामणा के कई हेतु बताये गये हैं। प्रथम यह है कि मूलगुण-उत्तरगुण विशुद्धि निमित्त कायोत्सर्ग में स्थित एवं शुभ-एकाग्र भाव को प्राप्त होने पर भी किंचित अपराध विस्मृत रह गये हों, तो इस क्षमापना के द्वारा उनकी पुनः शुद्धि कर ली जाती है। दूसरा हेतु यह है कि इस पाक्षिक प्रतिक्रमण की परिसमाप्ति के पूर्व तक किंचिद् अप्रीति हुई हो, वितथ क्रिया हुई हो, तो समाप्ति खामणा से उसकी शुद्धि की जाती है। तीसरा प्रयोजन यह है कि तीर्थंकरों के द्वारा समाप्ति खामणा विधि को तीसरे वैद्य की औषध के समान माना गया है अतः उस कर्त्तव्य का निर्वहन करने के लिए भी तीसरी बार क्षमायाचना करते हैं क्योंकि 'आज्ञैवेह भागवती प्रमाणम्।'

शंका– पाक्षिक प्रतिक्रमण के पहले दिन मंगलिक प्रतिक्रमण क्यों किया जाता है?

समाधान– पाक्षिक, चातुर्मासिक या सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करने से पहले दिन मांगलिक प्रतिक्रमण करने का हेतु यह है कि पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण में पक्ष, चातुर्मास या वर्ष की विशेष आलोचना की जाती है तथा पाक्षिक आदि धर्म क्रियाओं के विशिष्ट दिन हैं और उन दिनों की आराधना निर्विघ्न रूप से हो, इसलिए पूर्व दिन से ही मंगल की कामना कर ली जाती है।

शंका– अजितशान्ति और बड़ी शान्ति में क्या अन्तर है तथा पाक्षिक प्रतिक्रमण में दोनों ही पाठ क्यों बोले जाते हैं?

समाधान– अजितशान्ति स्तव परमात्मा के गुणगान एवं स्तवना रूप है। इसमें अजितनाथ भगवान और शान्तिनाथ भगवान– इन दोनों तीर्थंकरों की महिमा का वर्णन है तथा इस पाठ में 'शान्ति' का अभिप्राय शान्तिनाथ भगवान है।

यह स्तव छह आवश्यक की क्रिया पूर्ण होने पर हर्ष की अभिव्यक्ति हेतु स्तवन के स्थान पर बोला जाता है। जबकि बड़ी शांति का पाठ समस्त संघ एवं विश्व की शान्ति के लिए प्रतिक्रमण के अन्तिम चरण में बोला जाता है। बड़ी शांति में तीनों चोवीशी, वर्तमान चोवीशी के माता-पिता, यक्ष-यक्षिणी, सोलह विद्या देवियाँ आदि का स्मरण किया गया है। इस प्रकार प्रतिक्रमण में दोनों पाठ भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न हेतुओं से बोले जाते हैं।

वर्तमान सन्दर्भ में उठते प्रासंगिक प्रश्न

शंका– प्रतिक्रमण सूत्रों के अर्थ समझ में नहीं आते और लंबे समय तक बैठने में आलस भी आता है इसलिए यदि प्रतिक्रमण की अपेक्षा प्रभु भक्ति की जाए तो क्या दोष?

समाधान– जिन्हें पाँच इन्द्रियों के प्रति अत्यधिक आकर्षण है, जो शरीर के प्रति सुखशील है, वे लोग मनुष्य जीवन के कर्त्तव्यों का भान न होने से एक को छोड़ दूसरे कर्त्तव्य का सहारा लेते हैं। दूसरे कर्त्तव्य (प्रभु भक्ति आदि) के नाम पर प्रथम कर्त्तव्य को पूर्ण रूप से छोड़ ही देते हैं। थोड़े दिनों में प्रभु भक्ति आदि भी नीरस लगती है क्योंकि उन्हें असल में आत्म धर्म के प्रति रूचि नहीं है। आत्म रूचिवन्त तो प्रतिक्रमण जैसी कठिन क्रिया को प्रथम स्थान देगा तथा प्रतिक्रमण करके पाप से भार मुक्त होने का भी अहसास करेगा। अधिक समय वाली क्रियाएँ करके वह अपने उतने समय को सुकृत मानेगा। वस्तुतः प्रतिक्रमण, प्रभु भक्ति आदि क्रियाओं का अपना-अपना महत्त्व है।

शंका– सूत्रों के अर्थ जाने बिना तोता रटन की तरह प्रतिक्रमण करने से क्या फायदा?

समाधान– डाक्टर द्वारा दी गई दवाई के घटक तत्त्व न भी पता हो तो भी वह रोग निदान में सहायक बनती है। प्रभावी मन्त्रों का अर्थज्ञान नहीं होने पर भी सफलता देता है। क्योंकि वहाँ श्रद्धा और विश्वास है। वैसे ही भावपूर्वक किया गया प्रतिक्रमण अर्थ के अभाव में भी फलदायी होता है। प्रतिक्रमण सूत्रों के अर्थ की पुस्तकें सर्वत्र उपलब्ध है अतः अर्थ पिपासु गुरुगमपूर्वक अथवा उन पुस्तकों से अर्थज्ञान कर सकते हैं और करना भी चाहिए। परन्तु उसके अभाव में प्रतिक्रमण को लाभहीन मानना सर्वथा अनुचित है।

शंका– प्रतिक्रमण के सूत्र प्राकृत मागधी भाषा में न होकर मातृ भाषा में हो तो उसे याद करने और समझने में आसानी होगी तथा अन्तर्रुचि भी बढ़ेगी?

समाधान– आपका कथन सत्य है लेकिन इसके पीछे अनेक प्रश्न खड़े होते हैं जैसे कालक्रम में मातृभाषा में फेरफार होने पर सूत्रों में फेरफार करना पड़ेगा, थोड़े-थोड़े फेरफार के कारण एक ही भाषा में अनेक रचनाएँ अस्तित्व में आ जायेगी और जिसे जो पसंद हो वह उसे बोलेगा– तो सभी सूत्रों में भिन्नता होने के कारण एक सूत्रता का अभाव हो जायेगा। इस स्थिति में ये सूत्र गणधरकृत है, ऐसा बहुमान नहीं रहेगा।

किसी तीर्थयात्रा, उपधान आदि प्रसंग पर इकट्ठे हुए भिन्न-भिन्न मातृभाषा के श्रावकों की प्रतिक्रमण क्रिया में समरूपता नहीं रहेगी और फिर सभी को अलग-अलग सूत्र वगैरह बोलते देखकर, जिनको मात्र प्रश्न ही उठाना हो, वे तो नया प्रश्न यह भी उठाएंगे कि अपने जैन शासन में कोई व्यवस्था, शिष्टता अथवा एक सूत्रता ही नहीं है, कोई ऐसे बोलता है तो कोई ऐसे? जिन्हें प्रश्न ही उठाने हैं वे तो रोज नए-नए प्रश्न उठा सकते हैं इसलिए गणधर कृत सूत्रों में ऐसी कोई आपत्ति भी नहीं है और उन सूत्रों से शासन चिरकाल तक व्यवस्थित भी चलता है।

यहाँ पर समझने जैसी मुख्य बात यह है कि संस्कृत भाषा देवताओं और पंडितों की भाषा तथा श्री गणधर भगवन्त संस्कृत रचना करने में सम्पूर्ण समर्थ हैं फिर भी उन्होंने प्रतिक्रमण सूत्रों की रचना प्राकृत मागधी भाषा में की। इसका मुख्य कारण यही था कि सामान्य मनुष्य भी उसे समझ सकें। क्योंकि उस समय की जनभाषा आर्धमागधी प्राकृत ही थी।

काल के अनुसार जैनों के स्थान और भाषा बदलती गई और अगर इस आधार पर नई-नई भाषाओं में सूत्र बनाए जाते तो ऊपर बताई आपत्तियाँ तो खड़ी होती ही। साथ-साथ सैकड़ों हजारों की संख्या में सूत्र मिलते जिससे एक भी सूत्र पर सच्ची श्रद्धा न रहती और इसके परिणाम रूप प्रतिक्रमण जैसा महान अनुष्ठान अपना अस्तित्व ही खो देता।

इसलिए गणधरकृत सूत्रों की भाषा बदलने के विषय में विचार करना व्यर्थ है, प्रत्युत सूत्रों के अर्थ सीखने में ही तत्त्व है। जिस तरह व्यापार आदि के लाभ के लिए मातृ भाषा मारवाड़ी, गुजराती छोड़कर अंग्रेजी के शब्द आदि सीख लेते हैं उसी प्रकार सूत्रों के विषय में भी समझना चाहिए।

शंका– प्रतिक्रमण में आनन्द नहीं आता और उसके अभाव में की गई क्रिया का क्या फल?

समाधान– वस्तु के ऐसी होने पर उसमें रस आता है और ऐसी होने पर नहीं, इस प्रकार आनन्द वस्तु पर आधारित नहीं होता बल्कि व्यक्ति की आसक्ति एवं मानसिक जुड़ाव के अनुसार ही रस की अनुभूति होती है। जैसे भोजन करते समय पहले मिठाई पर रस होता है, भात पर नहीं लेकिन मिठाई खा लेने के बाद मन बदल जाता है, अब रस मिठाई पर रहकर भात पर आ जाता है और यदि कोई ऐसा मानता हो कि चावल क्या खाना? शक्ति तो माल (मिठाई) खाने

से आती है, उसको तो चावल परोस रहे हो तब भी मिठाई में ही रस होता है। इस प्रकार रस वस्तु में निहित न होकर वस्तु उपभोग करने वाले के दिल में होता है। यदि प्रतिक्रमण की उपयोगिता और उसके महालाभ समझ में आ जाए तो उसके सामने सभी तर्क असार है और तभी प्रतिक्रमण में रस पैदा हो सकता है। बाकी तो रूचि बिना भी गाड़ी में बैठा हुआ यात्री जैसे अगले स्टेशन पर पहुँच जाता है, उसी प्रकार रस बिना प्रतिक्रमण करने वाले को भी उतने समय तक पाप से दूर रहने का अवसर मिलता है और शुभ क्रिया के संस्कार पड़ते हैं जो उसके लिए भविष्य में उपयोगी बनते हैं।

शंका– आजकल ध्यान शिविर आदि में ध्यान आदि से कषाय घटने का अनुभव होता है... तो प्रतिक्रमण आदि क्रिया के स्थान पर ध्यान क्यों नहीं किया जा सकता?

समाधान– ध्यान शिविरों में जाने वाले जिस तरह वहाँ के नियमों का पालन करते हैं, वहाँ बताई गई विधिओं को कठोरता से अपनाते हैं, उसी प्रकार यदि प्रतिक्रमण आदि क्रिया में भी रस और उत्साह से जुड़े तो ध्यान आदि से भी अधिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि यह क्रियाएँ जिनेश्वर परमात्मा की आज्ञा रूप है।

ऐसे तो युगलिकों के भी विषय-कषाय अत्यन्त मंद होते हैं लेकिन जब तक वैराग्य उत्पन्न नहीं होता तब तक यह अल्प कषाय भी आत्महित में परिणमित नहीं होते। आजकल के ध्यान शिविरों के उपासक, पहले जो प्रभु पूजा, तपश्चर्या आदि करते थे उसे भी छोड़ देते हैं, क्योंकि उन्हें अब इन सब में कष्ट दिखाई देता है। जीव के राग का सबसे बड़ा पात्र है शरीर और इसकी आसक्ति घटाने के लिए क्रिया तप आदि न करें तो वैराग्य संयम कहाँ से जागृत होगा और उसके बिना आत्महित कैसे होगा? यदि शरीर का ममत्व भाव बना रहेगा तो जीव को आज नहीं तो कल यह ममत्व भाव फिर से पाप में खींच लाएगा उससे दुर्गति की परम्परा तो खड़ी ही रहेगी।

इस जीवन में जो विषय-कषाय नुकसान कर्त्ता के रूप में स्पष्ट प्रतीत होते हैं उन विषय कषायों के मंद हुए ज्ञात होने पर एक प्रकार का संतोष आ जाता है। परंतु विषय-कषाय अल्प होने की प्रतीति वाली अवस्था भी आखिर संसार की ही अवस्था है और इससे भी छुटकारा तो पाना ही है, नहीं तो पुनः संसार

भ्रमण का चक्कर शुरू हो सकता है। देव आदि गति में रहने का काल परिमित होने से पुन: दुर्गति भी होने ही वाली है। इस प्रकार कषायों की अल्पता वाला काल भी परिमित होने से पुन: कर्म उदय के कारण कषायों की प्रचुरता भी होने ही वाली है। इन सबका ख्याल न होने से ही ध्यान अभ्यासी अपनी इस अवस्था में ही इतिश्री मानते हुए दिखाई देते हैं। यदि विषय-कषाय पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त करने का लक्ष्य आ जाए, तो फिर तीर्थंकर की बताई हुई ये क्रियाएँ उन्हें भी आवश्यक लगेगी ही। यह बात हमेशा ख्याल में रखनी चाहिए कि तीर्थंकर परमात्मा ने जब इतना सुंदर राजमार्ग बताया है तो यदि इससे भी सरल, सफल और सुलभ अन्य कोई मार्ग होता तो उससे प्रभु अज्ञात न रहते और जानते हुए न बताएं यह तो शक्य ही नहीं क्योंकि वे अनन्त करुणा के सागर हैं। इसलिए उनका बताया हुआ ज्ञान क्रिया का मार्ग ही आराधना का राजमार्ग है ऐसी श्रद्धा रखकर अधिक से अधिक लाभ उठाने में प्रयत्नशील बनना चाहिए।

जैन धर्म में मानसिक एकाग्रता को ही ध्यान नहीं बताया, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियाँ छोड़कर शुभ प्रवृत्तियों में वचन और काया को स्थिर करना भी ध्यान ही है। अर्थात प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं में जितनी स्थिरता आती है उतना ही ध्यान स्थिर बनता है और साथ-साथ संसार के परिभ्रमण का महत्त्वपूर्ण कारण, देहाध्यास (शरीर की तीव्र आसक्ति) को घटाने का विशेष लाभ होता है, जो आजकल के शिविरों से प्राप्त नहीं होता।

इसलिए ध्यान वगैरह के नाम पर प्रतिक्रमण जैसा महान अनुष्ठान छोड़ देना किसी प्रकार से हितकारी नहीं है, यह सभी हितेच्छुओं को समझ लेना चाहिए।

शंका– वर्तमान में कुछ लोग प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं को छूट या अपवाद मार्ग मानकर नित्य दुष्कृत्यों का सेवन करते जाते हैं और फिर प्रतिक्रमण के द्वारा उसकी आलोचना कर लेते हैं यह कितना उचित एवं सार्थक है?

समाधान– प्रतिक्रमण दोष परिशोधन एवं पाप प्रक्षालन की अपूर्व क्रिया है, परन्तु इसका हार्द यह नहीं कि आवश्यकता एवं इच्छानुसार पापवृत्ति करते जाएं और प्रतिक्रमण से उनकी शुद्धि करें। प्रतिक्रमण में ऐसा कोई विधान नहीं है। प्रतिक्रमण अप्रमत्त दशा में जीने एवं सतर्क रहने की शिक्षा देता है, पाप कार्यों से पीछे हटाता है। जैन धर्म में कहीं भी गलत कार्यों में छूट या अत्याग

की स्वीकृति नहीं है। पाप को तो सर्वथा त्याज्य ही माना है इसीलिए नवतत्त्व में पाप रूप आस्रव तत्त्व को भी हेय की कोटि में रखा है अत: किसी भी दृष्टि से पापाचरण करने योग्य नहीं है। एक जगह कहा गया है–

'प्रथम पदे पडिक्कमणुं भाख्युं, पाप तणुं अण करवुं'– उत्सर्ग मार्ग से पापत्याग करना ही प्रतिक्रमण है तथा अपवाद रूप में पापालोचना, पाप प्रायश्चित्त, मिच्छामि दुक्कडं आदि क्रियाएँ प्रतिक्रमण है।

शंका– प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त से ही सर्व पाप क्षीण हो जाते हैं तो फिर पाप त्याग की आवश्यकता क्या है?

समाधान– यदि इस तथ्य को मान लें कि प्रतिक्रमण से सभी पापों का निर्जरण हो जाता है अत: पाप त्याग आदि की आवश्यकता नहीं है। उस स्थिति में ब्रह्मचर्य व्रत आदि ग्रहण करने का भी कोई अर्थ नहीं रहेगा। दीक्षा धर्म अंगीकार करना भी निरर्थक हो जायेगा। घर बैठे-बैठे प्रतिक्रमण करने मात्र से दुष्कर्मों का क्षयकर जीव सिद्ध हो जायेगा, परन्तु आचरण से सर्व पापों का त्याग किए बिना मोक्ष सम्भव नहीं है। इसीलिए तो भरत चक्रवर्ती को केवलज्ञान होने के बाद भी साधु वेश न होने से वन्दन नहीं किया गया। अत: उन्हें भी साधु धर्म अंगीकार करना पड़ा। इस वर्णन से यह सिद्ध होता है कि पाप कार्य करते रहने और तदनन्तर प्रतिक्रमण कर लेने से पापकर्म हल्के और कमजोर हो सकते हैं, मगर पूर्ण रूप से नष्ट होना असम्भव है।

शंका– प्रतिक्रमण क्रिया से कौन से पापों का नाश होता है?

समाधान– प्रतिक्रमण करने से पापकर्म नष्ट होते हैं यह सत्य है। परन्तु कोई व्यक्ति मनमर्जी से दुष्कार्यों में प्रवृत्त रहे और प्रतिक्रमण करके निर्जरा कर ले, ऐसा कोई नियम नहीं है। पाप प्रक्षालन की क्रिया भावों की तरतमता के आधार पर होती है। इसलिए यह समझ लेना आवश्यक है कि यदि आत्मपरिणति उच्च कोटि की हो तो इस क्रिया से सभी कर्मों को क्षीण किया जा सकता है और मन्द-मन्दतर हो तो तद्रूप कर्म निर्जरा होती है। इस प्रकार निश्चित रूप से यह कहना शक्य नहीं कि प्रतिक्रमण आवश्यक से अमुक पाप दूर होते हैं।

शंका– भव आलोचना क्यों?

समाधान– स्वयं के द्वारा इहभव में किये गये समस्त पापों को सद्गुरु के

समक्ष प्रकट कर उन दोषों से मुक्त होने के लिए प्रायश्चित्त स्वीकार करना, भव आलोचना कहलाता है। भव-आलोचना नहीं करने से कृतपाप यथावत रह जाते हैं, फिर भवान्तर में फल भोगने के पश्चात ही उनका नाश संभव है। यदि मानहानि, अभिमान या भय वश कृत पापों को गुरु के सम्मुख उजागर न करके उन्हें हृदय में छुपाते हुए उसके निवारणार्थ बड़ी तपस्या भी कर ले तो कोई फायदा नहीं होता।

अभिप्राय यह है कि दुष्कृत्य उतने बुरे नहीं होते जितना मान कषाय हानिकारक है। मानकषाय की ओट में पलने वाले छोटे-छोटे दोष भी अनन्त अनुबन्ध वाले हो जाते हैं। जब अनुबन्ध जन्य कर्म उदय में आते हैं उस स्थिति में पाप कर्म का वेदन हो और समत्व न रखें अथवा पुण्य कर्म का उदय काल हो और तटस्थ न रहें तो एक सतत परम्परा चलती रहती है जो अनंत संसार परिभ्रमण के रूप में फलित होती है।

प्रश्न हो सकता है कि गुरु समक्ष अनालोचित दुष्कृत्य अनन्त अनुबंध का कारण कैसे बनते हैं? इसका स्पष्टीकरण यह है कि जो दुष्कृत्य बुरे नहीं लगते और जिन पापों से ग्लानि नहीं होती वे स्वभावत: प्रगाढ़ बंधन के रूप में परिणमित हो जाते हैं तथा उनके संस्कार भी यथावत रूप से दृढ़ हो जाते हैं। किन्तु जहाँ दोषों के प्रति हेय बुद्धि और पश्चात्ताप वृत्ति हो तो प्रगाढ़ बन्धन भी शिथिल और क्षीण हो जाते हैं। तत्फलस्वरूप वे कर्म भवान्तर में भी दुर्भाव या दुर्बुद्धि के उत्पन्न होने में निमित्त भूत नहीं बनते। प्रायश्चित्त करने से पूर्वकृत का नाश और नूतन का बंध नहीं होता।

प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त का ही दूसरा रूप है। इस क्रिया से राग आदि कषायों से बंधी हुई कर्मगांठ ढीली होती है। इसी तरह भव आलोचना करने से पाप अनुबन्ध की परम्परा समाप्त हो जाती है। अतएव प्रत्येक आत्मार्थी के लिए भव आलोचना करने योग्य है।

शंका– यदि सूत्र पाप स्मरण में सहायक बनते हैं तब तो सूत्रों से प्रायश्चित्त हो सकता है फिर प्रतिक्रमण क्रिया का क्या लाभ?

समाधान– यहाँ यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि मात्र वाचिक क्रिया या रटन क्रिया से पाप नाश नहीं होता, प्रत्युत जो बोला जा रहा है तदनुसार मानसिक चिंतन एवं भाव धारा बनने से कोई भी कार्य सम्पन्न होता है।

प्रतिक्रमण मात्र सूत्रों का उच्चारण नहीं अपितु एक ऐसी मनोवैज्ञानिक विधि है कि एक चरण दूसरे चरण की भूमि का निर्माण करने में सहायक बनता है। बिना भावों के मात्र सूत्रोच्चारण कभी भी पाप निवृत्ति में हेतुभूत नहीं बन सकता। विधिपूर्वक प्रतिक्रमण करते हुए जिन पाप-क्रियाओं का पश्चात्ताप किया जा रहा है उस समय में कम से कम उनसे निवृत्ति हो जाती है तथा समभाव की स्थिति होने पर ही ममत्त्व भाव कम होकर निन्दा-गर्हा आदि भाव उत्पन्न हो सकते हैं। जैसे संगीत के सात स्वर यदि विधिपूर्वक उनके नियम अनुसार न बोले जाएं तो वे एक सुंदर राग के स्थान पर कर्कश, बेसुरी चीख के समान लगते हैं, वैसे ही विधि एवं भाव रहित सूत्रोच्चारण मात्र शब्दों का जाल लगता है।

दूसरा हेतु यह है कि आरम्भ-समारम्भ रूप पाप व्यापार का त्याग करने एवं जीव हिंसा आदि से विरक्त होने पर ही दुष्कृत्यों का सचोट संताप हो सकता है इत्यादि कारणों से क्रियायुक्त प्रतिक्रमण ही सार्थक है।

शंका– कई लोग प्रश्न करते हैं कि आज की भाग-दौड़ वाली जिन्दगी में यदि प्रतिक्रमण, पूजा-पाठ आदि धर्मकृत्यों में ही समय को बिताया जाए तो व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों और दैनिक कार्यों के लिए कब समय निकालेगा और कैसे सुख-सुविधापूर्ण जिन्दगी जी पाएगा?

समाधान– सर्वप्रथम संसारी जीव का लक्ष्य मात्र भौतिक सुखों की प्राप्ति ही नहीं अपितु आत्मिक आनन्द की अनुभूति करना भी है जो एक मात्र धर्म क्रिया या सत्कार्यों से ही हो सकती है। दूसरी बात, इन क्रियाओं को करने से अंतराय कर्म का नाश होता है जिससे स्वत: ही अल्प श्रम और थोड़े व्यापार से भी अधिक लाभ की प्राप्ति हो जाती है। जिस प्रकार गुरु वैयावच्च, विनय आदि से ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय होकर अल्प प्रयास से अधिक ज्ञान प्राप्त हो जाता है, वैसे ही परमात्म पूजन, प्रतिक्रमण, गुरु सेवा, तपस्या आदि शुभ क्रियाओं द्वारा अंतराय आदि विविध कर्मों का क्षय होने से अल्प व्यापार के द्वारा भी अधिक ऋद्धि-समृद्धि हासिल हो जाती है। प्राचीन युग में अधिकांश लोग सुकृत में अधिक समय देकर भी समृद्धिशाली होते थे और अल्प व्यवसाय से बहुत कुछ अर्जित कर लेते थे। यथार्थत: वे संतोष प्रिय होते थे। वहीं आज व्यक्ति बाह्य क्रियाकलापों से जितना अधिक व्यस्त होता जा रहा है, अशान्ति और असन्तोष उतना ही उस पर हावी हो रहे हैं।

धर्म क्रियाओं के आचरण से आभ्यन्तर सुख एवं अनहद सन्तोष की अनुभूति होती है, पुण्य वृद्धि और सुख-समृद्धि बढ़ती है अत: धर्म में बीता समय ही सार्थक और सफल है।

शंका– यदि प्रतिक्रमण के द्वारा पाप नष्ट नहीं होते, तो फिर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त की उपयोगिता क्या?

समाधान– प्रतिक्रमण से पापों का क्षय नहीं होता ऐसा नहीं है। कितने ही प्रकार के कर्म प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त से ही समाप्त होते हैं। लेकिन हमारी यह धारणा मिथ्या है कि प्रतिक्रमण करते रहें तो पाप कार्य करने में कोई दिक्कत नहीं, क्योंकि प्रतिक्रमण से तद्योग्य बंधे हुए कर्म तो नष्ट होंगे ही किन्तु उस ज्ञान शून्य क्रिया से पापभीरूता उत्पन्न नहीं होती और उसके अभाव में जड़मूल से कर्म क्षीण नहीं होते। जबकि दुष्कृत्यों के प्रति ग्लानि उत्पन्न करते हुए भावों से प्रतिक्रमण करने पर बुरे संस्कार स्थायी रूप धारण नहीं करते और संस्कारों से बुराईयाँ और अनैतिकता समाप्त होने लगती है। अन्यथा वही उक्ति होगी कि गलती करते जाओ और माफी मांगते जाओ। जैसे घी, तेल, नमक आदि स्वादिष्ट भोजन इच्छानुसार खाते जाओ तथा Cholestrol और B.P. की दवाई लेते जाओ, पर यह क्रिया कभी भी रोग निवारण नहीं कर सकती। इसी तरह अविधि युक्त प्रतिक्रमण कभी भी कर्मों का सम्पूर्ण क्षय नहीं कर सकता।

प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त की सफलता के लिए सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना प्राथमिक चरण है। सम्यक्त्व का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि

'दानादिक क्रिया नवि दिए, समकित बिन शिवशर्म'

सम्यक्त्व रहित दानादिक क्रियाएँ मोक्ष सुख प्रदान करने में समर्थ नहीं है तो फिर प्रतिक्रमण रूपी प्रायश्चित्त कर्मनाश में कैसे सहायक हो सकता है?

जिनेश्वर परमात्मा ने जिस वस्तु का जैसा स्वरूप बताया है उसे स्वीकार कर वैसी ही श्रद्धा करना तथा आचरण के रूप में अपनाने का मानसिक यत्न करना सम्यगदर्शन है। यदि पाप क्रियाओं के प्रति ग्लानि पैदा हो जाये तो समझ लेना चाहिए कि सम्यक्त्व का बीजारोपण हो चुका है और वही यथार्थ प्रतिक्रमण है।

शंका– पाप क्रियाओं के प्रति संताप और पश्चात्ताप उत्पन्न हों, ऐसे शुभ भावों के लिए प्रतिक्रमण एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। किंतु यदि पाप क्रियाएँ प्रवर्त्तमान रहे तो प्रतिक्रमण करने का अर्थ क्या?

समाधान– जो लोग यह शंका करते हैं कि पाप कार्यों में संलग्न रहने से पश्चात्ताप या प्रतिक्रमण का क्या अर्थ? वे यह नहीं जानते कि प्रतिक्रमण, पाप क्रियाओं के पश्चात्ताप और उसके दुष्परिणाम आदि के विषय में चिंतन करने एवं शुभ भावों को उत्पन्न करने का सम्यक् उपाय है। जिस प्रकार कड़वी औषधि अरूचिकर होने पर भी स्वास्थ्य लाभ करवाती है। अनिच्छापूर्वक स्कूल जाते बच्चे को कुछ समय बाद अपने आप वह स्थान अच्छा लगने लगता है, वैसे ही प्रतिक्रमण करते-करते पाप क्रियाएँ स्वयं कम होने लगती है। पश्चात्ताप और ग्लानि प्रधान विचार ही असद्कार्यों से पीछे हटने में निमित्तभूत बन सकते हैं, दुष्क्रियाओं के प्रति हेय बुद्धि उत्पन्न कर सकते हैं। जैन धर्म भावना प्रधान धर्म है अत: मन में रहे ग्लानि एवं पश्चात्ताप भाव अनंत कर्मों की निर्जरा में सहायक बनते हैं। इस प्रकार अत्यावश्यक पाप क्रियाएँ होती रहे तब भी प्रतिक्रमण करते रहना युक्तियुक्त है।

शंका– पाप-संताप की क्रियाएँ प्रतिक्रमण के बिना क्यों नहीं की जा सकती? इसके लिए प्रतिक्रमण का आग्रह क्यों?

समाधान– किसी भी विषय में विचार करना हो तो तत्सम्बन्धी ज्ञान होना जरूरी है। उसी प्रकार पाप की पहचान, संताप करने के हेतु आदि का ज्ञान होने पर ही भावों में उतनी प्रशस्तता आ सकती है। उदाहरण के रूप में कोई व्यक्ति अपने श्रम से अर्जित धन द्वारा वस्तु खरीद कर लाये और वह खो जाए तो उसे दु:ख या संताप होना स्वाभाविक है। इस समय संसार में रचा-पचा व्यक्ति उस दु:ख को उचित मानेगा, वहीं प्रतिक्रमण आराधक इसे आर्त्तध्यान अथवा रौद्रध्यान के रूप में स्वीकार कर पाप रूप मानेगा तथा ऐसी स्थिति में दु:ख या संताप नहीं करेगा। तो कहने का तात्पर्य है कि वास्तविक पाप-संताप किस सम्बन्ध में करना चाहिए और कहाँ नहीं? यह समझ प्रतिक्रमण जैसी शुभ क्रियाओं के द्वारा ही उत्पन्न हो सकती है। इसलिए प्रतिक्रमण कई दृष्टियों से आवश्यक है।

दूसरी बात यह है कि दिवस भर में व्यक्ति अनेक पाप कार्य करता है। उनका स्मरण एवं पश्चात्ताप करने के लिए उसे वैसा माहौल और एकान्त भी चाहिए। प्रतिक्रमण क्रमश: एक-एक सूत्र के रूप में उन्हें ध्यान में लाता है जैसे कि 'देवसिअं आलोउं' सूत्र के द्वारा दिवस सम्बन्धी अतिचारों का चिंतन किया

जाता है। 'वंदित्तु सूत्र' के द्वारा किन व्रतों में कौन से अतिचार लगते हैं? उन सभी दुष्कृत्यों का मिच्छामि दुक्कडं दिया जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक क्रिया के अपने-अपने हेतु हैं, जो कि प्रतिक्रमण किए बिना पूर्ण रूप से साधे नहीं जा सकते।

अत: कई तथ्यों से प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं की उपयोगिता स्वयमेव समझ आ जाती है।

शंका– प्रतिक्रमण सामायिक पूर्वक होता है, सामायिक का काल 48 मिनट है, किसी व्यक्ति को इतना समय न मिले, तो प्रतिक्रमण को संक्षिप्त करके अल्प समय में नहीं किया जा सकता?

समाधान– आवश्यकसूत्र में प्रतिक्रमण को आवश्यक कहा गया है। आवश्यक छह बताए गए हैं, जिन्हें विधिवत सम्पन्न करने से ही पूर्ण लाभ प्राप्त किया जा सकता है, जैसे बड़े रोगों और असाध्य रोगों के लिए दीर्घकाल का उपचार बताया जाता है, उसे संक्षिप्त नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार भव रोगों के निवारण हेतु निश्चित समय का प्रतिक्रमण करना भी आवश्यक है।

शंका– हमारा प्रतिक्रमण प्राय: द्रव्य प्रतिक्रमण ही होता है जबकि भाव प्रतिक्रमण ही कर लेना पर्याप्त है, द्रव्य प्रतिक्रमण करने की क्या आवश्यकता है?

समाधान– वास्तविकता यह है कि द्रव्य प्रतिक्रमण, भाव प्रतिक्रमण के लिए प्रेरक बनता है और भाव प्रतिक्रमण द्रव्य प्रतिक्रमण के लिए प्रेरक बनता है। दूसरे, छ: आवश्यक की क्रियाओं एवं तत्सम्बन्धी सूत्र पाठों को पढ़ने-सुनने से भाव प्रतिक्रमण की प्रेरणा मिलती है अत: द्रव्य 'भाव' में सहायक है। द्रव्य प्रतिक्रमण से भाव-प्रतिक्रमण पुष्ट होता है। अत: द्रव्य एवं भाव प्रतिक्रमण दोनों की सम्यक् आराधना आवश्यक है।

शंका– भगवान ऋषभदेव एवं भगवान महावीर के शासन के साधु-साध्वियों के लिए दोनों समय प्रतिक्रमण करना अनिवार्य माना गया है। जबकि मध्य के 22 तीर्थंकरों के साधु-साध्वियों के लिए दैनिक प्रतिक्रमण का विधान नहीं है, वे दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण करते हैं, ऐसा क्यों?

समाधान– दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ से लेकर तीईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ तक के साधु-साध्वी सरल और बुद्धिमान होते हैं, जबकि प्रथम तीर्थंकर एवं

अंतिम तीर्थंकर के श्रमण-श्रमणी ऋजु जड़ और वक्र जड़ स्वभावी होते हैं। अत: वे कृत दोषों का शुद्ध मन से शीघ्र पश्चात्ताप नहीं करते इसी कारण उनके लिए प्रात: और सायंकाल दोनों समय प्रतिक्रमण करने का विधान किया गया है। मध्यवर्ती 22 तीर्थंकर के साधु-साध्वी कृत अपराधों का तुरन्त 'मिच्छामि दुक्कडं' कर लेते हैं।

शंका– प्रतिक्रमण आवश्यक से पूर्व सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव और वन्दना आवश्यक करना जरूरी क्यों है? सीधा प्रतिक्रमण ही कर लिया जाये तो समय की बचत होगी और प्रतिक्रमण भी हो जायेगा?

समाधान– सामायिक आदि तीन आवश्यकों की क्रिया के पश्चात प्रतिक्रमण आवश्यक का विधान इसलिए है कि सामायिक या समभाव आए बिना प्रतिक्रमण रूप प्रायश्चित्त की योग्यता ही नहीं आती है। साथ ही चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति एवं गुरु आशातना की क्षमा मांगे बिना भाव-प्रतिक्रमण नहीं किया जा सकता। पापों की आलोचना करने से पूर्व समभाव एवं विनयशीलता का होना परमावश्यक है। अत: प्रतिक्रमण से पूर्व तीनों आवश्यक की आराधना जरूरी है।

शंका– प्रतिक्रमण सभी पापों के प्रायश्चित्त रूप में किया जाता है, फिर मिथ्यात्व आदि पाँच का ही प्रतिक्रमण क्यों बतलाया गया है?

समाधान– मिथ्यात्व आदि पाँच प्रकार के प्रतिक्रमणों में सभी पापों का समावेश हो जाता है, जैसे अव्रत के प्रतिक्रमण में प्राणातिपात आदि सभी पापों का समावेश हो जाता है, प्रमाद में आत्म स्वभाव के विपरीत सभी विभावों का अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार उक्त पाँचों में सभी पाप प्रवृत्तियों का प्रतिक्रमण हो जाता है।

शंका– प्रतिक्रमण किसी भी समय क्यों नहीं किया जा सकता?

समाधान– तीर्थंकर परमात्मा की आज्ञा है कि दिनभर में लगे दोषों की आलोचना, दिवस के अन्त में (सायंकाल में) और रात्रिभर में लगे दोषों की आलोचना रात्रि के अन्त में सूर्योदय से पूर्व करनी चाहिए। इसीलिए प्रतिक्रमण का एक निश्चित समय रखा गया है। दूसरा, कोई भी कार्य निर्धारित समय या एक समय पर करने से अधिक लाभकारी भी होता है तथा उसमें भावों की श्रृंखला भी अधिक जुड़ती है। यों तो भाव प्रतिक्रमण कभी भी किया जा सकता है।

शंका– प्रतिक्रमण आवश्यक क्यों है?

समाधान– संसारी प्राणी छद्मस्थ है अत: उसके द्वारा प्रत्येक क्रिया में अज्ञान या प्रमादवश दोष लग जाना स्वाभाविक है। उन दोषों से निवृत्त होने के लिए प्रतिक्रमण एक अपूर्व कला है। प्रतिक्रमण के द्वारा साधक स्वयं के जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति का अवलोकन-निरीक्षण करते हुए कृत दोषों से निवृत्त होकर हल्का हो जाता है। इसीलिए प्रतिक्रमण को आवश्यक कहा गया है।

इसके पीछे दूसरा तथ्य यह है कि तन का रोग अधिक से अधिक एक जन्म तक पीड़ा दे सकता है, किन्तु मन का रोग एक बार प्रारम्भ होने के बाद, यदि व्यक्ति असावधान रहे तो लाखों जन्मों तक परेशान करता है। इसलिए भी प्रतिक्रमण को आवश्यक कहा गया है।

शंका– वर्तमान चौबीसी के शासनकाल में प्रवर्तित प्रतिक्रमण की परम्परा का स्पष्टीकरण कीजिए?

समाधान– प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर की परम्परा के साधु-साध्वियों के लिए अतिचार (दोष) लगे या न लगे, किन्तु दोष शुद्धि हेतु प्रतिदिन दोनों संध्याओं में प्रतिक्रमण करने का विधान है और करते भी हैं। मध्य के बाईस तीर्थंकरों की परम्परा के साधु-साध्वी दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण करते हैं। इन दोनों में आचार भेद का प्रमुख कारण यह है कि प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर के शिष्य चंचल चित्तवाले और जड़बुद्धि वाले होने से अपनी गलती को जल्दी से स्वीकार नहीं करते हैं जबकि मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के शिष्य प्रखर बुद्धि, एकाग्रमना एवं शुद्ध चारित्री होते हैं। अत: भूलों को तत्क्षण स्वीकार कर लेते हैं। इसी कारण प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर के शासन में प्रतिक्रमण अवस्थित कल्प है, जबकि मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के शासन में यह अनवस्थित (ऐच्छिक) कल्प था।

शंका– जब दिनभर पापकारी प्रवृत्तियाँ चालू रहती है फिर सुबह-शाम प्रतिक्रमण करने से क्या लाभ?

समाधान– जिस प्रकार कुएँ में डाली गई बाल्टी की रस्सी या आकाश में उड़ाई गई पतंग की डोर अपने हाथ में हो, तो बाल्टी एवं पतंग को हम प्रयास करके पुन: प्राप्त कर सकते हैं। वहीं यदि रस्सी या डोरी को पूर्णतया हाथ से छोड़ दें तो बाल्टी एवं पतंग को खो देंगे। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी यही नियम

लागू होता है। प्रतिदिन किए गए अभ्यास से सत्संस्कारों का सृजन होता है। साथ ही पापकार्यों में अनुरक्त आत्मा इन सृजित संस्कारों के माध्यम से कभी न कभी तप-संवर रूपी साधन अपनाकर शुद्ध भी बन सकती है।

शंका– सॉरी (Sorry) कहना एवं प्रतिक्रमण करना– इन दोनों में क्या अन्तर है तथा जैन धर्म में सॉरी के अनुरूप कौनसा शब्द है?

समाधान– जैन जगत में सॉरी के अनुरूप 'मिच्छामि दुक्कडं' शब्द है।

शंका– सामायिक लेने से पूर्व गुरु को विधिवत वंदन करते हैं, जबकि पारते समय नहीं करते ऐसा क्यों?

समाधान– सामायिक लेने से पूर्व यह उद्देश्य है कि हम आस्रव को छोड़कर संवर की ओर जा रहे हैं। इसमें गुरु की आज्ञा है, जबकि सामायिक पारते समय संवर को छोड़कर पुनः आस्रव की ओर बढ़ते हैं, जिसके लिए गुरु भगवंतों की आज्ञा नहीं है, इसलिए वन्दन नहीं करते हैं।

शंका– श्रावक द्वारा मुख्य रूप से बारह व्रतों में लगे दोषों का प्रतिक्रमण किया जाता है, इन व्रतों में कितने स्वतंत्र हैं एवं कितने परतंत्र हैं?

समाधान– पहले अहिंसा अणुव्रत से लेकर ग्यारहवें पौषधोपवास व्रत पर्यन्त सभी व्रत स्वतन्त्र हैं तथा बारहवाँ अतिथि संविभाग व्रत परतन्त्र है, क्योंकि बारहवें व्रत की साधना सुपात्र दान देने से सम्बन्धित है। सुपात्री अन्य होता है, जिसके उपलब्ध होने पर ही बारहवाँ व्रत सम्पन्न होता है।

शंका– छहों आवश्यकों में देव-गुरु-धर्म का अन्तर्भाव कैसे है?

समाधान– दूसरा चतुर्विंशतिस्तव–देव तत्त्व है, तीसरा वन्दन-गुरु तत्त्व है तथा पहला सामायिक, चौथा प्रतिक्रमण, पांचवाँ कायोत्सर्ग एवं छठवाँ प्रत्याख्यान-धर्म तत्त्व है।

शंका– अन्य मतों में प्रचलित संध्या आदि में और जैनों के आवश्यक में क्या अन्तर है?

समाधान– दूसरे मतों में प्रचलित संध्या आदि कर्म में केवल ईश्वर-स्मरण और प्रार्थना आदि की मुख्यता रहती है वहाँ ज्ञान आचार धर्मों की स्मृति एवं अपने पापों के प्रतिक्रमण की मुख्यता नहीं रहती, परन्तु जैनों के आवश्यक में ज्ञान आदि पंचाचार की स्मृति तथा अपने पापों के प्रतिक्रमण की मुख्यता है, जो आभ्यन्तर परिणामों की दृष्टि से अधिक आवश्यक है।

कुछ लोगों का कहना है कि जिन्होंने गृहस्थ जीवन का त्याग कर दिया और सदैव आत्म साधना में मग्न रहते हैं ऐसे साधु-साध्वियों के लिए दोनों समय प्रतिक्रमण करना जरूरी है क्योंकि धर्मसाधना के मुख्य अधिकारी वे ही कहे जाते हैं और उनके पास पर्याप्त समय भी है। गृहस्थ के लिए प्रतिक्रमण करना मुश्किल है क्योंकि महिलाओं का अधिकतम समय घर-गृहस्थी के कार्यों एवं पुरुषों का समय व्यापार आदि में बीत जाता है तब प्रतिक्रमण कब करें?

प्रतिक्रमण पाप शुद्धि की श्रेष्ठ क्रिया है। इस सम्बन्ध में सोचना होगा कि अधिक पाप कौन करता है? अधिक दोष किसे लगते हैं? सामान्यतया पाप आदि की क्रियाएँ गृहस्थ जीवन में अधिक होती है इसलिए गृहस्थ को तो प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। दूसरा, छह आवश्यक नित्य कर्म रूप होने से गृहस्थ एवं श्रमण दोनों के लिए निश्चित रूप से करणीय है।

शंका– प्रतिक्रमण को आवश्यक कर्म क्यों कहा गया है?

समाधान– जिस प्रकार शरीर निर्वाह हेतु आहार आदि क्रिया प्रतिदिन करना आवश्यक है, उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में आत्मा को सबल बनाने के लिए प्रतिक्रमण करना आवश्यक है इसीलिए प्रतिक्रमण को आवश्यक कर्म कहा है।

शंका– छह आवश्यक के सूत्र पाठों का प्रतिपादन करने वाले आवश्यकसूत्र को उत्कालिक सूत्र क्यों कहा गया है?

समाधान– यह सूत्र अकाल (उत्काल) में अर्थात दिन और रात्रि के संधिकाल में भी बोले जा सकते हैं, इनके लिए निश्चित समय का विधान नहीं है यानी दिन और रात्रि में ये सूत्र किसी भी समय पढ़े जा सकते हैं इसलिए इन सूत्रों का प्रतिपादन करने वाले आवश्यकसूत्र को उत्कालिकसूत्र की कोटि में रखा गया है।

शंका– अतिचार और अनाचार में क्या अन्तर है?

समाधान– व्रत या नियम का एकांश खण्डित होना अतिचार कहलाता है तथा व्रत का सर्वथा खण्डित हो जाना अनाचार कहलाता है। प्रतिक्रमण अतिचार का होता है, अनाचार का नहीं।

शंका– श्वेताम्बर परम्परा में श्रमण प्रतिक्रमण और श्रावक प्रतिक्रमण में मूलभूत अन्तर क्या है?

समाधान– श्वेताम्बर परम्परा के श्रमण प्रतिक्रमण और श्रावक प्रतिक्रमण में मुख्य भेद अणुव्रतों एवं महाव्रतों के अतिचार पाठों को लेकर है। श्रमण प्रतिक्रमण का मूल आधार आवश्यकसूत्र है तथा श्रावक प्रतिक्रमण का मुख्य आधार उपासकदशासूत्र है। आवश्यकसूत्र में वर्णित इरियावहि, अन्नत्थ, लोगस्स, प्रत्याख्यान पाठ आदि कुछ सूत्र ऐसे हैं, जो दोनों के लिए प्रतिक्रमण हेतु उपयोगी हैं, यद्यपि प्रतिक्रमण आवश्यक का मूलपाठ श्रमण की अपेक्षा से ही कहा गया है। उपासकदशासूत्र में पाँच अणुव्रतों तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का स्वरूप एवं उनके अतिचारों का उल्लेख किया गया है, जो मूलत: श्रावक प्रतिक्रमण से ही सम्बन्धित है।

शंका– प्रतिक्रमणसूत्र में प्रायश्चित्त का पाठ कौनसा है?

समाधान– देवसिय-पायच्छित्त-विसोहणत्थं करेमि काउस्सग्गं– अर्थात मैं दिवस सम्बन्धी प्रायश्चित्त की शुद्धि के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ।

शंका– गृहस्थ प्रतिक्रमण के सूत्रों में उपसंहार सूत्र कौनसा है?

समाधान– 'तस्स धम्मस्स केवलिपन्नतस्स' का पाठ है।

शंका– प्रतिक्रमण का मूल उद्देश्य कृत दोषों का शोधन करना है, इस अपेक्षा से प्रतिक्रमण का मुख्य सम्बन्ध अतिचारों से है, तब सामायिक ग्रहण किए बिना भी अतिचारों का प्रतिक्रमण क्यों नहीं किया जा सकता?

समाधान– जैनागमों में सामायिक पूर्वक ही प्रतिक्रमण करने की आज्ञा है किन्तु आपवादिक स्थितियों जैसे ट्रेन आदि में यात्रा करते हुए संवर पूर्वक भी प्रतिक्रमण किया जा सकता है। दोनों में अन्तर यह है कि सामायिक में सावद्य प्रवृत्ति का दो करण-तीन योग से त्याग होता है, जबकि संवर के द्वारा एक करण और एक योग से भी सावद्य प्रवृत्ति का त्याग किया जा सकता है तथा उसमें ट्रेन आदि द्वारा गमनागमन की छूट रख सकते हैं।

शंका– जीवादि नवतत्त्वों में प्रतिक्रमण का अन्तर्भाव किसमें हैं?

समाधान– प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त का एक प्रकार है और प्रायश्चित्त की गणना आभ्यन्तर तप के छ: भेदों में की गई है। 'तपसा निर्जरा च'– तप से संवर और निर्जरा होती है इस प्रकार प्रतिक्रमण का समावेश संवर और निर्जरा तत्त्व में होता है।

शंका– यदि हम प्रतिदिन प्रतिक्रमण करते हैं और उसके पश्चात पुन:

पुनः अतिचारों का सेवन करते रहें तो ऐसे प्रतिक्रमण करने से क्या लाभ? इससे तो प्रतिक्रमण न करना ही अच्छा है?

समाधान– आपका कथन उचित नहीं है, क्योंकि पुनः पुनः प्रतिक्रमण करने से पूर्व संचित पापकर्म तो नष्ट होते ही है। साथ ही नये कर्मों का आस्रव भी रूक जाता हैं जैसा कि उत्तराध्ययनसूत्र में प्रतिक्रमण आवश्यक का फल बताते हुए कहा गया है कि इससे व्रतों के छिद्र ढक जाते हैं यानी व्रतादि में जो दोष लगे हैं वे दूर हो जाते हैं। दूसरे, प्रतिक्रमण के माध्यम से दृष्कृत की गुरु समक्ष आलोचना करने पर लज्जानुभव होता है और वह पुनर्दोषों से बचने का संकल्प करता है, जबकि प्रतिक्रमण न करने वाला निःसंकोच दोष सेवन करता है और उसके आस्रव के द्वार प्रतिक्षण खुले रहते हैं।

शंका– प्रतिक्रमण करने के स्थान पर घंटाभर परोपकार के कार्य में लगाया जाये तो अधिक अच्छा है, क्योंकि रूढ़ि प्रवाह से प्रतिक्रमण करने वाले को समय की सार्थकता के अतिरिक्त कुछ भी लाभ नहीं होता है?

समाधान– समझिए, प्रतिक्रमण में पहला सामायिक आवश्यक है। सामायिक करने से 48 मिनट पर्यन्त पापास्रव का निरोध होता है एवं समस्त जीवों को अभय मिलता है, जबकि परोपकार में एक या कुछ व्यक्तियों का ही सहयोग कर पाते हैं। फिर परोपकार के कार्यों में हिंसक प्रवृत्ति भी हो सकती है, जो पाप बंध का कारण होती है, जबकि प्रतिक्रमण में किसी तरह की पाप प्रवृत्ति नहीं होती है।

शंका– अष्टमी-चतुर्दशी आदि तिथियों के दिन नया पाठ क्यों नहीं लेना चाहिए?

समाधान– पूर्वाचार्यों ने दूज, अष्टमी एवं चौदस को चारित्र तिथि माना है। अतः इन तिथियों में सम्यक चारित्र की विशेष आराधना करनी चाहिए, इसीलिए ज्ञान की आराधना पर कम बल दिया गया है।

शंका– चतुर्दशी प्रतिक्रमण के पश्चात आगम अध्ययन, शास्त्र-स्वाध्याय आदि क्यों नहीं करते?

समाधान– पूर्व परम्परा से यह प्रचलित है कि पाक्षिक प्रतिक्रमण के बाद आगम एवं सूत्र-पाठों का अध्ययन आदि नहीं किया जाता। यदि इसके पीछे असज्झाय को कारण माने तो उस दिन प्रतिक्रमण के पश्चात असज्झाय

निवारण का कायोत्सर्ग किया जाता है जिसका अभिप्राय स्वाध्याय आदि प्रारम्भ करने से है अत: इस परम्परा का कोई प्रामाणिक हेतु समझ में नहीं आया है। परन्तु गुरु परम्परा से यह आचरणा देखी जाती है।

साधु सामाचारी के अनुसार पाक्षिक प्रतिक्रमण के बाद स्वाध्याय किया जा सकता है, क्योंकि दिन भर चारित्र तिथि होने से चारित्र आराधना को प्रमुखता दी गई और रात्रि में साध्वाचार के सम्यक निर्वहन हेतु स्वाध्याय को।

शंका– प्रतिक्रमण प्रारम्भ का शुद्ध समय बताते हुए कहा गया है कि जब आधा सूर्य दिखाई दें और आधा अस्त हो जाये उस समय वंदित्तु सूत्र बोला जाना चाहिए, ऐसा क्यों?

समाधान– प्राचीन काल में जब घड़ी आदि साधनों का आविष्कार नहीं हुआ था तब सूर्य की छाया के आधार पर ही समय का निर्णय किया जाता था अत: समय ज्ञान की अपेक्षा से ऐसा कहा गया है। दूसरा हेतु यह हो सकता है कि प्रतिक्रमण की मुख्य क्रिया सूर्य की साक्षी या उपस्थिति में हो जानी चाहिए क्योंकि अंधेरे में उपयोग पूर्वक उठ-बैठकर क्रिया नहीं हो सकती और जीव हिंसा की सम्भावना भी बढ़ जाती है।

वंदित्तु सूत्र लगभग सभी परम्पराओं में बोला जाता है और उस सूत्र के पूर्ण होने तक आधा प्रतिक्रमण हो जाता है इस प्रकार सूर्य के आधार पर बताया गया यह समय उचित मालूम होता है।

शंका– कोई भी धार्मिक क्रिया करने या उसकी आज्ञा लेने से पूर्व खमासमण क्यों दिया जाता है?

समाधान– खमासमण विनय भाव का प्रतीक है, अत: खमासमण देने से विनय भाव एवं लघुता प्रकट होती है जो कि सर्व दृष्टि से उचित एवं लाभदायक भी है अत: किसी भी शुभ क्रिया से पूर्व खमासमण दिया जाना चाहिए।

शंका– स्थापनाचार्यजी को तीन या पाँच मुँहपत्ति में लपेटकर क्यों रखते हैं?

समाधान– स्थापनाचार्यजी के नीचे में दो या चार मुँहपत्ति आसन के प्रतिरूप में उन्हें बहुमान एवं उच्च आसन देने के भाव रूप तथा ऊपर में एक मुहपत्ति छत्र या चंदरवा पूठिया के भाव रूप रखी जाती है। इससे आचार्य की महिमा प्रतिपादित होती है। कुछ परम्पराओं में तीन मुँहपत्ति रत्नत्रयी के प्रतिरूप

में तो किन्हीं परम्पराओं में पाँच मुँहपत्ति, पाँच महाव्रत या पंचाचार के प्रतिरूप में रखी जाती है।

शंका– दैवसिक प्रतिक्रमण के पूर्व चौबीस मांडला की विधि करते वक्त रजोहरण से चारों दिशाओं में संकेत करने का अभिप्राय क्या है?

समाधान– मांडले के समय चारों दिशाओं में ओघे के संकेत द्वारा रात्रि में आवश्यक क्रियाओं के आवागमन एवं मल-मूत्रादि के विसर्जन हेतु सौ-सौ हाथ की भूमि का अवग्रह (छूट) रखा जाता है।

शंका– दैवसिक प्रतिक्रमण करते वक्त श्रावक या गृहस्थ सज्झाय बोल सकते हैं या नहीं?

समाधान– सज्झाय उपदेश रूप होती है अत: इसे बोलने का आदेश गृहस्थ को नहीं दिया गया है। गृहस्थ के आचरण में उतनी शुद्धता एवं दृढ़ता नहीं होती जो साधु के जीवन में होती है। आचरित उपदेश जीवन में जल्दी उतरता है। गृहस्थ का किसी से आपसी मनमुटाव हो तो वह हास्य या उपहास का कारण भी बन सकता है। अत: साधु को ही सज्झाय का आदेश दिया गया है।

शंका– प्रत्येक क्रिया में मुखवस्त्रिका आवश्यक क्यों? तथा बार-बार उसका प्रतिलेखन क्यों करना चाहिए?

समाधान– मुँहपत्ति यह जीव रक्षा का उपकरण है। बोलने से वायुकाय के जीवों की हिंसा होती है इसलिए साधु को प्रत्येक समय मुँहपत्ति का उपयोग रखना चाहिए। मुहपत्ति रखने से साधु को संयमी जीवन का भान रहता है। प्रत्येक क्रिया में मुँहपत्ति पडिलेहण करते हुए साधु बार-बार जो क्रिया करता है उससे प्रमाद दूर होता है। शारीरिक स्फूर्ति बनी रहती है। भावों से कषाय आदि के भाव दूर होते हैं तथा उकडु आसन में बैठने से शारीरिक रोग भी उपशांत होते हैं।

शंका– स्थापनाचार्य रखने का उद्देश्य क्या है? तथा साधु प्रत्येक क्रिया स्थापनाचार्य के सम्मुख क्यों करें?

समाधान– जिस तरह प्रत्यक्ष जिनेश्वर के अभाव में जिनप्रतिमा का वन्दन-पूजन फलदायी होता है, वैसे ही प्रत्यक्ष गुरु महाराज के अभाव में स्थापनाचार्य के सम्मुख क्रिया करने से वह अवश्यमेव फलदायी होती है।

अधिक शिष्य होने पर या गुरु के शासन कार्यों में व्यस्त होने पर प्रत्येक छोटी-बड़ी क्रिया के लिए बार-बार गुरु से आज्ञा लेना सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में स्थापनाचार्य के समक्ष प्रत्येक क्रिया करने से शिष्यों में स्वच्छंदता की वृद्धि नहीं होती। साथ ही गुरु साक्षी में क्रिया करने से वह स्थिरता, अप्रमत्तता और विधि पूर्वक होती है। इसलिए प्रत्येक क्रिया गुरु के अभाव में स्थापनाचार्य के सम्मुख ही करनी चाहिए।

शंका– स्थापनाचार्य की स्थापना किस सूत्र से और क्यों की जाती है? स्थापना के अभाव में किसी अन्य वस्तु की स्थापना हो सकती है क्या?

समाधान– स्थापनाचार्य की स्थापना खरतर परम्परानुसार तीन नवकार एवं आचार्य के तेरह बोल पूर्वक तथा तपागच्छ आदि परम्परानुसार एक नवकार एवं पंचिंदिय सूत्र के द्वारा की जाती है। नवकार मन्त्र महामंगल रूप है तथा इसमें पंच परमेष्ठी को वंदन किया गया है। अत: इस मन्त्र के स्मरण द्वारा पंच परमेष्ठी की स्थापना होती है और यह स्थापना देववन्दन आदि में उपयोगी है।

तेरह बोल एवं पंचिंदिय सूत्र में आचार्य के छत्तीस गुणों का वर्णन है। इनके द्वारा गुरु की स्थापना की जाती है और यह स्थापना कायोत्सर्ग, गुर्वानुमति, प्रतिक्रमण आदि कार्यों में उपयोगी है।

स्थापनाचार्य के अभाव में पुस्तक, माला आदि अन्य ज्ञान-ध्यान के उपकरणों की स्थापना की जा सकती है।

गृहस्थ स्थापनाचार्य को स्थापित करने के लिए दाहिनी हथेली को स्थापनाजी के सन्मुख रखें। इस मुद्रा से स्थापनाचार्य में आचार्य के 36 गुणों का आह्वान किया जाता है क्योंकि आह्वान मुद्रा की आकृति वैसी ही होती है। स्थापनाचार्य के सन्मुख हाथ करते हुए नवकार मंत्र और पंचिंदिय सूत्र बोलते हैं।

शंका– इरियावहि सूत्र से पापों की आलोचना हो जाती है तब तस्सउत्तरी सूत्र एवं अन्नत्थ सूत्र बोलने का प्रयोजन क्या?

समाधान– ईर्यापथ प्रतिक्रमण करने के उपरान्त भी शेष बचे हुए पाप तस्सउत्तरी सूत्र का चिंतन करने से दूर हो जाते हैं। पाप मुक्त होने से साधक द्वारा की गई संवर क्रियाएँ विशेष फलीभूत होती है। उसके बाद शेष पापों का नाश करने के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है। जैसे क्षेत्र रक्षण के लिए वाड़ बनाई जाती है वैसे ही कायोत्सर्ग के रक्षणार्थ वाड़ रूप आगार (छूट) की आवश्यकता है उस हेतु अन्नत्थसूत्र पढ़ते हैं।

शंका– इरियावहियं आदि कई सूत्रों को पढ़ने से पहले उसका आदेश क्यों मांगते हैं?

समाधान– किसी भी कार्य को करने से पूर्व आज्ञा ग्रहण करना विनय गुण का प्रकटीकरण है। विनय धर्म का मूल है। विनय के द्वारा कार्य में सफलता एवं जीवन का विकास होता है। इससे पूज्यजनों का सम्मान एवं गुरु-शिष्य और बड़ों-छोटों के बीच अपनत्व तथा मैत्री का सम्बन्ध बना रहता है। साथ ही गुर्वाज्ञा पूर्वक किसी कार्य को करने पर वह निर्विघ्न होता है और गुरु का चित्त प्रसन्न रहने से कठिन कार्य भी सुगम हो जाते हैं। दूसरा तथ्य यह है कि आदेश मांगने के जो आलापक पाठ हैं उसमें सर्वप्रथम 'इच्छामि' शब्द का प्रयोग होता है। उसका अभिप्राय यह है कि जैन धर्म इच्छा प्रधान है। यहाँ किसी आतंक या दबाव से कार्य करने हेतु प्रेरित नहीं किया जाता, व्यक्ति की इच्छा को महत्त्व दिया गया है। इसी वजह से सर्व प्रकार के विधिसूत्रों में 'इच्छामि पडिक्कमामि' 'इच्छामि खमासमणो' आदि वाक्यों का प्रयोग है। इच्छामि का अर्थ है– मैं स्वयं चाहता हूँ।

'इच्छामि' का दूसरा हार्द यह है कि शिष्य– गुरुदेव के चरणों में विनम्र भाव से प्रार्थना करता है कि भगवन्! मैं आपको वन्दन करने की इच्छा रखता हूँ अत: आप उचित समझें तो आज्ञा दीजिए।

इस प्रकार धर्म क्रियाओं हेतु स्वीकृति प्राप्त करने के कई प्रयोजन हैं।

शंका– ईर्यापथ प्रतिक्रमण आदि का कायोत्सर्ग खड़े-खड़े ही क्यों करना चाहिए?

समाधान– कायोत्सर्ग अर्थात काया का उत्सर्ग करना या उसके प्रति ममत्त्व का त्याग करना। कायोत्सर्ग में आत्मचिन्तन किया जाता है। बैठे-बैठे कायोत्सर्ग करने से प्रमाद आदि आने की सम्भावना रहती है। अन्य किसी कठिन आसन में लम्बे समय तक स्थिरता नहीं रह सकती, जबकि खड़े-खड़े कायोत्सर्ग अधिक स्थिरता एवं अप्रमत्तता पूर्वक किया जा सकता है। अत: खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करना चाहिए।

शंका– साधु-साध्वी पगामसज्झाय सूत्र बोलते समय ओघा कंधे के समीप क्यों रखते हैं?

समाधान– पगाम सज्झाय, यह साधु-साध्वी के दैनिक क्रियाओं में लगे हुए अतिचारों की आलोचना पाठ है। स्वकृत पापों की आलोचना में वीरता की

आवश्यकता है। इसी के साथ आलोचना के माध्यम से अन्तर भूमि को दोष रहित और पोली करने का प्रयास किया जाता है। जिस प्रकार रणभूमि में योद्धा शस्त्र को उठाकर चलता है और उस बाह्य मुद्रा से ही उसमें विजय भावना उत्तरोत्तर पनपती है, ठीक उसी प्रकार रजोहरण को कंधे के समीप उठाकर धारण करने से ही कषाय शत्रुओं को पराजित करने की भावना बलवती बनती है। रजोहरण जो कि अभयदान एवं जीव रक्षा का प्रेरक है, उसके आलम्बन से साधु स्वयं का क्रोध आदि वैभाविक दुर्गुणों से रक्षण करता है तथा उनसे छुटकारा पाने हेतु प्रयत्न भी करता है।

शंका– गृहस्थ के लिए दैवसिक अतिचारों का अवधारण करने हेतु पंचाचार की आठ गाथाओं के चिंतन का निर्देश है, वे गाथाएँ कौनसी और किस सूत्र में कही गई हैं?

समाधान– दशवैकालिक निर्युक्ति (181, 184, 182, 185, 186, 47, 48, 187) के अनुसार पंचाचार की गाथाएँ निम्नोक्त है–

नाणम्मि दंसणम्मि अ, चरणम्मि तवम्मि तह य वीरियम्मि।
आयरणं आयारो, इअ एसो पंचहा भणिओ।।1।।
काले विणए बहुमाणे, उवहाणे तह अनिण्हवणे।
वंजण-अत्थ-तदुभए, अट्ठविहो नाण मायारो।।2।।
निस्संकिय निक्कंखिअ, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ।।3।।
पणिहाण जोग-जुत्तो, पंचहिं समिईहिं तीहिं गुत्तीहिं
एस चरित्तायारो, अट्ठविहो होइ नायव्वो।।4।।
बारसविहम्मि वि तवे, सब्भिंतर-बाहिरे कुसल-दिट्ठे।
अगिलाइ अणाजीवी, नायव्वो सो तवायारो।।5।।
अणसणमूणोअरिआ, वित्ती संखेवणं रस च्चाओ।
काय-किलेसो संलीणया य, बज्झो तवो होइ।।6।।
पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ
झाणं उस्सग्गो विअ, अब्भिंतरओ तवो होइ।।7।।
अणिगूहिअ बल वीरिओ,परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो।
जुंजइ अ जहाथामं, नायव्वो वीरिआयारो।।8।।

शंका– सामायिक आवश्यक को पूर्ण करते समय सूत्रपाठ बोलने की आवश्यकता क्या है?

समाधान– जैसे दो तटों के बीच बहने वाला पानी नदी कहलाता है और दोनों तट ही उसके अस्तित्व एवं उपयोगिता को प्रमाणित करते हैं वैसे ही सामायिक लेने रूप प्रथम तट के साथ उसका दूसरा किनारा सामायिक पूर्ण करना भी आवश्यक है। दूसरे, सामायिक के दौरान सामान्य रूप से 32 दोषों के सेवन की सम्भावना रहती है, उनका निरीक्षण-परीक्षण करके कृत अतिचारों का निराकरण कर सकें तथा भविष्य में उन दोषों से बचने का ध्यान रख सकें, एतदर्थ सामायिक पूर्ण करने का पाठ बोलना आवश्यक है। तीसरे, सामायिक की स्मृति व शुद्धि के लिए सामायिक पूर्ण करना अनिवार्य है।

शंका– रात्रि में कुस्वप्न आये तो प्रात:कालीन उसका प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त कर लिया जाता है, पर दिन में यदि कुस्वप्न आए तो क्या करना?

समाधान– सर्वप्रथम तो साधु को दिन में निद्रा लेने का निषेध है अत: स्वप्न आने की संभावनाएँ कम हो जाती है। दूसरा रात्रि या प्रात: वेला के स्वप्नों को जितना फलदायी माना है, दिवस सम्बन्धी स्वप्न उतने फलदायी नहीं होते, दिन में कोई पाप क्रिया होने या दु:स्वप्न आने पर उसका प्रायश्चित्त उसी समय किया जा सकता है। रात्रि में निद्रा की अवस्था में यह नहीं हो सकता तथा रात्रि के स्वप्न के दुर्विचार पूरे दिन मन को अशांत रख सकते हैं, अत: उनके निवारण के लिए कायोत्सर्ग आवश्यक हो जाता है। यदि दिवस में किसी का मन अशांत हो रहा हो तो वह गुरु से इस विषय में चर्चा कर सकता है और यदि कायोत्सर्ग कर भी लिया जाए तो कोई दोष या अवज्ञा प्रतीत नहीं होती।

शंका– कभी चैत्यवन्दन के बाद 'जंकिंचि सूत्र' बोला जाता है और कभी नहीं, ऐसा क्यों?

समाधान– जब अरिहंत और सिद्ध पद की आराधना हेतु चैत्यवन्दन किया जाता है तब जंकिंचि सूत्र बोलते हैं किन्तु जब किसी तीर्थ प्रमुख या आचार्य आदि पदों के निमित्त चैत्यवंदन किया जाता है तब जंकिंचि सूत्र बोलने की परम्परा नहीं है, क्योंकि इस सूत्र में समस्त तीर्थों एवं प्रतिमाओं को वन्दन किया गया है आचार्य आदि का पद उनसे निम्न है।

शंका– प्रात:कालीन प्रतिक्रमण में देववंदन बाद में और सन्ध्याकालीन प्रतिक्रमण में प्रारम्भ में किया जाता है ऐसा क्यों?

समाधान– देववंदन यह प्रतिक्रमण की एक अतिरिक्त क्रिया है। षडावश्यक में इसका समावेश नहीं है। यह त्रिकाल चैत्यवन्दन की अपेक्षा से दोनों बार प्रतिक्रमण में किया जाता है। परम्परागत रूप से देववंदन सूर्य देवता की साक्षी में करने का नियम है। तदनुसार प्रभात में प्रतिक्रमण शुरू करने के बाद सूर्योदय होता है इसलिए प्रतिक्रमण के अन्त में करते हैं तथा सन्ध्या को प्रतिक्रमण पूर्ण होते-होते सूर्यास्त हो जाता है अत: प्रारम्भ में करते हैं।

शंका– प्रतिक्रमण में शांति पाठ बोलना उचित है?

समाधान– प्रतिक्रमण मूलरूप में तो छह आवश्यक की आराधना है। शेष विधि परवर्ती काल में सम्मिलित हुई है, जिसे पूर्वाचार्यों ने उस समय की आवश्यकता के अनुसार ही सामाचारी में संयुक्त किया है। शांति पाठ मंगलकारी एवं विघ्न निवारक है। इसके द्वारा समस्त संघ के कल्याण की भावना की जाती है। अत: इसे बोलने में किसी प्रकार की अविधि होती हो ऐसा नहीं लगता। समस्त प्राणियों के मंगल रूप यह पाठ जैन धर्म की विश्व कल्याण की भावना को भी प्रदर्शित करता है। अत: प्रतिक्रमण की समाप्ति में शांति पाठ बोलना अनुचित प्रतीत नहीं होता।

शंका– व्रत और प्रत्याख्यान में क्या अन्तर है?

समाधान– विधिरूप प्रतिज्ञा व्रत कहलाती है और निषेध रूप प्रतिज्ञा प्रत्याख्यान कहलाता है। व्रत मात्र चारित्र में ही होता है जबकि प्रत्याख्यान चारित्र और तप उभय रूप होता है। व्रत विकल्प पूर्वक ग्रहण किया जाता है जबकि प्रत्याख्यान विकल्प के बिना भी होता है।

शंका– द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव प्रतिक्रमण का क्या स्वरूप है?

समाधान– प्रतिक्रमण के सूत्र पाठ का उच्चारण करना द्रव्य प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण योग्य स्थान, क्षेत्र प्रतिक्रमण है। यहाँ छठें व्रत एवं दसवें व्रत के द्वारा भी क्षेत्र प्रतिक्रमण होता है। प्रतिक्रमण में जितना समय बीतता है, वह काल प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण क्रिया में तच्चित्त-तन्मय हो जाना, भाव प्रतिक्रमण है।

शंका– ग्यारहवाँ पौषधव्रत नौवें सामायिक व्रत से विशिष्ट है फिर भी ग्यारहवें में निद्रा, निहार आदि की छूट है और नौवें में नहीं है। यह विरोध क्यों?

समाधान– सामायिक का काल 48 मिनट का है अत: उक्त छूटों के बिना भी हो सकता है। यदि अल्पकाल के लिए भी आगार रखे जायें तो फिर सामायिक में रत्नत्रय आदि की कोई आराधना ही नहीं हो पायेगी। जबकि पौषधव्रत अहोरात्रि या न्यूनतम चार प्रहर का होता है अत: आगार रखना जरूरी है।

शंका– 'इच्छामि ठामि काउस्सग्गं' के पाठ में योगों का क्रम काइओ, वाइओ, माणसिओ इस प्रकार से क्यों रखा गया है?

समाधान– जिस पाठ में मन की प्रधानता हो अर्थात चिंतन-मनन-निंदा-आलोचना की हो वहाँ प्रथम स्थान मनोयोग को दिया जाता है। जैसे बारह व्रतों में लगे दोषों की आलोचना के समय मणसा-वयसा-कायसा बोला जाता है, जबकि लोगस्स के पाठ में कित्तिय-वंदिय-महिया कहा गया है, यहाँ वचन योग को प्रधानता दी गई है। 'इच्छामिठामि' पाठ कायोत्सर्ग की साधना के पूर्व बोला जाता है और कायोत्सर्ग में कायिक व्यापार के उत्सर्ग की प्रधानता रहती है अत: यहाँ काइयो-वाइओ-माणसिओ कहा गया। इसी प्रकार 'तस्सउत्तरी का पाठ भी कायोत्सर्ग से पूर्व बोला जाता है अत: वहाँ भी ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं पाठ है।

शंका– 'इच्छामि ठामि' के पाठ में कभी 'इच्छामि ठामि काउस्सग्गं' तो कभी 'इच्छामि ठामि आलोउं' तो कभी 'इच्छामि ठामि पडिक्कमिउं' बोला जाता है, यह अंतर क्यों?

समाधान– जहाँ कायोत्सर्ग की प्रधानता हो वहाँ 'इच्छामिठामि काउस्सग्गं' इसी तरह जहाँ अतिचारों के आलोचना की प्रधानता हो वहाँ 'इच्छामि आलोउं' और जहाँ प्रतिक्रमण का प्राधान्य हो वहाँ 'इच्छामि पडिक्कमिउं' बोला जाता है।

शंका– परवर्ती परम्परानुसार कायोत्सर्ग में नवकारमन्त्र या लोगस्ससूत्र का ध्यान (स्मरण) क्यों किया जाता है?

समाधान– आगम सम्मति से कायोत्सर्ग करते समय अमुक-अमुक संख्या में श्वासोश्वास का ही अवलोकन करना चाहिए। कालक्रम के प्रभाव से जब श्वासोश्वास पर मन को केन्द्रित करना मुश्किल होने लगा तब उतने उच्छवासों की परिपूर्ति हेतु लोगस्ससूत्र एवं नवकारमन्त्र को स्थान दिया गया, क्योंकि लोगस्स का प्रत्येक पद एक श्वासोश्वास परिमाण जितना है। सुस्पष्ट है कि एक उच्छवास में जितना समय पूर्ण होता है उतना ही काल एक पद का स्मरण करने में लगता है। यदि 25 श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करना हो तो

'चंदेसु निम्मलयरा' तक पच्चीस पद होने से वहाँ तक स्मरण करना चाहिए। जिसे लोगस्ससूत्र मुखाग्र न हो उस व्यक्ति को लोगस्स के स्थान पर चार नवकार मन्त्र गिनना चाहिए, परन्तु यह अपवाद मार्ग है। एक नवकार की आठ संपदाएँ हैं। एक-एक संपदा एक-एक श्वासोश्वास परिमाण कही गई है अत: पच्चीस उच्छवासों के स्थान पर चार नवकार गिनने से बत्तीस श्वासोश्वास होते हैं इसी कारण इसे अपवाद मार्ग कहा है।

निष्कर्षत: जैन परम्परा में प्रतिक्रमण साधना का सर्वोपरि स्थान है। साधु एवं श्रावक दोनों के लिए ही इसका स्थान शरीर में हृदय के समान है। प्रतिक्रमण और आलोचना से रहित मुनि एवं गृहस्थ जिन धर्म के मर्म को आत्मस्थ कर ही नहीं सकते। इतनी महत्त्वपूर्ण क्रिया यदि मात्र देखा-देखी या कर्त्तव्य निर्वाह के रूप में की जाए तो वह कभी भी सम्पूर्ण सार्थक नहीं हो सकती। इसी पहलू को ध्यान में रखते हुए आम जनता के मन में उठती अनेकविध शंकाओं का निवारण करते हुए उनके मूलभूत प्रयोजनों एवं रहस्यों को यहाँ स्पष्ट किया है। इससे साधक वर्ग शंका एवं तर्क रहित होकर उत्तम भावों से कर्म निर्जरा हेतु अग्रसर हो सकेगा। साथ ही प्रतिक्रमण जैसी अपूर्व क्रिया का आत्मिक आनंद अनुभूत कर सकेगा।

●

अध्याय-6

प्रतिक्रमण क्रिया में अपेक्षित सावधानियाँ एवं आपवादिक विधियाँ

षडावश्यक साधना में प्रतिक्रमण यद्यपि मात्र चतुर्थ आवश्यक रूप है परंतु वर्तमान में यह षडावश्यक का यथार्थ बन चुका है। जैन श्रमण एवं गृहस्थ दोनों के लिए ही यह एक मुख्य दैनिक आचार है। जिस प्रकार School, Office या घर के दैनिक कार्य करते हुए अनेक प्रकार की सावधानियाँ रखी जाती है तथा तत्सम्बन्धी मर्यादाओं एवं नियमों का भी पालन किया जाता है। सर्दी हो या बरसात Time पर आवश्यक सामग्री के साथ हम वहाँ पहुँच जाते हैं वैसे ही षडावश्यक रूपी मोक्ष साधक क्रिया की आराधना भी पूर्ण जागरूकता एवं सावधानी के साथ की जा सके इसलिए प्रतिक्रमण सम्बन्धी नियमों को जानना परमावश्यक है।

प्रतिक्रमण विधि के आवश्यक नियम

1. सिनेमा, मेच या सरकस देखने के लिए जाना हो तो उसकी तैयारी कुछ दिनों या घंटों पूर्व हो जाती है जैसे कि टिकट खरीदना, देखने का उमंग होना, मित्रों में उसकी चर्चा करना आदि। प्रतिक्रमण एक महान योग है, कृत पापों के प्रायश्चित्त का मार्ग है इसलिए इसकी पूर्व तैयारी के रूप में मोह छेद के लिए, पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए, कर्मभार से मुक्त होने के लिए जा रहा हूँ ऐसा मनोभाव जागृत कर प्रतिक्रमण करना चाहिए।
2. सामायिक-प्रतिक्रमण समुदाय के साथ बैठकर किया जाता हो, तब अपने से बड़ों का यथोचित विनय और शिष्टता का पालन करना चाहिए।
3. सूत्र संहिता पूर्वक बोलना चाहिए और उस समय अर्थ का भी ध्यान रखना चाहिए।
4. जहाँ जैसी मुद्राएँ करने के लिए कहा गया हो वहाँ उस प्रकार की मुद्राएँ करना चाहिए।
5. प्रतिक्रमण विधि के हेतुओं को बराबर समझकर एवं उनके अनुसार लक्ष्य रखकर वर्तन करने का प्रयत्न करना चाहिए।

6. आन्तरिक उल्लास-पूर्वक किया गया प्रतिक्रमण कर्म के कठिन बन्धनों को शीघ्र तोड़ डालता है यह लक्ष्य में रखना चाहिए।
7. प्रतिक्रमण में लघु शंका के लिए जाना हो तो किसी को आड़ न पड़े उस तरह बाहर निकलना चाहिए। यदि अकाल का समय हो तो सिर पर गरम शाल ओढ़नी चाहिए तथा शंका दूर करने के पश्चात शाल को हल्के से टांग देनी चाहिए। वर्तमान में कुछ जन बिछाया आसन भी ओढ़ते हैं जो नियम विरुद्ध है, क्योंकि आसन पर तुरन्त बैठने से तमस्काय (आकाश में से बरसने वाले अपकाय के जीव) आदि जीवों की विराधना का दोष लगता है कारण कि अपने शरीर के स्पर्श से उन जीवों का हनन होता है। अत: सामायिक या पौषध आदि में ओछाया टालने हेतु ऊनी शाल का ही उपयोग करना चाहिए, जिससे पूरा शरीर ढका जा सके। खुली जगह हो तो पेशाब प्याले में करके मिट्टी में थोड़ा-थोड़ा करते हुए डालना चाहिए।
8. प्रतिक्रमण करते समय बिजली आदि का प्रकाश शरीर पर नहीं पड़े, ध्यान रखना चाहिए।
9. सामायिक लेने के पश्चात चरवला के बिना नहीं उठना चाहिए।
10. प्रतिक्रमण जप या ध्यान का प्रकार नहीं है, यह तो पाप विमोचन की एक अपूर्व और पवित्र क्रिया है। यह क्रिया प्रात: एवं सायंकाल दो बार की जाती है। सामान्यत: इस क्रिया का काल 40 से 60 मिनट का होता है परन्तु हर पन्द्रह दिन में एक दिन, हर चार महीने में एक दिन तथा बारह महीने में एक दिन– इस प्रकार वर्ष में अट्ठाईस दिन ऐसे होते हैं जब संध्याकाल की क्रिया काफी लम्बी होती है, जो दो से तीन घंटे तक चलती है। यह क्रिया उपाश्रय में अथवा घर में कहीं भी हो सकती है। इस क्रिया को मन्दिर या देरासर में नहीं किया जाता।
11. रात्रिक प्रतिक्रमण मंद स्वर में करना चाहिए, क्योंकि ऊँचे स्वर में बोलने से छिपकली आदि हिंसक जीव उठ जाए तो हिंसा करने में प्रवृत्त होते हैं। मिथ्यात्वी अथवा नास्तिक लोग पड़ोस में रहते हों तो वे पापाचरण में प्रवृत्ति करेंगे। इसलिए इन दोषों से बचने-बचाने के लिए मंद स्वर में प्रतिक्रमण करने का उपयोग रखना चाहिए।

12. प्रतिक्रमण एक व्यक्ति बोले तथा दूसरे उसके सूत्रों को लक्ष्य में रखकर सुनें अथवा मन में पढ़ें और चिंतन-मनन करें। ऐसा करने से अर्थ की चिंतना बराबर हो सकती है और उपयोग भी रह सकता है।
13. कायोत्सर्ग करते समय नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखनी चाहिए, यदि ऐसा न हो सके तो स्थापनाचार्य पर रखनी चाहिए।
14. प्रतिक्रमण करते समय दृष्टि स्थापनाचार्य पर रखनी चाहिए। दृष्टि को अस्थिर रखने से अथवा अन्यचित्त से प्रतिक्रमण करने पर अविधि दोष लगता है तथा कृत क्रिया निष्फल हो जाती है। इसलिए उपयोग पूर्वक प्रतिक्रमण करना चाहिए।
15. प्रतिक्रमण करते समय आवश्यकता के बिना आसन पर बैठना नहीं चाहिए। जहाँ तक बन पड़े वहाँ तक कायोत्सर्ग, वन्दन आदि सभी आवश्यक यतना पूर्वक खड़े-खड़े करने चाहिए। यदि शरीर में बेचैनी हो तो ही बैठे-बैठे करना चाहिए। प्रतिक्रमण की स्थापना के बाद छह आवश्यक क्रिया खड़े होकर की जाती है। केवल वंदित्तु सूत्र तथा छह आवश्यक से पहले और पीछे की जाने वाली क्रिया में नीचे बैठते हैं। खड़े होकर ध्यान करने वालों को चरवला दाएँ हाथ में और मुँहपत्ति बाएं हाथ में घुटने की तरफ झुकाकर रखनी चाहिए। दोनों पैरों के मध्य आगे के भाग में चार अंगुल का और पीछे की तरफ चार अंगुल से थोड़ा कम अन्तर रखना चाहिए।
16. कायोत्सर्ग में गिनती के लिए अंगुलियों के पौरवों का उपयोग नहीं करना चाहिए। इसके लिए हृदय में नौ खण्ड युक्त अष्टदल कमल की कल्पना करके उन पर संख्या की धारणा की जाती है। अधिक जानकारी के लिये चित्रों के साथ उनका वर्णन भी देख लेना चाहिए।
17. यदि मच्छर आदि का उपद्रव हो तो शरीर को बार-बार हिलाये नहीं, उसे सहन करना चाहिए। संवत्सरी प्रतिक्रमण के 40 लोगस्स के कायोत्सर्ग में छींक नहीं आनी चाहिए।
18. कायोत्सर्ग पूर्ण करने के बाद यदि दूसरे लोग काउस्सग्ग कर रहे हों तो समता पूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिए।
19. खमासमण आधा नहीं देना चाहिए। क्योंकि यह क्रिया पंचांग प्रणिपात पूर्वक होती है, इसमें शरीर के पाँचों अंग भूमि तक छूने चाहिए, इसलिये

मस्तक को अन्त तक झुकाना चाहिए। जिसके हाथ में चरवला हो उन्हें हर एक खमासमण खड़े होकर ही देना चाहिए जिससे क्रिया के प्रति आदर-बहुमान जागृत हो। इससे क्रिया का पूर्ण फल प्राप्त होता है। जो लोग बैठे-बैठे क्रिया करते हैं उन्हें अपना मस्तक पूरी तरह जमीन तक झुकाना चाहिए। अधिकतर लोग माथा नमाते ही नहीं है, कुछ आधा सिर झुकाते हैं तो कुछ आधा शरीर ही नमाकर रह जाते हैं, परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। विधि हमेशा पूरी होनी चाहिए।

20. शिष्य और श्रावक गुरु से साढ़े तीन हाथ दूर रहकर क्रिया करें तथा साध्वी और श्राविका मोह प्रसंग निवारण करने के लिये साधु अथवा श्रावक से तेरह हाथ दूर रहकर क्रिया करें। इसी प्रकार साध्वी से अन्य साध्वियों एवं श्राविकाओं को बहुमानार्थ साढ़े तीन हाथ तथा साध्वी से साधु एवं श्रावक को मोह प्रसंग निवारणार्थ तेरह हाथ दूर रहना चाहिए। यह उत्कृष्ट अवग्रह है।
21. शुद्धिपूर्वक की गई क्रिया अत्यन्त फलदायक होती है इसलिये सामायिक-प्रतिक्रमण करने वाले साधकों को शरीर, वस्त्र और उपकरण की शुद्धि का ध्यान रखना चाहिए।
22. सामायिक-प्रतिक्रमण के लिए कटासन बिछाने से पूर्व चरवले से भूमि का प्रमार्जन करना चाहिए।
23. साधु और श्रावक को प्रात: और सायं नियमित प्रतिक्रमण करना चाहिए। जो गृहस्थ व्रतधारी न हो उसको भी प्रतिक्रमण करना चाहिए,क्योंकि वह तृतीय वैद्य की औषधि के समान अत्यन्त हितकारी है। एक राजा के पास तीन वैद्य आये। उनमें पहले वैद्य के पास ऐसा रसायन था कि जिसके सेवन से व्याधि हो तो मिट जाए और नहीं हो तो नया रोग उत्पन्न कर दे। दूसरे वैद्य के पास ऐसी औषधि थी कि जिसके प्रयोग से व्याधि हो तो मिट जाए और न हो तो नया रोग उत्पन्न नहीं करे। तीसरे वैद्य के पास ऐसी औषधि थी कि जिससे व्याधि हो तो मिट जाए और न हो तो सर्व अंगों को परिपुष्टि कर भविष्य में होने वाले रोगों को भी ठीक कर दें। इसी तरह प्रतिक्रमण भी दोष लगें तो उनकी शुद्धि करता है और न लगें तो चारित्र धर्म का पोषण करता है।

प्रतिक्रमण का उत्कृष्ट और आपवादिक काल

• दैवसिक प्रतिक्रमण दिन के अन्तिम भाग में अर्थात सूर्यास्त के समय में करना चाहिए। इसका निश्चित काल बताते हुए प्रतिक्रमण हेतु गर्भ (पृ. 2) में शास्त्र वचन को उद्धृत कर कहा गया है कि

अद्ध निवुड्डे बिम्बे, सुत्तं कड्ढंति गीयत्था।
इअ वयण-पमाणेणं, देवसियावस्सए कालो।।

सूर्य बिम्ब का आधा भाग अस्त हो उस समय प्रतिक्रमण सूत्र बोलना चाहिए अर्थात अर्ध सूर्यास्त के समय वंदित्तुसूत्र आ जाए उस समय का ध्यान रखते हुए प्रतिक्रमण प्रारम्भ करना चाहिए। यह दैवसिक प्रतिक्रमण का उत्सर्ग काल है।

• श्राद्धविधि द्वितीय प्रकरण में भी ऐसा ही कहा गया है। पुष्टि के लिए मूल पाठ इस प्रकार है–

अपवादस्तु दैवसिकं दिवस तृतीय प्रहरादन्वर्द्धरात्रं यावत्।
योगशास्त्रवृत्तौ तु मध्याह्नादारभ्यार्द्धरात्रिं यावदित्युक्तम्।
रात्रिकमर्द्धरात्रादारभ्य मध्याह्नंयावत्।।

• भावदेवसूरिकृत यतिदिनचर्या (पृ. 65) में दैवसिक प्रतिक्रमण का प्रारम्भिक एवं समाप्ति काल दोनों का उल्लेख किया गया है। तदनुसार प्रतिक्रमण उस समय का ध्यान रखते हुए शुरू करना चाहिए कि जब वंदित्तु सूत्र बोल रहे हो तब सूर्य आधा डूबा हुआ और आधा प्रकट हो तथा प्रतिक्रमण पूर्ण होने पर आकाश में दो या तीन तारे दिखाई देते हों, ऐसे समय की तुलना करके दैवसिक प्रतिक्रमण करना चाहिए।

• अपवादत: दैवसिक प्रतिक्रमण दिन के तीसरे प्रहर से लेकर मध्य रात्रि होने से पूर्व तक हो सकता है। योगशास्त्रवृत्ति के अनुसार मध्याह्न से अर्धरात्रि पर्यन्त हो सकता है।

दैवसिक प्रतिक्रमण के समान रात्रिक प्रतिक्रमण भी उस समय शुरू करना चाहिए कि वंदित्तु सूत्र बोलने के वक्त सूर्योदय हो जाये। यह रात्रिक प्रतिक्रमण का उत्सर्ग काल है।

• अपवादत: आवश्यक चूर्णि के अनुसार रात्रिक प्रतिक्रमण मध्य रात्रि से उग्घाड़ा पौरुषी तक अर्थात दिन का प्रथम प्रहर पूर्ण होने तक तथा व्यवहारसूत्र के मतानुसार मध्याह्न तक कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में मूलपाठ यह है–

उग्घाडा पोरिसिं जा, राइअमावस्सयस्स चुन्नीए।
व्यवहाराभिप्पाया, भणंति जाव पुरिमड्ढं।।

(हेतुगर्भ पृ. 3)

स्पष्ट है कि आवश्यक चूर्णि के अभिप्राय से रात्रिक प्रतिक्रमण उग्घाड़ा पोरिसी अर्थात सूत्र पौरुषी पूर्ण हो वहाँ तक और व्यवहारसूत्र के अनुसार दिन के मध्याह्न तक किया जा सकता है।

• विधिमार्गप्रपा (पृ. 24) के अनुसार वर्तमान का जो महीना हो उससे तीसरे महीने के नाम का नक्षत्र जब मस्तक पर आये उस समय रात्रिक प्रतिक्रमण करना चाहिए। जैसे कि वर्तमान में श्रावण मास चल रहा हो तो उससे तीसरा महीना आश्विन (आसोज) आता है। इसका तात्पर्य है कि जब आकाश के मध्य अश्विनी नाम का नक्षत्र आये तब रात्रिक प्रतिक्रमण का समय जानना चाहिए। इसका मूल पाठ निम्न है–

जो वट्टमाण मासो, तस्स य मासस्स होइ जो तइओ।
तन्नामय नक्खत्ते, सीसत्थे गोस पडिकमणं।।

• पाक्षिक प्रतिक्रमण पक्ष के अन्त में चतुर्दशी के दिन किया जाता है। आगम युग में अमावस या पूनम को पक्खी प्रतिक्रमण होता था, जिस समय से संवत्सरी प्रतिक्रमण की तिथि पंचमी से चौथ हुई उस समय से पक्खी प्रतिक्रमण भी चतुर्दशी के दिन करते हैं। लेकिन स्थानकवासी, तेरापंथी, पायच्छंदगच्छ वाले आज भी पंचमी को संवत्सरी तथा पूर्णिमा-अमावस्या को पक्खी करते हैं।

प्रतिक्रमण योग्य स्थान

अपने नगर में गुरु महाराज का योग हो तो प्रतिक्रमण उनके साथ, अन्यथा पौषधशाला या अपने घर पर करना चाहिए। आवश्यकचूर्णि में कहा है कि "असइ-साहु-चेइयाणं पोसह सालाए वा सगिहे वा सामाइयं वा आवस्सयं वा करेई" अर्थात साधु और चैत्य का योग न हो तो श्रावक पौषधशाला में अथवा अपने घर पर सामायिक और आवश्यक (प्रतिक्रमण) करें।

चिरन्तनाचार्यकृत प्रतिक्रमण विधि की गाथा में भी यही कहा गया है कि

पंचविहायार विसुद्धि, हेउमिह साहु सावगो वा वि।
पडिक्कमणं सह गुरुणा, गुरु विरहे कुणइ इक्को वि।।

साधु और श्रावक पाँच आचार की विशुद्धि के लिए गुरु के साथ

प्रतिक्रमण करें और वैसा योग न हो तो अकेले भी करें। परन्तु उस समय गुरु की स्थापना अवश्य करें।

सत्रह प्रमार्जना

खमासमण देते एवं वंदन करते समय शरीर के 17 स्थानों की प्रमार्जना अवश्य करनी चाहिए। इसकी विधि इस प्रकार है–

3 -दाहिने पैर के कमर के नीचे के भाग से प्रारम्भ कर पीछे में एड़ी तक का पूरा भाग, पीछे की कमर का मध्य भाग तथा बाएँ पैर के कमर के नीचे से एड़ी तक का पूरा भाग–ऐसे तीन स्थान।

3-उपरोक्त प्रकार से दाहिने पाँव का अग्रिम भाग, मध्य भाग तथा बायें पाँव का अग्रिम भाग– ऐसे तीन स्थान।

3-नीचे बैठते समय तीन बार आगे के स्थान का प्रमार्जन करना।

2-दाहिने हाथ में मुँहपत्ति लेकर ललाट (मस्तक) के दाहिनी तरफ से प्रमार्जन करते हुए सम्पूर्ण ललाट, सम्पूर्ण बायां हाथ नीचे कोहनी तक, वहाँ से उसी प्रकार बायें हाथ में मुँहपत्ति लेकर बायीं तरफ से प्रमार्जन करते हुए सम्पूर्ण ललाट, सम्पूर्ण दाहिना हाथ नीचे कोहनी तक। फिर चरवले की डंडी को मुँहपत्ति से प्रमार्जन करना।

3-फिर तीन बार चरवले के गुच्छे का मुँहपत्ति से प्रमार्जन करना।

3-अवग्रह से बाहर निकलते समय तीन बार आसन का प्रमार्जन करना।

इस प्रकार 3+3+3+2+3+3=17 स्थानों पर प्रमार्जना की जाती है।

द्वादशावर्त्त वन्दन में अन्तर्निहित पच्चीस आवश्यक

1. **'इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए अणुजाणह'** इस पद से अवग्रह में प्रवेश के लिए आज्ञा मांग कर वहाँ मस्तक झुकाना– यह पहला आवश्यक।
2. इसी तरह दूसरी बार के वांदणा में मस्तक झुकाना, दूसरा आवश्यक।
3. **'खमणिज्जो भे किलामो'** यह पद बोलते हुए दोनों हाथों को मस्तक पर लगाना– तीसरा आवश्यक।

4-6. **'अहो कायं काय'** ये तीन पद बोलना– तीन आवश्यक।

7-9. दूसरी बार के वन्दन में भी यही तीन पद बोलने से– तीन आवश्यक।

इस सूत्र में **'अहो कायं काय'**और **जत्ताभे? जवणि ज्जं च भे?'** ये

शब्द विशिष्ट रीति से इस प्रकार बोले जाते हैं–

अ-आसन पर स्थापित रजोहरण, (चरवले) अथवा मुँहपत्ति को दोनों हाथों की दसों अंगुलियों से स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

हो-दसों अंगुलियों से ललाट को स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

का-चरवले आदि को स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

यं-ललाट को स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

का-चरवले आदि को स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

य-ललाट को स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

ज-अनुदात्त स्वर से बोला जाता है और उसी समय गुरुचरण की स्थापना को दोनों हाथों से स्पर्श किया जाता है।

त्ता-स्वरित स्वर से बोला जाता है और उस समय चरण स्थापना से उठाये हुए हाथ चरवले और ललाट के बीच में चौड़े करने में आते हैं।

भे-उदात्त स्वर से बोला जाता है और उस समय दृष्टि गुरु के समक्ष रख कर दोनों हाथ ललाट पर लगाये जाते हैं।

ज-अनुदात्तस्वर से चरणस्थापना को स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

व-स्वरित स्वर से मध्य में आते हुए हाथ चौड़े करके बोला जाता है।

णि-उदात्त स्वर से ललाट को स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

ज्जं-अनुदात्त स्वर से चरणस्थापना को स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

च-स्वरित स्वर से मध्य में आते हुए हाथ चौड़े करके बोला जाता है।

भे-उदात्त स्वर से ललाट को स्पर्श करते हुए बोला जाता है।

10-12. **'जत्ताभे जवणि ज्जं च भे'** ये तीन पद बोलना – तीन आवश्यक।

13-15. दूसरी बार के वन्दन में भी यही तीन पद बोलने से – तीन आवश्यक।

16-17. **'काय संफासं'** पद बोलकर करबद्ध हाथों को मुँहपत्ति पर स्थापित करते हुए उस पर मस्तक लगाना– यह एक आवश्यक। दूसरी बार के वांदणा में भी इसी तरह करने से– एक आवश्यक।

18-21. **'खामेमि खमासमणो'–** यह पद बोलते हुए पुनः मस्तक झुकाना ऐसे दो आवश्यक। इसी तरह दूसरी बार के वांदणा के दो मिलाने से– कुल चार आवश्यक।

22. **'आवस्सिआए'** यह पद कहते हुए अवग्रह से बाहर निकलना। दूसरी

बार बोलते समय 'आवस्सिआए' नहीं कहना, इसलिए एक आवश्यक। 23-25. वांदणा देते हुए मन-वचन-काया को स्थिर रखना– ये तीन आवश्यक।

इस प्रकार पच्चीस आवश्यक होते हैं। द्वादशावर्त्त वन्दन करते समय इनका ध्यान रखना चाहिए।

ईरियावहि सूत्र द्वारा 1824120 विकल्पों से मिच्छामि दुक्कडं कैसे?

इरियावहि प्रतिक्रमण के द्वारा अठारह लाख, चौबीस हजार, एक सौ बीस विकल्पों से मिच्छामि दुक्कडं दिया जाता है। उसकी गणना इस प्रकार है–

जीव के 563 भेदों को 'अभिहया से जीवियाओ ववरोविआ' तक दस पदों से गुणा करने पर 5630 भेद होते हैं। इनको राग और द्वेष दो से गुणा करने पर 11260 भेद होते हैं। इनको मन-वचन-काया से गुणा करने पर 33780 भेद होते हैं। इनका कृत, कारित और अनुमोदित से गुणा करने पर 101340 भेद होते हैं। इनको अतीत, अनागत और वर्तमान काल से गुणा करने पर 304020 भेद होते हैं। इनको अरिहंत, सिद्ध, साधु, देव, गुरु और आत्मा की साक्षी– इन छह से गुणा करने पर 1824120 भांगे होते हैं। इस प्रकार सब जीवों के साथ सर्व प्रकार से मिच्छामि दुक्कडं देने पर सच्ची क्षमायाचना होती है।

विचार सत्तरी प्रकरण की टीका में उपर्युक्त भांगों में जानते-अजानते इन दो पदों द्वारा गुणा करके 3648240 भांगे कहे गये हैं।

चौरासी लाख योनियों की गिनती– जीव के उत्पन्न होने का स्थान योनि कहलाता है। सब जीवों के मिलाकर चौरासी लाख उत्पत्ति स्थान हैं यद्यपि स्थान तो अनगिनत हैं परन्तु वर्ण-गंध-रस-स्पर्श द्वारा जितने स्थान समान हों वे सब मिलकर एक ही स्थान कहलाते हैं। इनकी गिनती इस प्रकार है–

पृथ्वीकाय के मूल भेद 350 हैं। इनको पाँच वर्णों से गुणा करने पर 1750 भेद होते हैं। इन्हें दो गंध से गुणा करने पर 3500 भेद होते हैं। इन भेदों का पाँच रस से गुणा करने पर 17500 भेद होते हैं। इन भेदों का आठ स्पर्श से गुणा करने पर 140000 भेद होते हैं। इसी तरह पाँच संस्थान से गुणा करने पर पृथ्वीकाय के 700000 (सात लाख) भेद होते हैं।

इसी प्रकार अप्काय के सात लाख, तेउकाय के सात लाख, वाउकाय के सात लाख, प्रत्येक वनस्पति के दस लाख, साधारण वनस्पति के चौदह लाख, बेइन्द्रिय-तेइन्द्रिय-चउरिन्द्रिय के दो-दो लाख, देवता-नारकी-तिर्यंच के चार-

चार लाख तथा मनुष्य के चौदह लाख भेद हैं।

इन सबकी गिनती करने पर 8400000 जीव योनियाँ होती है।

सूत्रोच्चार करते समय ध्यान में रखने योग्य बातें

• पंचांग प्रणिपात सूत्र में, **इच्छामि खमासमणो** बोलकर रुकना नहीं चाहिए, 'इच्छामि खमासमणो वंदिउं' इतना एक साथ बोलना चाहिए। इसमें भी **उं** पर अनुस्वार है इसलिए इसे स्पष्ट बोलने के लिए **उ** पर भार देना चाहिए।

• इरियावहियं सूत्र में **पणगदग...मट्टिमक्कडा...**इस तरह से न बोलकर, **पणग...दगमट्टी...मक्कडा संताणा...**इस तरह बोलना चाहिए, क्योंकि पणग अर्थात लीलन, फूलन आदि और दगमट्टी अर्थात गीली मिट्टी है।

• अन्नत्थ सूत्र का प्रथम शब्द अन्नत्थ है, अनत्थ नहीं। यहाँ न अक्षर दो हैं, एक नहीं। **अन्नत्थ – 'सिवाय'** ऐसा अर्थ होता है लेकिन **अनत्थ –** 'अनर्थ' ऐसा अर्थ अभिप्रेत नहीं है। सूत्रों में ऐसे संयुक्त अक्षरों के शुद्ध उच्चारण दो तरीके से हो सकते हैं। एक तो पूर्व के अक्षर को भार पूर्वक बोलने से पीछे का उच्चार संयुक्त अक्षर वाला हो जाता है। अथवा संयुक्ताक्षर के प्रथम व्यंजन को पूर्व के स्वर के साथ बोलें, फिर दूसरा व्यंजन बोलने से भी संयुक्ताक्षर का उच्चार हो जाता है। जैसे कि **अन्-नत्-थ**।

• इसी तरह **काउस्सग्गो-काउस्सग्गं** आदि शब्दों में **स** और **ग** दोनों संयुक्त अक्षर है। पच्चक्खामि आदि शब्दों में **च्च** और **क्ख** दोनों को संयुक्त अक्षर के रूप में बोलना चाहिए, इसका ख्याल रखें।

इसी प्रकार **नमुत्थुणं** में **सव्वनूणं** बोला जाए तो उसका अर्थ होता है– **सर्व से न्यून** अर्थात जो अयोग्य है, इसलिए ऐसे न बोलकर **सव्वन्नूणं** बोलना चाहिए यहाँ **व** और **न** दोनों को संयुक्ताक्षर के रूप में बोलना चाहिए। इसका अर्थ है– सर्वज्ञों को जो योग्य है।

• अन्नत्थसूत्र में **जाव अरिहंताणं** में जाव शब्द अरिहंत के साथ संकलित नहीं है, लेकिन आगे आने वाले ताव शब्द के साथ संकलित है। इसलिए **जाव...अरिहंताणं** इस प्रकार **जाव** बोलकर थोड़ा रूककर **अरिहंताणं** कहना चाहिए। उसी तरह आगे भी **तावकायं** न बोलकर **ताव** बोलकर थोड़ा रूकें फिर **कायं** बोलें।

• सूत्रों में जहाँ भी वंदे, वंदामि, णमो आदि शब्द आते हैं वहाँ शीश

झुकाना चाहिए। बोलने और सुनने वाले दोनों का इस विषय पर ध्यान जाए इसलिए पूर्व का शब्द बोलकर थोड़ा रुकते हुए **वंदे** आदि शब्द भार पूर्वक बोलने चाहिए।

• **'जंकिंचि नाम तित्थं'** इसमें नाम और तित्थं अलग-अलग बोलने चाहिए। यहाँ नाम का अर्थ है– वास्तव में।

• **नमुत्थु** और **णं** अलग-अलग बोलने चाहिए तथा उस समय जोड़े हुए दोनों हाथों को जमीन पर स्पर्श करके शीश झुकाना चाहिए।

• **धम्मसार-हीणं** ऐसे नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि इसका अर्थ होता है– भगवान धर्म के सार से रहित है। **धम्म-सारहीणं** (धम्म-सारही-णं) ऐसे बोलने से इसका अर्थ 'भगवान धर्म के सारथी हैं' ऐसा होता है।

• इसी तरह **पणासियासे सकुवाई** न बोलकर **पणासियासेस कुवाई** बोलना चाहिए। **कुंदिंदुगोक्खी रतुसारवन्ना** न बोलकर **कुंदिंदुगोक्खीर-तुसारवन्ना** बोलना चाहिए। इसी प्रकार **पुक्खरवरदी वड्ढे** न बोलकर **पुक्खरवर दीवड्ढे** बोलना चाहिए।

• **सारंवीरा...गमजलनिधिं** न बोलकर राग में गाते हुए भी **सारं... वीरागमजलनिधिं** बोलना चाहिए।

• वंदित्तु सूत्र में **जेण न निद्धंधसं** बोलना चाहिए, **जेणंन** साथ में नहीं बोलना चाहिए।

• अड्ढाइज्जेसु पाठ में **दिवस मुद्देसु** न बोलकर, **दीव समुद्देसु** बोलना चाहिए, क्योंकि यहाँ पर दिन सम्बन्धी बात न होकर द्वीप समुद्रों की बात है।

• इसी तरह अजितशांति में **दीव समुद्द... मंदर...** बोलना चाहिए। **दीवस...मुद्द...मंदर** नहीं।

• **जावंति चेइआइं** की तरह **जावंति केवि साहु** नहीं बोल सकते, क्योंकि इसलिए **जावंत केवि साहुं...** बोलना। इसमें **जावंत** पुल्लिंग शब्द है।

• वांदणा सूत्र में **मेमि उग्गहं...** न बोलकर **मे...मिउग्गहं** बोलना चाहिए। तथा **बहुसु...भेणभे** न बोलकर **बहुसुभेण...भे** बोला जाता है। इसमें बहुसुभेण – बहुत अच्छी तरह से, भे – आपका, दिवसो वइक्कंतो – दिन व्यतीत हुआ? ऐसा अर्थबोध होता है जबकि **आपका दिन बहुत अच्छी तरह से पसार हुआ?** ऐसा प्रश्न पूछा जाना चाहिए। इसलिए **दिवसो वइक्कंतो?** इन शब्दों को

प्रश्नात्मक टोन में बोलना चाहिए। इसी तरह **ज...त्ता...भे? ज...व...णिज्...जं...च... भे?** ये दोनों भी प्रश्न होने के कारण प्रश्नात्मक रूप में ही बोले जाने चाहिए।

- वंदित्तु सूत्र में **विरओमि विराहणाए** है **विरीओमि...** नहीं...
- **कल्लाणकंदं** सूत्र प्राकृत भाषा में है। इसमें **कल्याणकंदं** और **सिरि वर्धमानं** न बोलकर **कल्लाण कंदं** और **सिरि वद्धमाणं** बोलना चाहिए। इसकी दूसरी गाथा में **अपार** शब्द है, **अप्पार** संयुक्ताक्षर नहीं है। इसलिए **अ** भारपूर्वक न बोलकर धीरे से उच्चार करना चाहिए।
- जगचिन्तामणि सूत्र में **संपइ जिणवर वीस** यह बोलकर थोड़ा रूककर **मुणि बिहुं कोडिहिं...** बोलना चाहिए, वरना **वीस मुणि** इन दोनों शब्दों को एक साथ बोलने पर 20 साधुओं ऐसा अर्थ समझा जा सकता है।
- सकलतीर्थ स्तोत्र में **लांबा सो योजन...विस्तार पचास...ऊँचा बहोंतेर धार...** इस तरह बोलने से इसका सही अर्थ समझ में आता है। नहीं तो **लांबा सो योजन विस्तार... पचास ऊँचा बहोंतेर धार** बोलने पर– 'ये मन्दिर 50 योजन ऊँचे हैं' इस प्रकार अर्थ प्रतीति होने की सम्भावना रहती है, जो गलत है।
- श्री सीमंधर स्वामी के दोहे में **विषय-कषाय ना गंजिया** ऐसा बोलने का कोई अर्थ नहीं होता है। इसलिए **विषय कषायनागंजीया** ऐसे बोलना चाहिए। इससे नाग–हाथी अर्थात विषय कषायरूपी हाथी को जीतने वाले पंचानन सिंह जैसे मुनि... यह अर्थ बनता है।
- लघुशान्ति में **कुरु कुरु शान्तिं च कुरु कुरु सदेति** ऐसे बोलना चाहिए। **सदेति** के स्थान पर **सदेतिं** नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि उसका अर्थ सदा इतिं – सदा उपद्रव करो ऐसा होता है, जो अयोग्य है।
- बड़ी शान्ति में **स्त्रिलोकमहिता स्त्रिलोकपूज्या...** आदि नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि इसका अर्थ होता है कि भगवान स्त्रीलोक में पूज्य है आदि... इस तरह अर्थ का अनर्थ न हो इसलिए **स्** को पूर्व शब्द के साथ बोलना चाहिए। **सर्वदर्शिनस् त्रिलोकनाथास् त्रिलोक महितास्** बोलना चाहिए।
- शांति की उद्घोषणा के समय **श्री श्रमणसंघस्य शांतिरभवतु** में **र** साथ में बोलने से 'शांति न हो' ऐसा अनर्थ प्रतीत होता है। इसलिए योग्य तरीके से इसे बोलते समय **ति** पर भार देकर **र्** को इसके साथ जोड़कर बोलना

चाहिए... शांतिर् भवतु जिसका अर्थ है 'शांति हो।'

राईय मुँहपत्ति का प्रतिलेखन क्यों?

यदि साध्वी आचार्य आदि की निश्रारत हो अथवा साध्वीवर्ग में योगोद्वहन चल रहे हों अथवा गृहस्थ उपधान तप कर रहा हो, उन दिनों सुबह आचार्य अथवा गीतार्थ मुनि के समक्ष राईय मुँहपत्ति का प्रतिलेखन किया जाता है।

यह विधि गुरु से पृथक् प्रतिक्रमण करने पर उसको अधिकृत करने के उद्देश्य से करते हैं तथा साध्वियाँ एवं उपधानवाही बहिने रात्रिक प्रतिक्रमण आचार्य आदि गुरुजनों के साथ नहीं कर सकतीं, इसलिए उनके द्वारा रात्रि सम्बन्धी दोषों की आलोचना के रूप में भी यह विधि की जाती है। इसे छोटा प्रतिक्रमण भी कहते हैं।

इस विधि में सर्वप्रथम ईर्यापथ प्रतिक्रमण करते हैं, फिर रात्रि में लगे दोषों से मुक्त होने के लिए मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर दो बार द्वादशावर्त्त वन्दन करते हैं। फिर इच्छामि ठामि सूत्र बोलकर थोभ वन्दन करते हैं।

छींक दोष निवारण विधि

शुभ कार्यों में छींक को अमंगल का सूचक माना गया है। पर्व विशेष के दिन किया जाने वाला पाक्षिकादि प्रतिक्रमण आत्मशुद्धि की अपेक्षा अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इस आराधना को परम मंगलकारी कहा गया है इसलिए पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण में छींक नहीं करनी चाहिए।

विशेष रूप से 'पाक्षिक प्रवेश निमित्त की जाने वाली 'मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन से लेकर समाप्ति खामणा... आदि' कहें, वहाँ तक छींक नहीं करनी चाहिए। परम्परागत सामाचारी के अनुसार पाक्षिक प्रतिक्रमण में यदि अतिचार के पहले छींक आ जाये तो चैत्यवंदन से पुन: प्रतिक्रमण करना चाहिए और अतिचार के बाद छींक आये तो सज्झाय बोलने के पश्चात अथवा बड़ी शांति बोलने के पूर्व छींक का कायोत्सर्ग करना चाहिए।

जिस व्यक्ति को छींक आई हो उसे मंगल के लिए जिनालय में स्नात्रपूजा अथवा आयंबिल तप करना चाहिए, ऐसी पूर्वाचार्य अनुमत परिपाटी है।

खरतरगच्छ की परम्परानुसार कायोत्सर्ग विधि निम्न है–

- प्रतिक्रमण करने वाले सभी आराधक एक खमासमण देकर कहें–

'अपशकुन दुर्निमित्तादि ओहडावणत्थं करेमि काउस्सग्गं करूं? इच्छं।' पुनः अपशकुन दुर्निमित्तादि करेमि काउस्सग्गं पूर्वक अन्नत्थ सूत्र कहकर एक नवकार मन्त्र का कायोत्सर्ग करें, पूर्णकर प्रकट में एक नवकार बोलें।

- फिर एक खमासमण देकर पूर्ववत आदेश मांगते हुए दो नवकार का कायोत्सर्ग करें, पूर्णकर प्रकट में तीन नवकार मन्त्र कहें।
- तपागच्छ की परम्परानुसार ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। फिर एक खमासमण देकर कहें– क्षुद्रोपद्रव ओहडावणत्थं काउस्सग्गं करूँ? इच्छं। पुनः क्षुद्रोपद्रव ओहडावत्थं करेमि काउस्सग्गं पूर्वक अन्नत्थसूत्र बोलकर 'सागरवरगंभीरा' तक चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर गुरु या वरिष्ठ व्यक्ति 'नमोऽर्हत्' पूर्वक निम्न स्तुति कहें–

सर्वे यक्षाम्बिकाद्यो ये, वैयावृत्यकरा जिने।
क्षुद्रोपद्रव-संघातं, ते द्रुतं द्रावयन्तु नः।।

फिर 'नमो अरिहंताणं' पूर्वक कायोत्सर्ग पूर्ण करें। उसके बाद प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें।

प्रश्न– पक्खी प्रतिक्रमण में अतिचार तक छींक आ जाए तो पुनः शुरू से पूरा प्रतिक्रमण करना और उसके बाद छींक आए तो उसका कायोत्सर्ग मात्र ही किया जाता है ऐसा क्यों? देवसी-राई प्रतिक्रमण में देववंदन करते समय छींक आ जाये तो पुनः से देववन्दन करते हैं इसका कारण क्या है?

उत्तर– जिस तरह सामान्य दिनों में काले वस्त्र पहनने का निषेध नहीं होने पर भी दीक्षा, प्रतिष्ठा, महापूजन आदि मांगलिक अवसरों पर उन्हें धारण करने का निषेध किया गया है उसी तरह दैवसिक प्रतिक्रमण में छींक का निवारण न करने पर भी पक्खी वगैरह का प्रतिक्रमण महत्त्वपूर्ण होने से उनमें छींक को टाला जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि पाक्षिक आदि की आराधना एक विशिष्ट अनुष्ठान रूप है।

दूसरा, पक्खी प्रतिक्रमण में अतिचार पाठ और सव्वस्सवि पक्खिअं – ये दोनों प्रतिक्रमण के प्रधान पाठ माने जाते हैं इसलिए यहाँ तक छींक आने पर सम्पूर्ण क्रिया पुनः की जाती है। इसके बाद सज्झाय तक छींक आए तो दुबारा सम्पूर्ण विधि करने में जीव का सत्त्व नहीं होता, इसलिए कायोत्सर्ग का विधान किया गया है।

दैवसिक प्रतिक्रमण में अरिहंत परमात्मा एवं सम्यग्दृष्टि देवों की स्तुति करते समय छींक टालने की परम्परा है इसीलिए लघुशांति, बड़ी शांति, शान्ति कलश आदि में छींक का निषेध है। देववंदन में भी इसी कारण छींक टालने का रिवाज है।

इन सब नियमों में सम्प्रदायगत सामाचारी और आचरण ही प्रमाण है।

बिल्ली दोष निवारण विधि

जैन धर्म में शकुन शास्त्र की अपेक्षा लोक व्यवहार को भी स्थान दिया गया है। तदनुसार विशिष्ट धर्म क्रियाओं में बिल्ली की आड़ होना, उसका आगे से होकर निकलना या बार-बार इधर से उधर घूमना अपशकुनकारी माना जाता है। लौकिक जगत में इस सम्बन्धी अपशकुन की कई घटनाएँ सुनने मिलती है।

यहाँ प्रश्न होता है कि प्रतिक्रमण करते समय मुख्य रूप से बिल्ली की आड़ को ही दोष रूप में क्यों स्वीकारा गया है क्योंकि अन्य कई पशु-पक्षी भी अपशकुन रूप हैं? इसका तर्क संगत जवाब यह है कि अपशकुन रूप दूसरे पशु-पक्षी प्राय: आवाज करते हुए आते हैं अत: उनका निवारण आने से पूर्व भी कर सकते हैं लेकिन बिल्ली चुपचाप आती है।

इसलिए दैवसिक आदि पाँचों प्रतिक्रमण करते हुए स्थापनाचार्यजी और प्रतिक्रमण कर्त्ता के बीच में से बिल्ली निकल जाये तो किसी अनिष्ट या उपद्रव आदि की सम्भावना बन सकती है। उसका निवारण करने के लिए पूर्व परम्परागत सामाचारी के अनुसार छींक दोष निवारण विधि के समान क्रमश: एक नवकार, दो नवकार और तीन नवकार ऐसे तीन कायोत्सर्ग करें। तीसरा कायोत्सर्ग पूर्णकर तीन नवकार मन्त्र उच्चारण पूर्वक बोलें। उसके पश्चात निम्नलिखित गाथा को भी तीन बार बोलें और भूमि को बायें (डाबा) पग से तीन बार दबायें–

जा सा काली कब्बडी, अक्खहि कक्कडी यारी।
मंडल माहे संचरी, हय पडिहय मज्जारी।।

उक्त विधि करने से बिल्ली दोष समाप्त हो जाता है।

विधिमार्गप्रपा (पृ. 24) के अनुसार बिल्ली दोष का परिहार करने के लिए उपर्युक्त गाथा के चौथे पद को तीन बार बोलकर 'खुद्दोपद्दव ओहडावणियं' निमित्त चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करना चाहिए। फिर अन्त में 'श्री शान्तिनाथ भगवान को नमस्कार हो' ऐसी घोषणा करनी चाहिए।

सचित्त-अचित्त रज ओहडावणी कायोत्सर्ग विधि

आगमिक टीकाओं के अनुसार साधु-साध्वियों को प्रतिवर्ष चैत्र शुक्ला ग्यारस, बारस और तेरस, अथवा बारस, तेरस और चौदस अथवा तेरस, चौदस और पूनम ऐसे तीन दिन सचित्त-अचित्त वृष्टि रज के दोष को दूर करने निमित्त कायोत्सर्ग करना चाहिए। श्वेताम्बर की कुछ परम्पराओं में आज भी यह कायोत्सर्ग किया जाता है।

इस कायोत्सर्ग के पीछे मुख्य हेतु यह दिया गया है कि कदाचित एकादशी और द्वादशी के दिन से कायोत्सर्ग करना भूल जायें तो त्रयोदशी, चतुर्दशी और पूर्णिमा के दिन अवश्य करना चाहिए। यदि त्रयोदशी के दिन से भी कायोत्सर्ग करने में भूल हो जाये तो दूसरे वर्ष की चैत्री पूनम तक जब भी रजोवृष्टि हो उस दिन स्वाध्याय नहीं किया जा सकता। स्पष्ट है कि आगामी एक वर्ष पर्यन्त रजोवृष्टि का अस्वाध्याय रहता है। विशेषं तु ज्ञानी गम्यम्।

यह कायोत्सर्ग प्रतिक्रमण के पश्चात किया जाता है इसलिए इसे प्रतिक्रमण-विधि के अन्तर्गत कहा गया है। दैवसिक प्रतिक्रमण हो जाने के बाद एक खमासमण देकर कहें– **'इच्छा. संदि. भगवन्! सचित्त अचित्तरज ओहडावणत्थं काउस्सग्ग करूं? इच्छं,'** कहकर पुन: **सचित्त अचित्त रज ओहडावणत्थं करेमि काउस्सग्गं पूर्वक, अन्नत्थसूत्र** बोलकर चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करें। पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र कहें।

यहाँ कहा जा सकता है कि षडावश्यक जो कि वर्तमान में प्रतिक्रमण के नाम से पहचाना जाता है जैन साधना की एक प्रमुख क्रिया है। इसीलिए जैनागमों में इसे आवश्यक की उपमा दी गई है। व्यवहार जगत में भी आवश्यक चर्या का सम्यक रूप से संपादन होना जरूरी माना जाता है। वरना सामान्य प्रतीत होने वाली रोजमर्रा की क्रियाएँ पूरे जीवन को अस्त-व्यस्त कर देती हैं। ऐसे ही प्रतिक्रमण यद्यपि एक दैनिक क्रिया है परंतु इसमें अपेक्षित सावधानियों के प्रति थोड़ी सी लापरवाही सम्पूर्ण आध्यात्मिक प्रगति पर Break लगा देती है। अत: मोक्ष पथ पर आरूढ़ भव्य जीवों की निराबाध गति के लिए प्रतिक्रमण की आपवादिक विधियों एवं अपेक्षित सावधानियों को दिग्दर्शित करते हुए साधकों का मार्ग प्रशस्त किया गया है।

●

अध्याय-7

उपसंहार

जिन शासन में प्रतिक्रमण आत्म विशुद्धि का अद्‌भुत योग है। प्रतिक्रमण करते हुए अगणित आत्माओं ने केवलज्ञान प्राप्त किया है। विविध कार्य परम्पराओं में कोई भक्ति योग को, तो कोई कर्मयोग को, कोई ज्ञान योग को, तो कोई ध्यानयोग को, तो कोई क्रियायोग को प्रमुखता देते हैं और दूसरों को उस योग में प्रवृत्त करने का प्रयास करते हैं। परन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आत्मशुद्धि जैसा महान कोई योग नहीं है तथा भूत और भावी पापों का प्रतिक्रमण किये बिना आत्मशुद्धि संभव नहीं है इसलिए प्रतिक्रमण को श्रेष्ठ योग माना गया है। मलिन वस्त्र पर अंकित की गई श्रेष्ठ कारीगरी भी शोभा नहीं देती है, डिजाईन से पहले वस्त्र को मल रहित करना जरूरी है, इसी भाँति आत्मा को भी प्रतिक्रमण से स्वच्छ करना चाहिए। इसीलिए जैन धर्म में प्रातः और सन्ध्या दोनों समय प्रतिक्रमण करने का तथा वर्ष भर में पाँच प्रकार के प्रतिक्रमण करने का उपदेश है।

प्रतिक्रमण का पहला चरण आत्म निरीक्षण है। जो आत्म-निरीक्षण करना नहीं जानता, वह आध्यात्मिक तो क्या, शायद धार्मिक भी नहीं हो सकता। धार्मिक होने का सबसे बड़ा सूत्र है अपने आपको देखना। हम प्रायः दूसरों को ही देखने, जानने एवं समझने का प्रयास करते हैं। अनादिकालीन कुसंस्कारों के प्रभाव से हमारी रुचि पर पदार्थों में अधिक है। व्यावहारिक स्तर पर जीते हुए स्वयं की बुराईयों का आरोपण भी दूसरों पर ही करते हैं। जहाँ तक हो अपनी भूल का दोषी अन्यों को ठहराते हैं जैसे किसी ने झगड़ा किया, गाली दी। उससे पूछा जाए कि ऐसा क्यों किया? वह यही कहेगा कि मैं क्या करूँ? उसने मुझे गाली दी तो मैंने भी दी। वह अपनी गलती कभी भी स्वीकार नहीं करेगा। सदा यही कहेगा कि पहले उसने दी इसलिए मैंने भी दी। व्यक्ति हर बात में, उसमें भी गलत बात में तो दूसरों को ही दोषी मानता-समझता है। यह सब आत्म निरीक्षण के अभाव में होता है। आत्म निरीक्षण की भावना जग जाए तो फिर स्वयं की भूलों को देखने में देर नहीं लगेगी।

जो स्वयं की भूलों को देखता है वही आध्यात्मिक है। जहाँ दूसरा आता है, अध्यात्मवाद समाप्त हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति ऐसा कहे कि दूसरे ने मेरे साथ ऐसा किया इसलिए हम भी वैसा कर रहे हैं तो मानना चाहिए कि वह धार्मिक बना ही नहीं है। वह तो केवल धर्म क्रियाओं का दिखावा मात्र कर रहा है। वस्तुत: उसकी अन्तश्चेतना में धर्मबीज का वपन नहीं हुआ है। प्रतिक्रमण अपने आपको देखने का संदेश देता है।

एक बार आत्म अवलोकन करना प्रारम्भ कर दें तो जीवन में एक अपूर्व परिवर्तन की अनुभूति होने के साथ-साथ जीवनगत बहुत सारी समस्याएँ सुलझनी शुरू हो जायेगी। इस प्रकार आधुनिक जीवन की सभी समस्याओं का समाधान प्रतिक्रमण आवश्यक में समाहित है।

हम देखते हैं कि लौकिक जगत में वही व्यापारी कुशल कहलाता है, जो प्रतिदिन सायंकाल देखता है कि आज के दिन मैंने कितना लाभ प्राप्त किया है? जिस व्यापारी को अपनी आमदनी का ज्ञान नहीं है, वह सफल व्यापारी नहीं हो सकता। उसी तरह जो साधक प्रतिदिन का अपना लेखा-जोखा करता है, अपने कर्त्तव्यों का स्मरण करता है तथा सत्-असत् प्रवृत्ति का निरीक्षण करता है वही साधना के क्षेत्र में सफल हो सकता है।

भगवान महावीर ने आत्म निरीक्षण की सुन्दर विधि प्रतिपादित की है। प्रत्येक व्यक्ति यह अनुशीलन करें– **किं मे कडं–** आज मैंने क्या किया है? **किं च मे किच्चसेसं–** मेरे लिए क्या कार्य करना शेष है? **किं सक्किणिज्जं न समायरामि–** वह कौनसा कार्य है जिसे मैं कर सकता हूँ, पर प्रमादवश नहीं कर रहा हूँ? **किं मे परो पासइ किं व अप्पा–** क्या मेरे प्रमाद को कोई दूसरा देखता है अथवा मैं अपनी भूल को स्वयं देख लेता हूँ?

किं वा हं खलियं न विवज्जयामि– वह कौन सी स्खलना है, जिसे मैं छोड़ नहीं रहा हूँ?

यह आत्म निरीक्षण का एक प्रारूप है। जो व्यक्ति इसके अनुसार आत्म निरीक्षण करता है वह सचमुच प्रतिक्रमण की दहलीज पर पाँव रख देता है। इस वर्णन से समझना होगा कि प्रतिक्रमण आवश्यक में प्रवेश करने से पूर्व या इस आवश्यक क्रिया को सार्थकता प्रदान करने के लिए आत्मनिरीक्षण करना या उसका अभ्यास करना परमावश्यक है।

प्रतिक्रमण करने का मूल लक्ष्य है– दुष्कृत को मिथ्या करना, पाप का

प्रायश्चित्त करना। इसीलिए प्रतिक्रमण में 'मिच्छामि दुक्कडं' अर्थात मिथ्या में दुष्कृतं– मेरा दुष्कृत समाप्त हो यह कथन किया जाता है।[1]

इस विवेचना के क्रम में यह निश्चित रूप से उल्लेखनीय है कि प्रतिक्रमण के मुख्य तीन अंग हैं– 1. प्रतिक्रामक-प्रमाद आदि के द्वारा लगे हुए दोषों से निवृत्त होने वाला अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव विषयक अतिचारों से निवृत्त होने वाला साधक, प्रतिक्रामक कहलाता है। 2. प्रतिक्रमण– महाव्रत आदि में लगे हुए अतिचारों की निवृत्ति हेतु तत्पर होकर अतिचार विशुद्धि के लिए तीनों योगों से अपने गुरु के समक्ष या स्वयं की आत्मा के समक्ष प्रत्यर्पण करना, अथवा जिस परिणाम से मूलगुण आदि में लगे अतिचारों से निवृत्त होकर शुभ योग में प्रवृत्ति होती है, वह परिणाम प्रतिक्रमण है। 3. प्रतिक्रमितव्य– मिथ्यात्व, असंयम (हिंसा आदि), कषाय (क्रोधादि), और अप्रशस्त योग अथवा भाव, गृह आदि क्षेत्र, दिवस, मुहूर्त्त आदि दोषजनक काल तथा पापास्रव के कारण भूत सचित्त आदि द्रव्य प्रतिक्रमितव्य अर्थात प्रतिक्रमण करने योग्य हैं। अधिक स्पष्ट कहें तो किए हुए दोषों को दूर करने वाला यानी प्रतिक्रमण करने वाला प्रतिक्रामक, जिन परिणामों से व्रतों में हुए अतिचारों का प्रक्षालन करके पुनः पूर्व व्रत की शुद्धि में लौटना प्रतिक्रमण तथा जिन द्रव्यों, क्षेत्रों और कालों से पाप का आगमन होता है वे द्रव्य-क्षेत्र आदि प्रतिक्रमितव्य– त्यागने योग्य कहलाते हैं।[2]

इस प्रकार प्रतिक्रमण स्व-निरीक्षण एवं आत्म विशुद्धिकरण की अभूतपूर्व क्रिया है। इसके द्वारा एक तरफ साधक आध्यात्मिक उत्कर्ष को प्राप्त करता है वहीं दूसरी ओर बौद्धिक एवं मानसिक एकाग्रता बढ़ने तथा स्वयं में स्थिर होने के कारण व्यवहारिक क्षेत्र में भी प्रगति करता है। साधक का शुद्ध आचार एवं विचारयुक्त जीवन इहलोक में उसे आदर्श एवं अनुकरणीय बनाता है वहीं परलोक में भी उच्च स्थान को प्राप्त करवाता है। इसीलिए प्रतिक्रमण एक नितांत आवश्यक एवं आराध्य क्रिया है, जिसकी साधना अप्रमत्त होकर सभी को करनी चाहिए।

सन्दर्भ-सूची

1. *जिनवाणी, पृ. 49-50*
2. *पडिकमओ पडिकमणं, पडिकमिदव्वं च होदि णादव्वं।*
   एदेसिं पत्तेयं परूवणा, होदि तिण्हंपि ।।
   मूलाचार, 7/616-18 की टीका

●

सहायक ग्रन्थ सूची

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
1.	अनुयोगद्वारसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1987
2.	अनुयोगद्वार चूर्णि		श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वे. संस्था, रतलाम	
3.	आचारदिनकर (भा.2)	आचार्य वर्धमानसूरि	निर्णयसागर प्रेस, कोलभाट लेन, मुम्बई	1922
4.	आचारसार	वीरनन्दि सैद्धान्तिक चक्रवती	माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	वि.सं. 1974
5.	आवश्यकसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1994
6.	आवश्यक चूर्णि (भा.2)	जिनदासगणि महत्तर	श्री ऋषभदेव केसरीमल श्वे. संस्था, रतलाम	1929
7.	आवश्यक निर्युक्ति (भा.1-2)		भेरूलाल कनैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुम्बई	वि.सं. 2038
8.	आवश्यक मलयगिरि टीका	आचार्य मलयगिरि	आगमोदय समिति, मुंबई	1928
9.	आवश्यक हारिभद्रीय टीका	आचार्य हरिभद्रसूरि	भेरूलाल कनैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट,मुंबई	वि.सं. 2038
10.	आवश्यकीय विधि संग्रह	संयो.मुनि बुद्धिसागरजी	जैन प्रेस, कोटा	वि.सं 1993
11.	उत्तराध्ययनसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1990

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
12.	उपदेशमाला भाषांतर	रचित धर्मदास गणि	उमेदचन्द्र रायचन्द्र पांजरापोल, अहमदाबाद	1923
13.	उदान	अनु. जगदीश काश्यप	महाबोधिसभा, सारनाथ	
14.	ओघनिर्युक्ति		आगमोदय समिति, बम्बई	1919
15.	कल्याणमंदिर स्तोत्र		पुण्य सुवर्ण ज्ञानपीठ, जयपुर	1985
16.	कर पडिक्कमणुं भावशुं	आ. अभयशेखरसूरि	भुवने धर्मजयकर प्रकाशन गोपीपुरा, सूरत	वि.सं. 2058
17.	गोम्मटसार (जीवकाण्ड भा.1-2)	अनु. डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली	1997
18.	जिनवाणी, प्रतिक्रमण विशेषांक	संपा. डॉ धर्मचन्द्र जैन	सम्यक्ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर	2006
19.	जैन,बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (भा. 1-2)	डॉ. सागरमल जैन	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	1982
20.	तत्त्वार्थसूत्र	पं. सुखलाल संघवी	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी	1976
21.	तत्त्वार्थसूत्र	श्रुतसागरीय वृत्ति	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	1932
22.	तत्त्वार्थ राजवार्तिक (भा. 1-2)	संपा.महेन्द्र कुमार जैन	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	1993
23.	तिलकाचार्य सामाचारी	रचित तिलकाचार्य	डाह्याभाई मोकमचन्द पांजरापोल, अहमदाबाद	वि.सं. 1990

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
24.	दशवैकालिकसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1985
25.	दशवैकालिक चूर्णि	अगस्त्यसिंह स्थविर	प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद	1973
26.	दर्शन और चिंतन (खं. 2)	पं. सुखलाल संघवी	सुखलाल सम्मान समिति, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद	1957
27.	धर्मसंग्रह (अधिकार 1- 3)	मुनि मानविजय, संपा. मुनिचन्द्र विजय	श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट भूलेश्वर, मुंबई	1984
28.	धवला	वीरसेनाचार्य	जैन साहित्योद्धारक फंड अमरावती	1939 -58
29.	नियमसार	टीका. पद्मप्रभमलधारी देव	पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	1984
30.	पार्श्वचन्द्र गच्छीय पंच प्रतिक्रमण सूत्र (विधि सहित)		पार्श्वचन्द्र गच्छ जैन संघ, मुम्बई	1992
31.	प्रतिक्रमणविधि संग्रह	संपा. कल्याणविजय गणि	श्री मांडवला जैन संघ, मांडवला	1973
32.	प्रतिक्रमण महायोग	ले. भुवनभानुसूरि	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, धोलका	वि.सं. 2060
33.	प्रवचनसार(तात्त्विकवृत्ति)	जयसेनाचार्य	परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई	वि.सं. 1969
34.	प्रवचनसारोद्धार(भा.1-2)	अनु. साध्वी हेमप्रभाश्री	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	2000

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
35.	प्रवचनसारोद्धार टीका (भा.1-2)	टीका. सिद्धसेनसूरि	भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति, पिंडवाडा	1979
36.	प्रशमरतिप्रकरण	आचार्य उमास्वाति	परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास	वी.सं. 2514
37.	पंचवस्तुक (भा.1-2)	अनु.राजशेखरसूरि	अरिहंत आराधक ट्रस्ट भिवंडी, मुम्बई	वि.सं. 2060
38.	पंचप्रतिक्रमणसूत्र (खरतरगच्छ)	संयो. मणिप्रभसागरजी	कान्ति प्रकाशन, बाड़मेर	वि.सं. 2047
39.	पंचप्रतिक्रमणसूत्र सार्थ	मुनि प्रभाकरसागरजी	आनन्द ज्ञानमंदिर, सैलाना	1970
40.	पंचप्रतिक्रमणसूत्र	संपा.मुनिप्रधान विजयजी	बीकानेर श्री संघ	वि.सं. 1988
41.	पंचाध्यायी	कवि राजमल्ल	वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी	वी.सं. 2476
42.	बोधिचर्यावतार	शान्तिदेव सं. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री	बौद्ध भारती, वाराणसी,	वि.सं. 2057
43.	भगवती आराधना (विजयोदया टीका)	आचार्य अपराजित सूरि	जैन संस्कृति संरक्षक, सोलापुर	1978
44.	मन्नागपुरीय बृहत्तपागच्छीय श्री देवसी-राई प्रतिक्रमण सूत्र		श्री पार्श्वचन्द्रगच्छ जैन संघ, मुंबई	1979
45.	महावग्गपालि	संशो. भिक्खु जगदीसकस्सपो	पाली पब्लिकेशन बोर्ड	1956

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
46.	मूलाचार (भा. 1-2)	टीका. ज्ञानमती माताजी	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	वि.सं. 1992
47.	मंगलं जिनशासनम्	मित्रानन्दसूरि संपा.भव्यदर्शन विजय	श्री पद्मविजयजी गणिवर जैन ग्रन्थमाला ट्रस्ट, अहमदाबाद	वि.सं. 2053
48.	यतिदिनचर्या	संकलित-भावदेवसूरि संपा.श्री विजयजिनेन्द्र-सूरी	श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखाबावल	1997
49.	योगशास्त्र-स्वोपज्ञवृत्ति	रचित हेमचन्द्राचार्य संपा.मुनि जम्बूविजयजी	जैन साहित्य विकास मंडल, मुम्बई	1981
50.	योगसार प्राभृत	संपा. जुगलकिशोर मुख्तार	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	1999
51.	वसुनन्दि श्रावकाचार	आचार्य वसुनन्दी	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	1952
52.	विधिमार्गप्रपा	आचार्य जिनप्रभसूरि	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	2000
53.	विधिमार्गप्रपा(सानुवाद)	अनु.साध्वी सौम्यगुणाश्री	महावीरस्वामी देरासर पायधुनी, बम्बई	2004
54.	विशेषावश्यकभाष्य		दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद	वी.सं. 2489
55.	विधिपक्षगच्छीय (पंचप्रतिक्रमण सूत्र)	संपा.गुणोदयसागरसूरि	श्री अखिल भारत अचलगच्छ श्वे. जैन संघ, अहमदाबाद	वि.सं. 1969
56.	श्रमण प्रतिक्रमण	संपा. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1997
57.	श्रमण आवश्यकसूत्र	संपा. पार्श्व मेहता	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर	1986

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
58.	श्रावक सामायिक प्रतिक्रमण सूत्र	संपा.पार्श्वकुमार मेहता	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर	2002
59.	श्राद्धजीतकल्प		श्री दिव्यदर्शन ट्रस्ट, धोलका	वि.सं. 2063
60.	श्री प्रतिक्रमण सूत्र	संपा. ज्ञानचन्द चौपड़ा	लाखन कोटडी, नोलखा गली, अजमेर	वि.सं. 2037
61.	समयसार	संपा.पं. पन्नालाल जैन	श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, आगास	1982
62.	सचित्र श्रावक प्रतिक्रमण	गणाधिपति तुलसी	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1997
63.	सर्वार्थसिद्धि	श्री पूज्यपाद	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	1955
64.	साधुविधिप्रकाश	उपा. क्षमाकल्याण जी	आगमोदय समिति, सूरत	1916
65.	सुबोधा सामाचारी	श्री चन्द्राचार्य	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, मुम्बई	1924
66.	सूत्रोनां रहस्यो (भा. 2)	मुनि मेघदर्शनविजय	अखिल भारतीय संस्कृति रक्षक दल, अहमदाबाद	
67.	सौधर्म बृहत्तपागच्छीय प्रतिक्रमणादि (स्वाध्याय समुच्चय)	संपा. जयंतसेनसूरि	राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद	वि.सं. 2056
68.	स्थानांगसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1992
69.	हुम्बुज श्रमण भक्ति संग्रह (प्र.खं.)	संपा. कुन्थुसागरजी	श्री दिगम्बर जैन दिव्य ध्वनि प्रकाशन, जयपुर	वी.सं. 2521
70.	ज्ञानसार	उपा. यशोविजय, विवेचन. मुनि भद्रगुप्त विजय	श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, मेहसाना	वि.सं. 2042

सज्जनमणि ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित साहित्य का संक्षिप्त सूची पत्र

क्र.	नाम	ले./संपा./अनु.	मूल्य
1.	सज्जन जिन वन्दन विधि	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
2.	सज्जन सद्ज्ञान प्रवेशिका	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
3.	सज्जन पूजामृत (पूजा संग्रह)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
4.	सज्जन वंदनामृत (नवपद आराधना विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
5.	सज्जन अर्चनामृत (बीसस्थानक तप विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
6.	सज्जन आराधनामृत (नव्वाणु यात्रा विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
7.	सज्जन ज्ञान विधि	साध्वी प्रियदर्शनाश्री	सदुपयोग
		साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
8.	पंच प्रतिक्रमण सूत्र	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
9.	तप से सज्जन बने विचक्षण	साध्वी मणिप्रभाश्री	सदुपयोग
	(चातुर्मासिक पर्व एवं तप आराधना विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
10.	मणिमंथन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
11.	सज्जन सद्ज्ञान सुधा	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
12.	चौबीस तीर्थंकर चरित्र (अप्राप्य)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
13.	सज्जन गीत गुंजन (अप्राप्य)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
14.	दर्पण विशेषांक	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
15.	विधिमार्गप्रपा (सानुवाद)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
16.	जैन विधि-विधानों के तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन का शोध प्रबन्ध सार	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
17.	जैन विधि विधान सम्बन्धी साहित्य का बृहद् इतिहास	साध्वी सौम्यगुणाश्री	200.00
18.	जैन गृहस्थ के सोलह संस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
19.	जैन गृहस्थ के व्रतारोपण सम्बन्धी संस्कारों का प्रासंगिक अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
20.	जैन मुनि के व्रतारोपण सम्बन्धी विधि-विधानों की त्रैकालिक उपयोगिता, नव्ययुग के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
21.	जैन मुनि की आचार संहिता का सर्वाङ्गीण अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00

22.	जैन मुनि की आहार संहिता का समीक्षात्मक अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
23.	पदारोहण सम्बन्धी विधियों की मौलिकता, आधुनिक परिप्रेक्ष्य में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
24.	आगम अध्ययन की मौलिक विधि का शास्त्रीय अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
25.	तप साधना विधि का प्रासंगिक अनुशीलन, आगमों से अब तक	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
26.	प्रायश्चित्त विधि का शास्त्रीय पर्यवेक्षण व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
27.	षडावश्यक की उपादेयता, भौतिक एवं आध्यात्मिक संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
28.	प्रतिक्रमण, एक रहस्यमयी योग साधना	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
29.	पूजा विधि के रहस्यों की मूल्यवत्ता, मनोविज्ञान एवं अध्यात्म के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
30.	प्रतिष्ठा विधि का मौलिक विवेचन आधुनिक संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	200.00
31.	मुद्रा योग एक अनुसंधान संस्कृति के आलोक में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
32.	नाट्य मुद्राओं का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
33.	जैन मुद्रा योग की वैज्ञानिक एवं आधुनिक समीक्षा	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
34.	हिन्दू मुद्राओं की उपयोगिता, चिकित्सा एवं साधना के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
35.	बौद्ध परम्परा में प्रचलित मुद्राओं का रहस्यात्मक परिशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
36.	यौगिक मुद्राएँ, मानसिक शान्ति का एक सफल प्रयोग	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
37.	आधुनिक चिकित्सा में मुद्रा प्रयोग क्यों, कब और कैसे?	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
38.	सज्जन तप प्रवेशिका	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
39.	शंका नवि चित्त धरिए	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00

विधि संशोधिका का अणु परिचय



डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी (D.Lit.)

नाम	:	नारंगी उर्फ निशा
माता-पिता	:	विमलादेवी केसरीचंद छाजेड
जन्म	:	श्रावण वदि अष्टमी, सन् 1971 गढ़ सिवाना
दीक्षा	:	वैशाख सुदी छट्ठ, सन् 1983, गढ़ सिवाना
दीक्षा नाम	:	सौम्यगुणा श्री
दीक्षा गुरु	:	प्रवर्त्तिनी महोदया प. पू. सज्जनमणि श्रीजी म. सा.
शिक्षा गुरु	:	संघरत्ना प. पू. शशिप्रभा श्रीजी म. सा.
अध्ययन	:	जैन दर्शन में आचार्य, विधिमार्गप्रपा ग्रन्थ पर Ph.D. कल्पसूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, नंदीसूत्र आदि आगम कंठस्थ, हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, राजस्थानी भाषाओं का सम्यक् ज्ञान।
रचित, अनुवादित एवं सम्पादित साहित्य	:	तीर्थंकर चरित्र, सद्ज्ञानसुधा, मणिमंथन, अनुवाद-विधिमार्गप्रपा, पर्युषण प्रवचन, तत्वज्ञान प्रवेशिका, सज्जन गीत गुंजन (भाग : १-२)
विचरण	:	राजस्थान, गुजरात, बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, थलीप्रदेश, आंध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, महाराष्ट्र, मालवा, मेवाड़।
विशिष्टता	:	सौम्य स्वभावी, मितभाषी, कोकिल कंठी, सरस्वती की कृपापात्री, स्वाध्याय निमग्ना, गुरु निश्रारत।
तपाराधना	:	श्रेणीतप, मासक्षमण, चत्तारि अट्ठ दस दोय, ग्यारह, अट्ठाई बीसस्थानक, नवपद ओली, वर्धमान ओली, पखवासा, डेढ़ मासी, दो मासी आदि अनेक तप।

सज्जन अनुभूति की प्रखर मणियाँ

- प्रतिक्रमण किसे कहते हैं ?
- प्रतिक्रमण एक आवश्यक या छह आवश्यक का समूह ?
- भूलों का संशोधन प्रतिक्रमण द्वारा कैसे संभव ?
- प्रतिक्रमण को आवश्यक क्यों कहा गया ?
- षडावश्यक को प्रतिक्रमण संज्ञा क्यों दी गई ?
- कौन सा सूत्र कितना प्राचीन ?
- विविध जैन परम्पराओं की प्रतिक्रमण विधि में साम्य-वैषम्य क्यों ?
- पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण की विधियाँ अधिक क्यों ?
- प्रतिक्रमण सामायिक पूर्वक ही क्यों करना चाहिए ?
- शुद्ध प्रतिक्रमण आराधना के आवश्यक चरण ?
- कैसे करें प्रतिक्रमण सम्बन्धी दोषों का निवारण ?
- अपराधों की बढ़ती संख्या को प्रतिक्रमण द्वारा न्यून कैसे कर सकते हैं ?

SAJJANMANI GRANTHMALA
Website : www.jainsajjanmani.com,E-mail : vidhiprabha@gmail.com
ISBN 978-81-910801-6-2 (XII)